तीर्थंकर पार्श्वनाथ

(ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में)

प्राच्य श्रमण भारती

मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

(ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में)

संपादक :

डॉ. अशोक कुमार जैन, रुड़की
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
डॉ. सुरेश चन्द जैन, वाराणसी

प्रकाशक :

प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
वाराणसी

वी॰नि॰सं॰ – 2526 सन् 1999

परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञान सागर जी महाराज के ग्यारहवें दीक्षा दिवस के उपलक्ष्य में

© प्रकाशक

पुण्यार्जन : वीरेन्द्रकुमार जैन
C/o जैनसाडी हाउस, शाहादरा, दिल्ली

प्रथम संस्करण-1999

मूल्य : 125 रु. मात्र

इस पुस्तक की बिक्री से जो भी राशि प्राप्त होगी उस राशि से पुन: प्रकाशन होगा।

प्राप्ति स्थान :
प्राच्य श्रमण भारती
12/ए, निकट जैन मन्दिर
प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर, उ.प्र. फोन (0131) 450228, 408901

मुद्रक :
दीप प्रिंटर्स
ए-8, मायापुरी इंडस्ट्रियल एरिया, फेस-1
नई दिल्ली-110064,
फोन : 5131393, 5132579

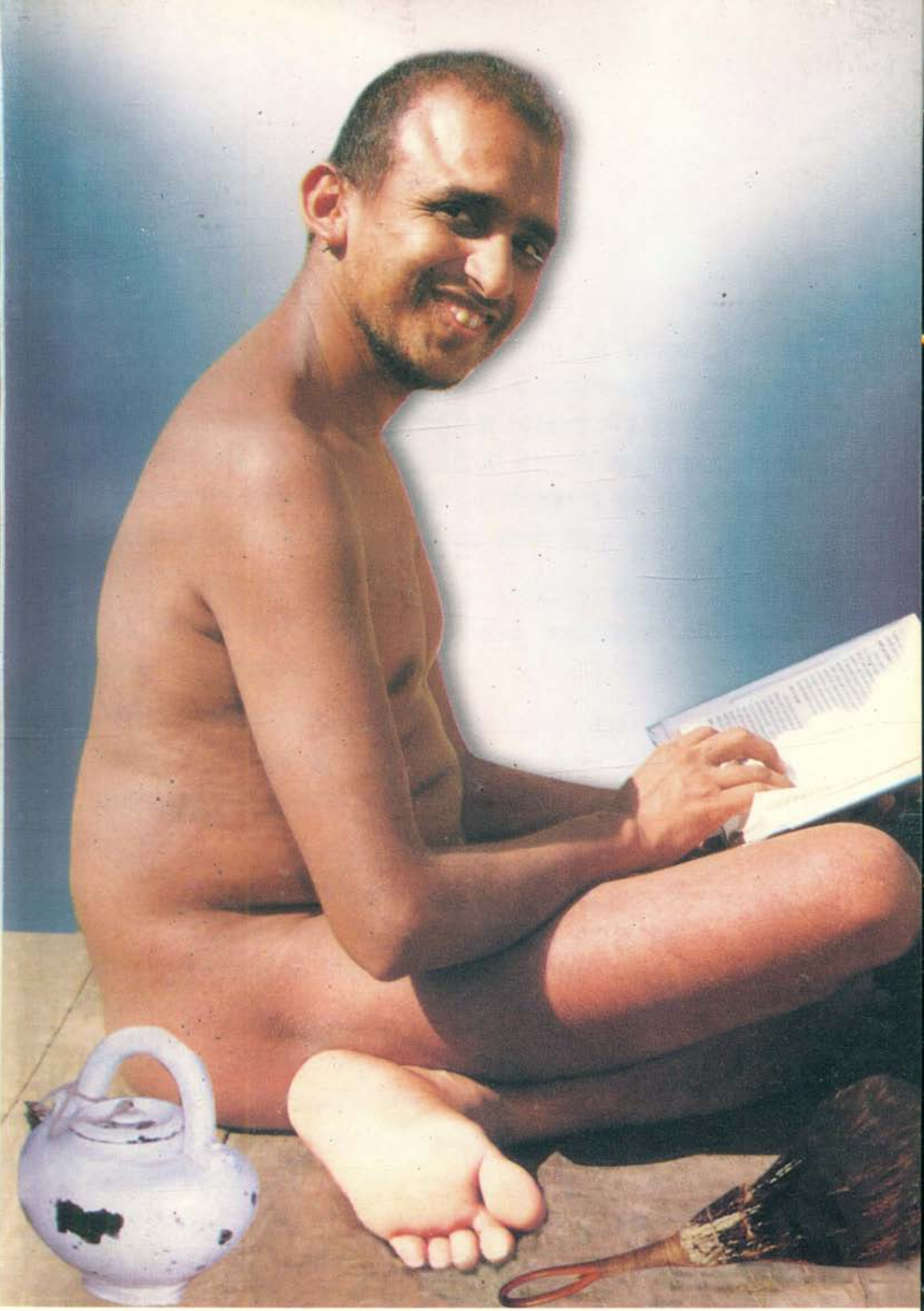

परम पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञान सागर जी महाराज

प्रकाशकीय

परमपूज्य उपाध्याय 108श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पावन आर्शीवाद से श्री गणेश संस्थान वाराणसी के आयोजकत्व में ''तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ (ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में) विषय पर एक संगोष्ठी दिनांक 19.10.97 से 21.10.97 तक श्री जम्बू स्वामी दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मथुरा में सम्पन्न हुई इस संगोष्ठी में देश के ख्यातिलब्ध विद्वानों ने अपने शोधपूर्ण आलेखों का वाचन किया था।

समाज की भावना थी कि इन आलेखों का शीघ्र प्रकाशन किया जाए, जिससे न केवल विद्वज्जनों, अपितु सर्वसाधारण जनों को भी इसका लाभ प्राप्त हो सके।

प्रसन्नता की बात है कि प्राच्य श्रमण भारती ने अपने अल्प साधनों के होते हुये भी इसके प्रकाशन का निर्णय लिया और सम्प्रति इसका मुद्रित रूप आपके सामने प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम हम परम पूज्य उपाध्याय श्री के प्रति नमोऽस्तु निवेदन करते हैं, जिनके माङ्गलिक आशीर्वाद से इसका प्रकाशन सम्भव हो सका, साथ ही ब्र० अतुल जैन एवं सम्पादकों के हम आभारी हैं, जिनकी प्रेरणा एवं परिश्रम के बिना यह कार्य संभव नहीं था।

प्राच्य श्रमण भारती ने अब तक तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा तथा प्रमेय कमलमार्तण्ड परिशीलन आदि अनेक लोकोपयोगी एवं विद्वज्जनोपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, जिनका सर्वत्र बहुशः समादर हुआ है। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ का भी पूर्ववत् सम्मानार्थ होगा।

मंत्री

रवीन्द्र कुमार जैन (नावला वाले)

मु० नगर

संपादकीय

श्री गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी द्वारा ''तीर्थंकर पार्श्वनाथ'' पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी करने का निर्णय 1995 में ही ले लिया गया था और इसके कई कारण भी थे। संस्थान अपनी रजत जयन्ती में प्रवेश करने वाला था। साथ ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काशी नगरी में जन्म होने के कारण काशी स्थित इस शोध संस्थान द्वारा पार्श्वनाथ पर विशेष शोध एवं विचार विमर्श किया जाना उचित भी था। इस कार्य को मूर्त रूप प्राप्त हुआ, इस युग के दिगंबर संत उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी के आशीर्वाद से।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक बहुआयामी तथा अत्यंत लोकप्रिय व्यक्तित्व के स्वामी हुये, इसमें कोई संदेह नहीं। जनप्रिय होने के कारण समय के साथ-साथ उनके साथ अनेकानेक घटनाओं का जोड़ा जाना तथा उनके विषय में अनेकानेक ग्रंथ एवं काव्यों की रचना होना स्वाभाविक ही था। इन सबके अध्ययन से इनमें प्रवाहित अन्तर धाराओं की एकरूपता सामने आती है तथा पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को संपुष्ट करती है। थोड़ा मतैक्य उनके जन्म-निर्वाण काल को लेकर अवश्य आता है जिसकी विशेष चर्चा अनेक विद्वानों ने अपने आलेखों में की है।

इस संगोष्ठी की अनेक विशेषतायें रहीं। एक अनुपम तीर्थंकर के सभी पक्षों को लेकर देश के विभिन्न भागों से आये लगभग 40 विद्वानों ने खुलकर अपने विचार व्यक्त किये। उत्तर भारत में आयोजित संगोष्ठी में दक्षिण के अनेक विद्वानों का समागत अत्यन्त उत्साहवर्धक रहा। आलेखों को विषयों के वर्गीकरण के आधार पर आमन्त्रित किया गया था। लगभग सभी विद्वानों ने अपने आलेख एक माह पहले ही भेज दिये थे। हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत इन आलेखों में से कई आलेखों

में कहीं-कहीं थोड़ी एकरूपता भी दिखाई देती है जो कि विषय वस्तु के कारण स्वाभाविक भी है। फिर भी प्रत्येक आलेख कुछ न कुछ नया अवश्य दे जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ में कई आलेख ऐसे भी हैं जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के बावजूद, अंतिम समय में आने के कारण, संगोष्ठी में पढ़े नहीं जा सके। इन आलेखों को भी हमने इस ग्रंथ में सम्मिलित किया है। साथ ही कतिपय आलेख ऐसे भी पढ़े गये जो कि बहुचर्चित होने के साथ ही पहले भी प्रकाशित हो चुके हैं। हमने यह भी अनुभव किया कि शोध आलेखों को प्रमाणों के आधार पर ही लिखा जाना चाहिये। अतः ऐसे कुछ आलेखों को हमने यहाँ मुद्रित नहीं किया है।

कुल मिला कर "तीर्थंकर पार्श्वनाथ" पर यह संगोष्ठी एक उपयोगी ग्रंथ के रूप में सामने आ रही है। यह बहुचर्चित भी होगी इसमें हमें कोई संदेह नहीं। ब्र. अतुल जी लगातार हमें याद दिलाते रहे कि ग्रंथ का प्रकाशन होना है। संभवतः इसीलिये यह ग्रंथ आपके हाथों में आ रहा है। जिनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से यह कार्य संपन्न हुआ, उन महान् संत दिगंबर मुनि उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुये, हम हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। विद्वानों के प्रति उपाध्यायश्री की स्नेहधारा अनवरत प्रवाहमान रहे, तथा हमें अनेकों कार्य करने की प्रेरणा देती रहे, इसी आशा के साथ,

संपादक मंडल

डॉ. अशोक कुमार जैन, रुड़की
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी (संप्रति दिल्ली)

आचार्य शान्तिसागर (छाणी) और उनकी परम्परा

बीसवीं शती में दिगम्बर जैन मुनि परम्परा कुछ अवरूद्ध-सी हो गई थी, विशेषत: उत्तरभारत में। शास्त्रों में मुनि–महाराजों के जिस स्वरूप का अध्ययन करते थे, उसका दर्शन असम्भव-सा था। इस असम्भव को दो महान् आचार्यों ने सम्भव बनाया, दोनों सूर्यों का उदय लगभग समकालिक हुआ, जिनकी परम्परा से आज हम मुनिराजों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और अपने मनुष्यजन्म को धन्य मानते हैं।

प्रशान्तमूर्ति आचार्य शान्तिसागर जी का जन्म कार्तिक बदी ग्यारस स. 1945 छाणी, जिला उदयपुर (राज०) में हुआ था, पर सम्पूर्ण भारत में परिभ्रमण कर भव्य जीवों को उपदेश देते हुए सम्पूर्ण भारतवर्ष, विशेषत: उत्तरभारत को उन्होंने अपना भ्रमण क्षेत्र बनाया। उनका बचपन का नाम केवलदास था, जिसे उन्होंने वास्तव में अन्वयार्थक (केवल=अद्वितीय, अनोखा, अकेला) बना दिया। सन् 1922 में क्षुल्लकदीक्षा ली तथा 1 वर्ष बाद भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी सन् 1923 को दीक्षा लेकर आचार्य महाराज ने अनेकत्र विहार किया। वे प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों को दूर करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। मृत्यु के बाद छाती पीटने की प्रथा, दहेज प्रथा, बलिप्रथा आदि का उन्होंने डटकर विरोध किया। ''छाणी'' के जमींदार ने तो उनके अहिंसा–व्याख्यान से प्रभावित होकर अपने राज्य में सदैव के लिए हिंसा का निषेध करा दिया था और अहिंसा धर्म अंगीकार कर लिया था।

आचार्यश्री पर घोर उपसर्ग हुए, जिन्हें उन्होंने समताभाव से सहा। उन्होंने 'मूलाराधना', 'आगमदर्पण', 'शान्तिशतक', 'शान्तिसुधासागर' आदि ग्रन्थों का संकलन/प्रणयन किया, जिन्हें समाज ने प्रकाशित कराया, जिससे आज हमारी श्रुतपरम्परा सुरक्षित और वृद्धिंगत है।

आचार्य श्री ने नगर-नगर, डगर-डगर में धर्म का डंका बजाकर सन् 1944 सागवाडा राजस्थान में ज्येष्ठ बदी दशमी को समाधि पूर्वक मरणकर इस नशवर काया को त्याग दिया।

इनके अनेक शिष्य हुए। जिनमें आचार्य सूर्यसागर जी बहुश्रुत विद्वान् थे। आचार्य सूर्य सागर जी का जन्म पेमसर (शिवपुरी) म.प्र. में कार्तिक शुक्ला नवमी संवत् 1940 में हुआ। इनका ग्रहस्थ का नाम हीरालाल था। आपने मंगसिर कृष्णा ग्यारस वि.स. 1981 में आचार्य शान्ति सागर जी छाणी से मुनि दीक्षा लेकर वि.स. 2009 में समाधिमरण किया। दिगम्बर जैन परम्परा में कुछ ही साधु ऐसे हैं, जो साहित्यसपर्या के माध्यम से जैन साहित्य को सुदृढ़ और स्थायी बना सके हैं। आचार्य सूर्यसागर जी उनमें एक थे। उन्होंने लगभग 35 ग्रन्थों का संकलन/प्रणयन किया और समाज ने उन्हें प्रकाशित कराया। 'संयमप्रकाश' उनका अद्वितीय बृहत् ग्रन्थ है, जिसके दो भागों (दस किरणों) में श्रमण और श्रावक के कर्तव्यों का विस्तार से विवेचन है। संयमप्रकाश सचमुच में संयम का प्रकाश करने वाला है, चाहे श्रावक का संयम हो चाहे श्रमण का।

आचार्य सूर्यसागर जी का आचार्य पद पूज्य मुनिश्री विजयसागर जी महाराज को लश्कर में दिया गया था। आचार्य विजयसागर जी महाराज परमतपस्वी वचनसिद्ध आचार्य थे। कहा जाता है कि एक गांव में खारे पानी का एक कुआँ था, लोगों ने आचार्य श्री से कहा कि हम सभी ग्रामवासियों को खारा पानी पीना पड़ता है, आचार्य श्री ने सहज रूप में कहा - 'देखो पानी खारा नहीं मीठा है' उसी समय कुछ लोग कुएँ पर गये और आश्चर्य कि पानी खारा नहीं मीठा था। आपके ऊपर उपसर्ग आये, जिन्हें आपने शान्तिभाव से सहा, आपकी समाधि ग्वालियर (मुरार) में श्री दीनानाथ जी बगीची के सामने जैन बगीची में है।

आचार्य विजयसागर जी के शिष्यों में आचार्य विमलसागर जी सुयोग्य शिष्य हुए आपका जन्म सं. 1948 पोष शुक्ला द्वितीय को

ग्वालियर जिले के मोहिना ग्राम में हुआ। आपने अग्रहन वदी पंचमी वि. स. 2000 को कोटा रा.ज. में आचार्य विजय सागर जी से मुनि दीक्षा ली। आप प्रतिभाशाली आचार्य थे। आपके सदुपदेश से अनेकों जिनालयों का निर्माण और जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई। आपके सानिध्य में अनेक पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें व गजस्थ महोत्सव सम्पन्न हुए। भिण्ड नगर को आपकी विशेष देन है। आपका जन्म मोहना (म.प्र.) में तथा पालन-पोषण पीरोठ में हुआ अत: आप 'पीरोठ वाले महाराज' साथ ही भिण्ड नगर में अनेक जिनबिम्बों की स्थापना कराने के कारण 'भिण्ड वाले महाराज' के नाम से विख्यात रहे हैं। आ. विजयसागर जी ने अपना आचार्यपद विमलसागर जी महाराज (भिण्ड) को दिया।

आचार्य विमलसागर जी ने अनेक दीक्षायें दीं उनके शिष्यों में आचार्य सुमतिसागरजी, आचार्य निर्मलसागर जी, आचार्य कुन्थुसागर जी, मुनि ज्ञानसागर जी आदि अतिप्रसिद्ध हैं। आचार्य विमलसागर जी महाराज ने अपना आचार्य पद ब्र॰ ईश्वरलाल जी के हाथ पत्र द्वारा सुमतिसागर जी को दिया था। आपने वि.स. 2030 में समाधिमरण कर शरीर को त्याग दिया।

आचार्य सुमतिसागर जी कठोर तपस्वी और आर्षमार्गानुयायी थे। आपका जन्म असौज सुदी चोथ वि.स. 1974 को श्यामपुरा (मुरैना) में जैसवाल जाति के श्री नथ्थीलाल जैन के घर हुआ था। आपने अनेक कष्टों और आपदाओं को सहने के बाद दिगम्बरी दीक्षा अग्रहन बदी द्वादसी वि.स. 2025 में धारण की थी। आपके जीवन में अनेक उपसर्ग और चमत्कार हुए थे। पं मक्खनलाल जी मुरैना जैसे उद्भट विद्वानों का संसर्ग आपको मिला। आप मासोपवासी कहे जाते थे। आपके उपदेश से अनेक आर्ठामार्गानुयायी ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। सोनागिर स्थित त्यागी व्रती आश्रम आपकी कीर्तिपताका फहरा रहा है। आपने शताधिक दीक्षायें अब तक प्रदान की थी। आपके प्रसिद्ध शिष्यों में उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज प्रमुख हैं। ऐसे आचार्यों, उपाध्यायों, मुनिवरों, गुरुवरों को शत-शत नमन, शत-शत वन्दन।

उमेश से उपाध्याय मुनि १०८ ज्ञानसागर

सफरनामा एक अनेकान्तिक साधक का

अभीक्ष्ण ज्ञान की सम्पदा से सिक्त उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक ऐसे क्रान्तिकारी साधक की अनवरत साधना-यात्रा का वह अनेकान्तिक दस्तावेज है जिसने समय के नाट्य-गृह में अपने सप्तभंगी प्रज्ञान के अनेकों रंग बिखेरे हैं। चम्बल के पारदर्शी नीर और उसकी गहराई ने मुरैना में वि० सं० २०१४ वैशाख सुदी दोयज को जन्मे बालक उमेश को पिच्छि-कमण्डलु की मैत्री के साथ अपने बचपन की उस बुनियाद को मजबूत कराया जिसने उस निर्बाध मार्ग का सहज, पर समर्पित पथिक बना दिया। शहर में आने वाले हर साधु-साध्वी के प्रति बचपन से विकसित हुए अनुराग ने माता अशर्फी बाई और पिता शान्ति लाल को तो हर पल सशंकित किया पर बालक उमेश का आध्यात्मिक अनुराग हर पल पल्लवित और पुष्पित होता रहा। और इसकी परिणति हुई सन् १९७४ में उस प्रतीक्षित फैसले से, जब किशोर उमेश ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार किया एवं दो वर्षों बाद, पाँच नवम्बर उन्नीस सौ छिहत्तर को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उमेश से रूपान्तरित हुए क्षुल्लक गुणसागर ने बारह वर्षों तक आगम ग्रन्थों, साहित्य एवं भाषा का अध्ययन किया, युग के महान् सन्त आचार्य श्री विद्यासागर जी की पावन सन्निधि में तत्वज्ञान का पारायण किया तथा महावीर जयन्ती के पावन प्रसंग पर इकत्तीस मार्च उन्नीस सौ अठासी को आचार्य सुमतिसागर जी महाराज से मुनि धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तब आविर्भाव हुआ उस युवा, क्रान्तिदृष्टा तपस्वी का, जिसे मुनि ज्ञानसागर के रूप में युग ने पहचाना और उनका गुणानुवाद किया।

निर्ग्रन्थ रूप में प्रतिष्ठित इस दिगम्बर मुनि ने जहाँ आत्म-शोधन के अनेकों प्रयोग किये, साधना के नये मानदण्ड संस्थापित किये, उदात्त चिन्तन की ऊर्जस्वी धारा को प्रवाहमान कर तत्वज्ञान को नूतन व्याख्याओं

से समृद्ध किया, वहीं पर अपनी करुणा, आत्मीयता और संवेगशीलता को जन-जन तक विस्तीर्ण कर भगवान महावीर की **सत्वेषु मैत्री** की अवधारणा को भी संवर्द्धित किया। मध्यप्रदेश की प्रज्ञान-स्थली सागर में मुनिराज का प्रथम चातुर्मास, तपश्चर्या की कर्मस्थली बना और यहीं से शुरु हुआ आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का वह अथ जिसने प्रत्येक कालखण्ड में नये-नये अर्थ गढ़े और संवेदनाओं की समझ को साधना की शैली में अन्तर्लीन कर लिया।

आगामी वर्षों में मुनि ज्ञानसागर जी ने जिनवाणी के आराधकों से स्थापित किया एक सार्थक संवाद ताकि आगम ग्रन्थों में निबद्ध रहस्यों को सामान्य जनों तक बोधगम्य भाषा और शैली में सम्प्रेषित किया जा सके। सरधना, शाहपुर, खेकड़ा, गया, राँची, अम्बिकापुर, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर में विद्वत्संगोष्ठियों के आयोजन ने बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों के जहाँ एक ओर उत्तर खोजे वहीं दूसरी ओर शोध एवं समीक्षा के लिये नये सन्दर्भ भी परिभाषित किये गये। अनुपलब्ध ग्रन्थों के पुनर्प्रकाशन की समस्या को इस ज्ञान-पिपासु ने समझा और सराहा। इस क्षेत्र में गहन अभिरुचि के कारण सर्वप्रथम बहुश्रुत श्रमण परम्परा के अनुपलब्ध प्रामाणिक शोध-ग्रन्थ, स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सर्जित साहित्य सम्पदा **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारों भाग)** के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा की, जिसे सुधी श्रावकों ने अत्यल्प समयावधि में परिपूर्ण भी किया। इतना ही नहीं, आधुनिक कालखण्ड में भुला दिये गये सन्तों एवं विद्वानों के कृतित्व से समाज को परिचित कराने का भी गुरुकार्य इन्होंने किया, जिसकी परिणतिस्वरूप आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन से एक ओर विस्मृत से हो रहे उस अत्यन्त पुरातन साधक से समाज परिचित कराया जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत में दिगम्बर श्रमण परम्परा को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अभिवृद्ध करने का गुरु-कार्य किया था तो दूसरी ओर सुप्रसिद्ध जैन दर्शन-विद् स्व० पं० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की स्मृति में एक

विशाल स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा कर मात्र एक जिनवाणी-आराधक का गुणानुवाद ही नहीं किया प्रत्युत् नयी पीढी को उस महान् साधक के अवदानों से परिचित भी कराया। इस तपःपूत ने वैचारिक क्रान्ति का उद्‌घोष किया इस आशा और विश्वास के साथ कि आम आदमी के समीप पहुँचने के लिये उसे उसकी प्रतिदिन की समस्याओं से मुक्ति दिलाने के उपाय भी संस्तुत करने होंगे। तंनावों से मुक्ति कैसे हो, व्यसन मुक्त जीवन कैसे जिएँ, पारिवारिक सम्बन्धों में सौहार्द कैसे स्थापित हो तथा शाकाहार को जीवन-शैली के रूप में कैसे प्रतिष्ठापित किया जाए, आदि यक्ष प्रश्नों को बुद्धिजीवियों, प्रशासकों, पत्रकारों, अधिवक्ताओं शासकीय/अर्द्धशासकीय एवं निजी क्षेत्रों के कर्मचारियों व अधिकारियों, व्यवसायियों, छात्रों- छात्राओं आदि के साथ परिचर्चाओं, कार्य शालाओं, गोष्ठियों के माध्यम से उत्तरित कराने के लिये एक ओर एक रचनात्मक संवाद स्थापित किया तो दूसरी ओर श्रमण संस्कृति के नियामक तत्वों एवं अस्मिता के मानदण्डों से जन-जन को दीक्षित कर उन्हें जैनत्व की उस जीवन-शैली से भी परिचित कराया जो उनके जीवन की प्रामाणिकता को सर्वसाधारण के मध्य संस्थापित करती है।

इस खोजी साधक ने प्रेम और करुणा के व्यावहारिक प्रयोग किये और कंक्रीट संस्कृति से दूर पहुँचे झारखण्ड के उन अरण्यों में जहाँ बिरसा और मुण्डा जाति के आदिवासियों के साथ लाखों की तादाद में बसते हैं अत्यन्त पुरातन जैन श्रावक जिन्हें समय की शिला पर पड़ी धूल ने सिर्फ नाम का अपभ्रंश कर उन्हें सराक ही नहीं बना दिया प्रत्युत् उन्हें उनके कुल-गौरव पार्श्व प्रभु की परम्परा को भी विस्मृत कराने पर मजबूर कर दिया। इन भूले-बिसरे भाइयों को बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा में अलग-थलग जीवन जीने के स्थान पर सम्पूर्ण देश की श्रमण धारा से जोड़ने के लिये अनेकों कल्याणकारी योजनाएँ संचालित कीं जिनमें रघुनाथपुर एवं अनाईजामाबाद के पुनर्वास केन्द्र, पुराने जीर्ण-शीर्ण जिनालयों का जीर्णोद्धार, सुदूर अंचलों में नये जिनालयों का निर्माण,

तकनीकी शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, रोजगार के लिये उपस्करों का प्रबन्ध, छात्रवृत्तियों का वितरण, कुशल बेरोजगारों को रोजगार एवं नौकरियों की उपलब्धता एवं इन सभी के सफल संचालन के लिये सुधी जनों को प्रेरित कर ट्रस्ट के मांध्यम से समस्त गतिविधियों को कार्यान्वित कराने की प्रेरणा की है। यही कारण है कि इस साधनापूत से प्रभावित हो जहाँ एक ओर श्री मोतीलाल बोरा, श्री अजितसिंह, श्री नारायण दत्त तिवारी, श्री साहिब सिंह वर्मा, श्री इन्दर सिंह नामधारी आदि राजनेताओं ने दर्शन लाभ कर आशीर्वाद प्राप्त किये हैं, वहीं दूसरी ओर डॉ० कृष्ण कुमार नाग, श्री राजेन्द्र यादव, श्री अरविन्द जैन, डॉ० नेमीचन्द आदि बुद्धि-जीवियों, पत्रकारों ने एवं साहू अशोक कुमार जैन, साहू रमेशचन्द्र जैन, श्री पूनम चन्द गंगवाल, श्री उम्मेदमल पाण्ड्या, श्री निर्मल कुमार सेठी आदि प्रमुख उद्योगपतियों ने भी पूज्य गुरुदेव से मंगल आशीष प्राप्त किये हैं।

पूज्य उपाध्याय श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का जीवन क्रान्ति का श्लोक है, साधना और मुक्ति का दिव्य छन्द है तथा है मानवीय मूल्यों की वन्दना एवं जन-चेतना के सर्जनात्मक परिष्कार एवं उसके मानसिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य के विकास का वह भागीरथ प्रयत्न जो स्तुत्य है, वंदनीय है और है जाति, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से परे पूरी इन्सानी जमात को समर्पित एक छोटा पर बहुत स्थिर और मजबूती भरा कदम। निःसन्देह यह होगा आने वाली पीढ़ी के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ।

समर्पण

विलुप्त श्रमण परम्परा के पुनरूद्धारक

तेजस्विता एवं मनस्विता के समन्वय

चारित्र - शिरोमणि,

धर्मप्रभाकर

आचार्य १०८ श्रीशांतिसागर छाणी जी

प्रथम पट्टशिष्य

प्रज्ञापुंज "संयमप्रकाश" प्रभाव प्रदाता आचार्य १०८ श्री सूर्यसागर जी

द्वितीय पट्टशिष्य

तप, वैराग्य, संयम करूणा से ओत प्रोत धर्म वैजयन्ती प्रसारक

आचार्य १०८ श्री विजय सागर जी

तृतीय पट्टशिष्य

निष्पृही तपःपूत साधक आचार्य १०८ श्री विमलसागरजी (भिण्डवाले)

चतुर्थ पट्टशिष्य

मासोपवासी, संयम साधक आचार्य श्री १०८ सुमतिसागर जी

सतत् प्रवाहमान निर्दोष परम्परा के संवाहक

सराकोद्धारक युवामनीषी उपाध्याय १०८ श्री ज्ञानसागर जी

महाराज के कर कमलो में सादर सविनय समर्पित

मथुरा वर्षायोग पत्रिकाओं के आलोक में

योगीराज श्रीकृष्ण की धरती पर इस वर्ष एक और योगी के चरण पड़े। यह धरती और यहां के लोग अनायास ही सब कुछ पा गए। यह जिक्र है उपाध्यायश्री ज्ञानसागर महाराज के मथुरा चातुर्मास का। मथुरा जी में चार महीने तक संत की वाणी ने अमृत बरसाया। हजारों लोग इस अमृत वर्षा में सराबोर हुए।

रचनात्मक और स्वास्थ्य निर्माण के कार्य चार महीने तक अबाध गति से चलते रहे। उपाध्यायश्री का विहार कभी निश्चित दिन या तिथि में नहीं होता। उपाध्यायश्री के अलावा किसी को यह नहीं पता होता कि उनका अगला मंगल प्रवास कहां होगा। बीती गर्मियों में जब उन्होंने राजस्थान से विहार किया था तो लोगों को उम्मीद थी, बल्कि पक्का भरोसा था कि उनका चातुर्मास आगरा में होगा, लेकिन पुण्योदय मथुरा के लोगों का हुआ। प्रकृति ने भी मथुरावासियों का साथ दिया और उपाध्यायश्री अपने संत शिष्य वैराग्य सागर महाराज के साथ मथुरा स्थित जैन चौरासी सिद्ध क्षेत्र में आ पहुंचे।

उपाध्यायश्री के आगमन को लेकर मथुरा क्षेत्र के पत्रकार भी कम उत्सुक नहीं थे। यह उत्सुकता और उत्साह चातुर्मास के समापन के बाद उपाध्यायश्री के विहार तक बनी रही। क्षेत्र में सम्भवतः ऐसा कोई पत्रकार नहीं बचा जिसने उपाध्यायश्री के चातुर्मास को लेकर अपनी कलम न चलाई हो, और मथुरा पहुंचने वाले अथवा यहां से छपने वाले अखबार में से ऐसा कोई शेष न बचा जिसने उपाध्यायश्री के चातुर्मास के संबंध में खबर न छापी हो।

चार जुलाई को उपाध्यायश्री मथुरा पहुंचे और 19 जुलाई को चातुर्मास स्थापना समारोह हुआ। दैनिक जागरण ने लिखा 'दिगम्बर जैन

सिद्ध क्षेत्र चौरासी में ध्वजारोहण के साथ समारोह शुरू हुआ। इसके पश्चात् मथुरा जैन समाज की ओर से परम पूज्य उपाध्यायश्री को चातुर्मास करने हेतु अनुनय-विनय के साथ श्रीफल समर्पित किया गया। आज कामां, भरतपुर, पहाड़ी, बडौदामेव, दिल्ली, सहारनपुर, शाहदरा, आगरा, मुजफ्फरनगर व अलवर आदि अनेक स्थानों के व्यक्तियों ने श्रीफल समर्पित किया।'' अखबार ने अपनी इस खबर में समारोह को पूरा छापा। मदन लाल बैनाड़ा के मुख से ''दैनिक जागरण'' अखबार ने लिखा ''जो एक बार उपाध्यायश्री के दर्शन कर लेता है, वह बार-बार दर्शन करने आता है। आपकी मंद-मंद मुस्कान से सभी आकर्षित हो जाते हैं।''

अमर उजाला ने 22 जुलाई के अंक में उपाध्यायश्री के चित्र सहित उनका प्रवचन प्रकाशित किया। ''अमर उजाला'' अखबार ने लिखा ''जैन समाज के चातुर्मास समारोह में जैन संत ज्ञानसागर महाराज द्वारा जंबू स्वामी दिगंबर जैन सिद्ध क्षेत्र में प्रवचन हुआ। प्रवचनों को सुनने दूरदराज से श्रद्धालु पहुँचे। सहजता-सरलता की प्रतिमूर्ति उपाध्यायश्री ने कहा कि आज का मानव अशांत है, बेचैन है और संकल्पों में उलझा हुआ है। इस खबर का शीर्षक था-'तनाव से बचने को बारह भावनाओं का चिंतन जरूरी'।

'आज' ने भी 23 जुलाई के अंक में 'मानव संकल्प-विकल्पों की उलझन से बेचैन' शीर्षक से समाचार प्रकाशित किया। आज अखबार ने उपाध्यायश्री के प्रवचन से लिखा ''संसार के कार्य मुनीम बनकर करिये, मालिक बनकर नहीं। क्योंकि लाभ-हानि की स्थिति में मालिक पर फर्क पड़ता है, मुनीम पर नहीं।'' इसी दिन अमर उजाला ने उपाध्यायश्री का प्रवचन ''लक्ष्य के बिना चलने वालों को भटकना पड़ता है'' शीर्षक से छापा। 26 जुलाई को दैनिक जागरण ने लिखा-''नव चेतना प्रदायक परम पूज्य उपाध्याय ज्ञान सागर महाराज ने कहा कि मानव पुरुषार्थ के बल पर ही अपने भाग्य को बदल सकता है। भाग्य के सहारे बैठे रहने वाले जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते। आज

का पुरुषार्थ ही कल का भाग्य कहलाता है। इसलिए जब तक सफलता न मिले पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।''

जैन गजट ने 31 जुलाई के अंक में लिखा 'सराक उद्धारक उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज ने मुनि श्री वैराग्य सागर जी सहित विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में चातुर्मास स्थापित किया। विजय कुमार जैन, अध्यक्ष सिद्ध क्षेत्र चौरासी मथुरा ने मंगल कलश स्थापित किया और दिल्ली के महेन्द्र कुमार जैन ने शास्त्र भेंट किए। इससे पूर्व 'अमर उजाला' तथा 'आज' ने क्रमशः 17 व 20 जुलाई के अंकों में प्रवचन के समाचार विस्तार से छापे। यह सिलसिला जुलाई में पूरे महीने चलता रहा। इस बीच एक दो अखबारों में उपाध्यायश्री की पत्रकार वार्ताओं को भी स्थान मिला।

अगस्त महीने में भी अखबारों में उपाध्यायश्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों तथा प्रवचनों को काफी स्थान मिला। 'युवा वांग्मय ने आठ अगस्त को खबर छापी। इसके बाद बारह अगस्त में 'आज' ने लिखा ''उपाध्यायश्री ने कहा कि अहंकार मीठा जहर है जो मनुष्य का सर्वनाश कर देता है, अहंकार के जहर से बचने के लिए उत्तम मार्दव धर्म अमृत समान है।' तेरह अगस्त को एक स्थानीय दैनिक ने 'जीवन में ममता की जगह समता आनी चाहिए' शीर्षक से समाचार प्रकाशित किया। ''उपाध्यायश्री ने कहा कि मनुष्य की आत्म चेतना अमृत है लेकिन राग-द्वेष की चाशनी इसे विकृत बना देती है।''

पाक्षिक 'मारुति नंदन' ने पन्द्रह अगस्त के अंक से उपाध्यायश्री के बारे में चित्र सहित आलेख प्रकाशित किया। अखबार ने लिखा 'भारतीय धरती की जितनी वंदना करें उतनी ही कम है, इसके कण-कण में शक्ति समाई हुई है। इसी कारण प्रत्येक ऋतु का आनंद यहां विद्यमान है। यहां के लोगों को बड़े पुण्य योग से उपाध्यायश्री की अमृतवाणी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। सभी ने इस संत के चरण कमलों में अद्भुत विलक्षणता का अनुभव किया।'' इस आलेख में उपाध्यायश्री के प्रवचनांशों को प्रमुखता से शामिल किया गया है।

आलेख के अंत में अमृतवाणी उपशीर्षक से लिखा है "स्वार्थ के वशीभूत होकर किसी का अच्छा या बुरा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि मानव तो मात्र निमित्त है और मनुष्य को अपने कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है।"

बाईस अगस्त को अमर उजाला ने 'कर्म सिद्धान्त को समझने वाले दूसरों को दोषी नहीं ठहराते' शीर्षक से दो कालम खबर प्रकाशित की। इस खबर में स्वतंत्रता दिवस के बारे में उपाध्यायश्री के विचारों को उद्धृत किया गया–"भारत देश की स्वतंत्रता में जिन देशभक्तों का सहयोग रहा, वह अनुकरणीय है। अत्यधिक परेशानियां सहकर भी लोग अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हटे। इसी प्रकार की देशभक्ति की भावना यदि प्रत्येक व्यक्ति में रहे तो निश्चित ही हम भारत वसुंधरा के गौरव को बढ़ा सकते हैं।"

उपाध्यायश्री ने जन्माष्टमी पर्व पर प्रेरक उद्बोधन दिया। उन्होंने कहा कि "संसार में केवल स्वार्थ का भाव है। जन्माष्टमी का पर्व श्री कृष्ण जैसा महापुरुष बनने का दिन है" (जगत टाइम्स, 26 अगस्त)। 27 अगस्त को इस अखबार ने अपना संपादकीय उपाध्यायश्री को समर्पित किया–"मथुरा और पूरे ब्रज क्षेत्र के लिए यह गौरव की बात है कि उपाध्यायश्री सिद्ध क्षेत्र चौरासी में चातुर्मास कर रहे हैं। उनके वर्षा योग को यहां करीब डेढ़ माह हो चुका है। .....महाराज़ श्री सच्चे अर्थों में ज्ञान के सागर हैं। कोई विषय उनके गहरे ज्ञान से अछूता नहीं है। संसार के व्यवहार में कभी रहे नहीं, लेकिन घर, गृहस्थ, व्यापार समाज में आज क्या हो रहा है, इसकी पूरी और ताजी, जानकारी आपके पास मौजूद है, हर बुरी आदतों से लोगों को सावधान करते हैं....महाराज श्री की कठोर चर्या और उनकी कठोरतम साधना को साक्षात् देखकर कोई भी जान सकता है कि प्राचीनकाल में हमारे ऋषि-मुनियों की तपस्या कैसी थी।" अपने संपादकीय के अंत में लिखा-"उपाध्यायश्री व्याकरण, न्याय और दर्शन शास्त्र के भी अधिकारी संत हैं (उनके स्वाध्याय की सीमा नहीं। सितम्बर माह काफी व्यवस्थाओं से भरा रहा। इस महीने में

कई छोटे-बड़े आयोजन हुए। उपाध्यायश्री के साप्ताहिक प्रवचनों में श्रद्धालु बड़ी तादाद में आते रहे।

उपाध्यायश्री के संत शिष्य वैराग्य सागर महाराज का स्वास्थ्य प्रतिकूल हो जाने के बावजूद भी उपाध्यायश्री का उद्बोधन निरंतर जारी रहा। एक सितम्बर को अमर उजाला ने "पेट शुद्धि के लिए उपवास जरूरी" शीर्षक से लिखा 'महाराज जी ने कहा कि संसारी प्रणाली अहर्निश पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त है इनकी पूर्ति के लिए वह न दिन देखता हैं और न रात, न भक्ष्य देखता है और न ही अभक्ष्य"।

इससे पूर्व उपाध्यायश्री के सानिध्य में 24 अगस्त को 'मानवता की धुरी' पुस्तक का विमोचन हुआ। इस संबंध में जैन गजट ने लिखा 'मानवता की धुरी पुस्तक का विमोचन रेवाड़ी से आए श्री मुनि संघ अध्यक्ष तथा संगीतकार रवीन्द्र जैन के छोटे भाई मणींद्र जैन ने किया। आगम प्रकाशन रेवाड़ी ने इस पुस्तक को प्रकाशित किया है। नीरज जी सतना ने इस पुस्तक को प्रस्तुत किया है। नीरज जी सतना ने इस पुस्तक में प्रत्येक प्रसंग को बहुत गहराई से समझाया। इसी अखबार ने लिखा 'चौरासी मथुरा में आकर यात्री एक पंथ दो काज वाली सूक्ति को चरितार्थ कर एक ओर श्री जंबू स्वामी की निर्वाण स्थली के दर्शन कर रहे हैं तो दूसरी ओर उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी जैसे संतों के दर्शन कर अपने नयनों को सफल कर रहे हैं।

ग्यारह व बारह सितम्बर को नवभारत टाइम्स ने उपाध्यायश्री के चातुर्मास से संबंधित खबरें प्रकाशित कीं। 16 सितम्बर को दैनिक जागरण ने उपाध्यायश्री के सानिध्य में होने वाली जिला स्तरीय छात्र शाकाहार निबन्ध एवं चित्र प्रतियोगिता का विस्तृत ब्यौरा प्रकाशित किया। पन्द्रह सितम्बर को "सुख के बीज बोने पर आनंद की प्राप्ति संभव" शीर्षक से "आज" ने लिखा 'उपाध्यायश्री ने कहा कि सुख के फल प्राप्त करने के लिए सुख के बीज बोने पड़ेंगे। तभी सुख की प्राप्ति संभव है।

इंद्रिय के विषयों से उत्पन्न सुख आभास मात्र है, क्षणिक सुख है, स्थायी सुख प्राप्त करने के लिये आत्मा की ओर दौड़ लगानी पड़ती है।'' इस दिन अमर उजाला ने भी ''सुख का फल प्राप्त करने को सुख के बीज बोएं'' शीर्षक से उपाध्यायश्री के प्रवचनांश प्रकाशित किए।

पर्यूषण पर्व के उपलक्ष्य में 'आज' ने ''सदाचार खो जाने पर मनुष्य का सब कुछ लुट जाता है'' शीर्षक से चार कालम में विस्तृत समाचार प्रकाशित किया। उपाध्यायश्री ने कहा कि ''आज मानव का अंत:करण रूपी क्षेत्र राग-द्वेष-मोह-मत्सर-काम-क्रोध-लोभ आदि की गर्मी से संतप्त होकर शुष्क बन गया है।'' इन विकारों को साफ करने के बाद ही अंत:करण में सद्‌गुण रूपी बीज अंकुरित होकर पनप सकते हैं। अंत:करण रूपी क्षेत्र हरा-भरा हो पर्यूषण पर्व यही संदेश लेकर आए हैं।'' इस खबर ने महाराजश्री के मुख से प्रशांत मूर्ति आचार्य शांतिसागर जी छाणी के जीवन दर्शन पर भी प्रकाश डाला।

अमर उजाला ने 18 सितम्बर को ''जीवन में क्रोध के बजाय क्षमा को स्थान दें' और इसी तारीख में नवभारत टाइम्स ने ''चारित्रिक विकास से ही मानव का कल्याण'' खबरें प्रकाशित कीं। जैन गजट ने महाराजश्री की प्रेरणा से राज्य स्तर पर 10वीं तथा 12वीं के मेधावी छात्र-छात्राओं को सम्मानित किए जाने के कार्यक्रम के संबंध में 11 सितम्बर को विवरण प्रकाशित किया। मथुरा और बृज क्षेत्र के तीन सर्वाधिक बिकने वाले अखबारों अमर उजाला, दैनिक जागरण और आज में महाराजश्री से संबंधित खबरें प्रकाशित करने में एक तरह की प्रतियोगिता चल रही थी। अपवादस्वरूप ही ऐसा कोई दिन जाता होगा जब इन अखबारों में चातुर्मास संबंधी कोई खबर प्रकाशित न हुई हो। आज ने 19 सितम्बर को ''क्षमावाणी पर्व अंतस् की कालिमा धोने को'' तथा 20 सितम्बर को 'दु:ख के क्षणों में खेद नहीं होना चाहिए'' शीर्षक से समाचार प्रकाशित किए। अखबार ने लिखा ''जिसके पास जितना अधिक परिग्रह होता है, वह उतना ही भयभीत रहता है जिसके पास

परिग्रह नहीं, वह चिंतित नहीं रहता। इसलिए जितनी आवश्यकता है, उससे ज्यादा परिग्रह नहीं करना चाहिए।''

बीस सितम्बर को नवभारत टाइम्स ने 'क्षमावाणी अंतस् की कालिमा को धोने का पर्व' शीर्षक से लिखा ''मेरा सभी पर क्षमाभाव है, मेरा सभी से मैत्री भाव है, किसी से बैर नहीं है, ऐसी भावना पल-प्रतिपल भाना चाहिए।'' 22 सितम्बर को आज ने ''अच्छे कार्यों में विघ्न डालना उचित नहीं'' शीर्षक से उपाध्यायश्री के प्रवचनांश को प्रकाशित किया। 23 सितम्बर को नवभारत टाइम्स ने लिखा ''उपाध्यायश्री ने कहा कि जिन्होंने क्षमावाणी पर्व पर अंतस् की ग्रंथियों को तोड़ दिया, उन्हीं का क्षमावाणी पर्व मनाना सार्थक है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्रोध रूपी कषाय ने इसे धूमिल कर दिया है। 26 सितम्बर को नवभारत टाइम्स ने लिखा ''पुरुषार्थ के बल पर मानव सब कुछ प्राप्त कर सकता है। संसार के कार्यों में तो यह जीव पुरुषार्थ करता है लेकिन जब आध्यात्मिक पुरुषार्थ की चर्चा चलती है तो वह समय न होने का बहाना बना लेता है।''

जैन चौरासी मंदिर में 28 सितम्बर को हुए शाकाहार सम्मेलन और प्रदर्शनी के बारे में क्षेत्र के सभी अखबारों ने विस्तृत खबरें छापी। इस सम्मेलन में देश के विभिन्न हिस्सों से आए विद्वानों ने भाग लिया। 'अमर उजाला' तथा 'आज' ने इस समाचार को चार कालम स्थान दिया। समारोह में उपाध्यायश्री के प्रवचनों तथा जीवन आदर्शों पर आधारित चार पुस्तकों का विमोचन भी हुआ। अमर उजाला ने लिखा ''जब मनुष्य की सोच विकृत हो जाती है तो उसका विवेक से नाता टूट जाता है। उपाध्यायश्री ने कहा कि विवेकहीनता मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को नष्ट कर देती है और व्यक्ति स्वछंद हो जाता है।''

इस दौरान दस दिवसीय सराक प्रशिक्षण को लेकर भी कई खबरें विभिन्न अखबारों में प्रकाशित हुई। ''पार्श्वनाथ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक

परिप्रेक्ष्य'' विषय पर उपाध्यायश्री के सान्निध्य में हुई गोष्ठी में उपाध्यायश्री ने कहा कि आज भगवान पार्श्वनाथ के विविध पक्षों के उद्घाटन की जरूरत है। कोई भी संस्कृति पुरातत्व, शास्त्र व कलाकृतियों के संरक्षण से ही सुरक्षित रह सकती है। उन्होंने कहा कि 1150 स्थानों पर हुए शास्त्रार्थ के उपरान्त जैनत्व सुरक्षित रह पाया है।

22 अक्टूबर के नवभारत टाइम्स के अनुसार चातुर्मास के दौरान आचार्य शांति सागर छाणी महाराज का 21वां दीक्षा दिवस समारोह मनाया गया। जैन पत्रों के अलावा अन्य अखबारों ने भी इस संबंध में खबरें प्रकाशित कीं। 12 अक्टूबर को उपाध्यायश्री का पिच्छी परिवर्तन का आयोजन हुआ। जैन गजट ने लिखा ''पिच्छी परिवर्तन समारोह की अध्यक्षता भारतीय जैन मिलन के अध्यक्ष वीर सत्येन्द्र कुमार जैन ने की। इस अवसर पर श्री ज्ञानसागर जैन युवा मंडल, शाहदरा द्वारा प्रकाशित पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव एवं निर्देशिका का विमोचन हुआ।''

और अंत में वह दिन भी आ पहुंचा जब उपाध्यायश्री मथुरा जी से विहार कर गए। उपाध्यायश्री के ससंघ विहार का दृश्य ऐसा था जैसे राम वन को जा रहे हों और अयोध्यावासी सजल आंखों से उनको रोकने की कोशिश कर रहे हों। पर जिनका अवतरण जगत कल्याण के लिए हुआ है वे किसी एक ही स्थान पर टिके नहीं रह सकते। जैन गजट ने लिखा विहार का दृश्य अनोखा था, उमड़ती हुई भीड़ की आंखों में से आंसुओं की धार निकल रही थी।...क्षण भर को सुध-बुध खोकर सब कुछ भूल गए, जयघोषों के नारों के साथ हजारों लोग डीग ग्राम तक उपाध्यायश्री के साथ आए'। डीग गाँव से वापस जाते श्रद्धालु एक ही बात पूछ रहे थे ''महाराजश्री फिर कब आओगे।''

सुशील उपाध्याय,
संवाददाता अमर 'उजाला
रुड़की

तीर्थंकर पार्श्वनाथ
ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में
(त्रिदिवसीय संगोष्ठी की कार्यवाही)

परम पूज्य सराकोद्धारक श्रमण संत उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज एवं परम पूज्य मौनमूर्ति मुनि श्री 108 वैराग्य सागर जी महाराज के सािन्निध्य में जम्बूस्वामी दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र, चौरासी, मथुरा (उ. प्र.) में श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी के द्वारा आयोजित ''तीर्थंकर पार्श्वनाथ-ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में'', विषयक राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी श्री नीरज जैन (सतना) की अध्यक्षता एवं डॉ. जितेन्द्र कुमार निदेशक, संग्रहालय-मथुरा (उ.प्र.) के मुख्यातिथ्य में डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती' (बुरहानपुर) के द्वारा मंगलाचरण, डॉ. श्री रंजन सूरि देव के करकमलों द्वारा दीप प्रज्जवलन के उपरान्त प्रारम्भ हुई। डॉ. सुरेशचन्द जैन (वाराणसी) सचिव-संगोष्ठी एवं निदेशक-श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान ने प्रारंभिक वक्तव्य दिया। अनन्तर संगोष्ठी संयोजक डॉ. अशोक कुमार जैन (रुड़की) ने श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान का परिचय देते हुए बताया कि ''आज से 50 वर्ष पूर्व स्थापित श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला का विकसित रूप श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान है, जिसकी स्थापना सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र जी शास्त्री ने सन् 1972 में की थी। ग्रन्थ प्रकाशन, व्याख्यान माला एवं संगोष्ठियों के आयोजन जैसे महत्कार्य संस्थान द्वारा किये जा रहे हैं। पिछले 10 वर्ष से मैं सचिव रूप में सक्रिय रूप से संस्थान को देख रहा हूं। इस मध्य संस्थान ने गतिशील संस्था का रूप प्राप्त किया है। आज से 2 वर्ष पूर्व परमपूज्य उपाध्याय श्री के सानिध्य में इस संगोष्ठी की रूपरेखा बनी थी, जो आज मूर्त हो रही है। श्रमण संस्कृति को जीवन्त बनाये रखने की कड़ी में यह संगोष्ठी है।'' डॉ. अशोक जी ने आगन्तुक विद्वानों का हार्दिक अभिनन्दन किया।

संस्थान के निदेशक डॉ. सुरेशचन्द जैन ने इस अवसर पर संस्थान की स्थापना के संदर्भ में बताया कि श्री बाबू रामस्वरूप जी बरुवासागर की मात्र 600 रुपये की दान राशि से पूज्य सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री ने इसकी स्थापना की थी। विगत 25 वर्ष में 35 ग्रन्थों के प्रकाशन के साथ जैनागम की उल्लेखनीय सेवा की है। संस्थान आज श्री भागचन्द जी (डूंगरगढ़) द्वारा प्रदत्त भवन में संचालित है।

अनन्तर आगन्तुक विद्वानों/विदुषियों का विस्तृत परिचय संगोष्ठी के सहसंयोजक डॉ. जयकुमार जैन (महामंत्री अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद) ने दिया तथा तिलक लगाकर स्वागत श्री सुभाष चन्द जी 'पंकज' एवं श्रीमती पंकज द्वारा किया गया। डॉ. जयप्रकाश जैन (मथुरा) ने कहा कि तिलक इस बात का प्रतीक है कि विद्वानों द्वारा जैनागम की सेवा निरन्तर होती रहे। उन्होंने मथुरा में प. पूज्य श्री जम्बूस्वामी की निर्वाण स्थली एवं उपाध्याय श्री के सानिध्य में पधारने पर हार्दिक अभिनन्दन किया।

उद्घाटन सत्र के उद्बोधन क्रम में डॉ. प्रेमसुमन जैन (उदयपुर) ने 'प्राकृत साहित्य में पार्श्वनाथ' विषय पर बोलते हुए आ. यतिवृषभ द्वारा रचित 'तिलोयपण्णत्ति' को पार्श्वनाथ के विषय में बताने वाला प्रथम प्राकृत ग्रंथ बताया। तीर्थंकरों के साथ 'नाथ' शब्द जोड़ने वाला एवं चिन्हों की जानकारी देने वाला यह प्रथम ग्रंथ है।

अनन्तर इस सत्र के मुख्य अतिथि डॉ. जितेन्द्र कुमार जी ने कहा कि कंकाली टीला (मथुरा) जैन संस्कृति का प्राचीनतम स्थल है जहां से 14 जैन मूर्तियां उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। जैन मूर्ति कला प्राचीनतम भारतीय मूर्तिकला है। चौरासी नामक टीला प्रमुख स्थल है। जहां से पू. जम्बू स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया था। आ. सुपार्श्वनाथ जी, भ. नेमिनाथ, भ. महावीर स्वामी के पट्ट शिष्य जम्बू स्वामी से मथुरा का सम्बन्ध है। यहां से भ. सुपार्श्वनाथ एवं भ. पार्श्वनाथ की 14 मूर्तियां मिली हैं। उन्होंने जैन समाज से कंकाली टीला के उद्धार में सहयोग की

अपेक्षा व्यक्त की। इस टीले की लम्बाई चौड़ाई स्मिथ ने 500 x 300 एवं कनिंघम ने 400 x 300 बतायी है।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री नीरज जैन (सतना) ने बताया कि जैन विद्या लुकी छुपी, उपेक्षित रही किन्तु लगभग 50-60 वर्ष पूर्व श्री के. डी. वाजपेयी, दक्षिण में रामचन्द्रन, बनारस में रायकृष्णदास, हीराचन्द ओझा आदि के प्रयासों से 'जैन मूर्तिकला' के विषय में चर्चा प्रारम्भ हुई। उन्होंने आधुनिक संचार साधनों इण्टरनेट आदि पर जैनागम के फीडिंग कराने की अपेक्षा व्यक्त की। उन्होंने गणेशवर्णी संस्थान की इस संगोष्ठी के आयोजन के लिए प्रशंसा की तथा कहा कि संस्थान पं. फूलचन्द्र जी शास्त्री के विद्रोही व्यक्तित्व को उभारने का प्रयत्न करें।

सभान्त में परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने अपने आर्शीवचन में कहा कि भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन पक्षों के उद्घाटन की आज आवश्यकता है। कोई भी संस्कृति पुरातत्व, शास्त्र संरक्षण एवं कलाकृतियों के संरक्षण से ही संभव है।

150 स्थानों पर हुए शास्त्रार्थ के उपरान्त जैनत्व सुरक्षित रह पाया। जिनके लिए भा. दि. जैन संघ ने अनेक कष्ट उठाये। दक्षिण की कलाकृतियां एवं साहित्य की उपलब्धता से जैनत्व की सुरक्षा की प्रेरणा मिलती है। भोजपत्रों पर काँटो से उत्कीर्ण कर जैन ग्रन्थ लिखे गये। किन्तु आज आधुनिक सुविधाओं के होने पर भी हम पिछड़ रहे हैं। स्व. पं. कैलाशचन्द जी शास्त्री, स्व. पं. फूलचन्द जी शास्त्री, पं. दरबारी लाल जी कोठिया, पं. पन्नालाल जी साहि. के जैन साहित्य के संरक्षण कार्य का उल्लेख किया तथा पू. गणेशवर्णी जी एवं पं. गोपालदास जी वरैया के ज्ञान प्रसार की भावना की सराहना करते हुए विद्वानों एवं समाज से जैन साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा हेतु आह्वान किया।

सत्र का संचालन डॉ. सुरेशचन्द जैन (वाराणसी) ने किया

द्वितीय सत्र (अपराह्न)

परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज एवं परम पूज्य मुनि श्री वैराग्य सागर जी महाराज के पुनीत सानिध्य में आयोजित

'तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में' विषयक संगोष्ठी का द्वितीय सत्र डॉ. श्री रंजनसूरिदेव (पटना) की अध्यक्षता में डॉ. कमलेश कुमार जैन (वाराणसी) के द्वारा मंगलाचरण से प्रारम्भ हुआ। सत्र संयोजक डॉ. जयकुमार जैन (मुजफ्फरनगर) ने डॉ. प्रकाशचन्द जैन (दिल्ली) को आमंत्रित किया। जिन्होंने संगोष्ठी की उपयोगिता पर संस्कृत भाषा में छन्दवद्ध रचना को प्रस्तुत किया। ज्ञानदीप प्रज्जवलन पं. उदयचन्द जी वाराणसी ने किया। आलेख वाचन क्रम में सर्वप्रथम डॉ. प्रेमचन्द जैन (नजीबाबाद) ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, विषय पर अपने आलेख के माध्यम से भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध किया। उन्होंने श्रमण एवं वैदिक परम्परा में ऋषभदेव भगवान् का उल्लेख होने के बाद भी भगवान् महावीर को पाठ्य पुस्तकों में जैन धर्म का प्रवर्तक घोषित करना दुर्भाग्यपूर्ण बताया। द्वितीय आलेख डा॰ एस.पी. पाटिल ('धारवाड़, कर्ना.) ने पार्श्वनाथ इंन चामुण्डराय पुराण एण्ड महापुराण ए कम्परेटिव स्टडी' पर आंग्ल भाषा में प्रस्तुत किया। तृतीय आलेख सुश्री डॉ. पद्मजा पाटिल (कोल्हापुर) ने 'मराठी साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ' विषयक पढ़ा, जिसमें मराठी भाषा में लिखित भ. पार्श्वनाथ सम्बन्धी काव्यों एवं अन्य साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला। चतुर्थ आलेख डॉ. नलिन के. शास्त्री (बोधगया) ने 'जननायक तीर्थंकर पार्श्वनाथ' विषयक पढ़ा, जिसमें उन्होंने तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बन्धित पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों के मत बताकर उन्हें जननायक बताया। पंचम आलेख में डॉ. अशोक कुमार जैन (ग्वालियर) ने 'भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता : वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में' विषयक आलेख द्वारा भ. पार्श्वनाथ का उपसर्ग स्थल वनस्पति विज्ञान की दृष्टि में हिमालय की तराई के आसपास बताया। इस प्रकार पांच सारगर्भित शोधपरक आलेखों का वाचन इस सत्र में सम्पन्न हुआ।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. श्री रंजनसूरिदेव (पटना) ने पठित आलेखों की समीक्षा की और कहा कि इन आलेखों के प्रकाशन से शोधार्थियों को नयी दिशायें मिलेंगी।

सभान्त में उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के शुभाशीष से 'तिलोयपण्णत्ती' ग्रन्थ (तीन भाग) का लोकार्पण पं. उदयचंद जैन (वाराणसी) पं. नीरज जैन (सतना), डॉ. श्री रंजनसूरिदेव (पटना), डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन (दिल्ली), डॉ. एस.पी. पाटिल एवं डॉ. शुभचन्द जी (मैसूर) ने संयुक्त रूप से कर के पूज्य उपाध्याय श्री के कर कमलों में भेंट किया। अनन्तर न्यायाचार्य पं. महेन्द्र कुमार जैन स्मृति ग्रन्थ का विमोचन परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। पूर्व वक्तव्य में डॉ. सत्यप्रकाश जैन (दिल्ली) ने न्यायाचार्य महेन्द्र कुमार जैन का परिचय देते हुए उनके द्वारा अल्पवय में की गई जैनागम, न्याय की सेवा की सराहना की। पं. नीरज जैन (सतना) ने स्मृति ग्रंथ प्रकाशन को महत्वपूर्ण कार्य बतलाया। अनन्तर ग्रंथ प्रकाशकों का श्री दि. चौरासी मथुरा (उ.प्र.) के पदाधिकारियों ने सम्मान किया गया। आज की संगोष्ठी की यह विशेषता रही कि संगोष्ठी की सफलता हेतु मेघ कुछ देर बरसे और सम्पूर्ण परिसर को शीतलता प्रदान की।

अपने शुभाशीर्वचन के माध्यम से परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने विद्वानों के श्रम की सराहना की और कहा कि अनेक ग्रन्थों के आलोडन के बाद कोई कृति सामने आ पाती है। विद्वान ही विद्वान के परिश्रम को जान सकता है।

जिसने समयसार की अनुभूति की हो, जो स्वयं समय की साधना करता है, उसी का जीवन सार्थक है। संसार और शरीर का सत्य ज्ञान हो जाने पर वैराग्य हो जाता है। सम्यक्त्वाचरण की भूमिका का निर्वाह करने वाला ज्ञानक स्वभाव की ओर बढ़ता है। शुभचन्द और भर्तृहरि के जीवन की घटना का उल्लेख कर पूज्य उपाध्याय श्री ने कहा कि सत्य आत्मा में है। सोना या विलासिता में नहीं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि

जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्थे हिं
से जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

जिन्होंने तिलोयपण्णत्ती, तत्वार्थ वार्तिक जैसे ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया वे आगम से परिचित नहीं हो सकते। आर्यिका विशुद्धमती माता जी (तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ की टीका लिखी) का वात्सल्य एवं ज्ञान महनीय है। श्री दि. जैन क्षेत्र कमेटी, तिजारा साधुवाद की पात्र हैं, जिसने उक्त कृति का पुनर्प्रकाशन कराया। जो धन संगमरमर के पत्थरों में न लगाकर जिनवाणी के प्रकाशन में लगता है वह धन्य हो जाता है।

'न्यायाचार्य डॉ. महेन्द्र कुमार जैन स्मृति ग्रंथ' का आज यहां लोकार्पण किया गया। पुराने विद्वानों से समाज को परिचित कराने का यह शुभ प्रयास है। पू. उपाध्याय श्री ने ग्रंथ प्रकाशकों, सम्पादकों के योगदान की सराहना की। वास्तव में विद्वानों का सम्मान इनका नहीं बल्कि जिनवाणी की आराधना का सम्मान है।

उपाध्याय श्री ने कहा कि सम्यक्ज्ञान अमृत तुल्य है जो संसार के भटके लोगों, दु:खी लोगों को सुख का मार्ग बताता है। उन्होंने छहढाला की इन पंक्तियों का उद्धृत किया कि--

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इहि परमामृत जन्म जरा मृत रोग निवारन॥

आज पुस्तकें अधिक छप रही हैं किन्तु उनमें शुद्धता का अभाव खलता है। अत: जो भी छपे शुद्ध छपनी चाहिए।

तृतीय सत्र
दि: १९.१०.९७ (रात्रिकालीन सत्र)

परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के मौन सानिध्य में आयोजित संगोष्ठी का तृतीय सत्र वयोवृद्ध मनीषी पं. उदयचन्द जैन (वाराणसी) की अध्यक्षता एवं डॉ. सुरेशचन्द जैन (वाराणसी) के संयोजन में सम्पन्न हुआ। डॉ. जयकुमार जैन (मु०नगर) द्वारा मंगलाचरण के उपरान्त आलेखवाचन क्रम में डॉ० सुरेन्द्र जैन 'भारती' (बुरहानपुर)

द्वारा तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा के आलोक में भगवान् पार्श्वनाथ विषय पर आलेख पढ़कर भ. पार्श्व के जीवन, कृतित्व से परिचित कराते हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ के नाम पर हो रही मिथ्या मान्यताओं के खण्डन सम्बन्धी भक्त कवियों के विचारों का उल्लेख किया। अनन्तर डॉ. अभयप्रकाश जैन (ग्वालियर) ने 'रॉक आर्ट पेंटिंग्स एण्ड लार्ड पार्श्वनाथ' विषय पर आलेख पढ़ते हुए विभिन्न शैल एवं भित्ति चित्रों में जैन संरचनाओं के बारे में बताया। तत्पश्चात् डॉ. अशोक कुमार (लाडनूं) ने ती० पार्श्वनाथ का लोक व्यापी प्रभावी विषयक आलेख द्वारा बताया कि आज भी बिहार, बंगाल, व उत्तर प्रदेश की पर्वतीय जातियों में भ० पार्श्वनाथ के प्रति आस्था पायी जाती है साथ ही वैदिक, बौद्ध एवं जैन आगमों में उनका उल्लेख आया है, इससे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव दिखायी देता है। अनन्तर डॉ. कपूरचन्द जैन (खतौली) ने 'जैन स्तोत्र साहित्य एवं तीर्थंकर पार्श्वनाथ' विषय पर आलेखपाठ के माध्यम से बताया कि पार्श्वनाथ एक ऐसे तीर्थंकर हैं जिन्हें पहले भी लोकदेवता माना जाता था और आज भी लोकदेवता माना जाता है। सत्र के अन्तिम आलेख वाचक के रूप में आये डॉ० सत्यप्रकाश जैन (दिल्ली) ने 'हिन्दी जैन कथा साहित्य में भ० पार्श्वनाथ' विषय पर आलेख पाठ करते हुए बताया कि अधिकांश हिन्दी जैन कथा साहित्य संस्कृत प्राकृत व अपभ्रंश भाषा के साहित्य से अनूदित है।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में पं0 उदयचन्द जैन (वाराणसी) ने पठित आलेखों की समीक्षा की एवं महत्वपूर्ण सुझाव दिये। उन्होंने कहा कि सभी तीर्थंकरों के मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है। बुद्ध के जैन धर्म में दीक्षित होने के प्रमाणों की खोज की जानी चाहिए। नवग्रह विधान की कल्पना निरर्थक है। उन्हें किसी तीर्थंकर विशेष से जोड़कर नहीं देखना चाहिए।

अन्त में सत्रसंयोजक डॉ. सुरेशचन्द जैन (वाराणसी) ने आभार व्यक्त किया।

चतुर्थ सत्र

दि. २०.१०.९७ (प्रातः)

परमपूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज एवं परमपूज्य मुनि श्री 108 वैराग्य सागर जी महाराज के सानिध्य में ब्र० बहिन सीमा जैन एवं ब्र० बहिन मीना जी के द्वारा भगवान् ऋषभदेव की स्तुति स्वरूप मंगलाचरण के पश्चात् डॉ. मारुति नन्दन तिवारी (बनारस) की अध्यक्षता एवं डॉ. अशोक कुमार जैन (लाडनूं) के संयोजकत्व में प्रारम्भ संगोष्ठी के चतुर्थ सत्र में डॉ. श्री रंजनसूरिदेव ने जिनसेन के प्रति राजा अमोघवर्ष के सम्मानभाव को राज्य सत्ता पर सारस्वत सत्ता की विजय बताया। मरुभूति जीव का पार्श्व के रूप में उन्नयन ही पार्श्वाभ्युदय है। जैन परम्परा में दूत परम्परा सम्बन्धी साहित्य एवं अभ्युदय मूलक साहित्य सृजन पार्श्वाभ्युदय से ही प्रारम्भ हुआ है। पार्श्वाभ्युदय का काव्य सौष्ठव विशिष्ट है। आचार्य जिनसेन को कालिदास के समकक्ष मानकर डॉ. कुन्दनलाल जैन (दिल्ली) ने 'पार्श्वप्रभु की कुछ कलापूर्ण ऐतिहासिक प्रतिमायें' विषय पर आलेखपाठ के माध्यम से तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विभिन्न प्रतिमाओं के माध्यम से ऐतिहासिकता सिद्ध की। उन्होंने आधार पट्ट, स्तूप एवं विभिन्न संग्रहालयों में स्थित मूर्तियों का उल्लेख किया। तृतीय आलेख डॉ. रमेशचन्द जैन (बिजनौर) ने 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ परम्परा के उत्तरवर्ती साधु पासत्थ और उनका स्वरूप' आलेख के माध्यम से बताया कि मथुरा से प्राप्त मूर्तियां दिगम्बर है तथा उन पर लेख श्वेताम्बर परम्परा का है। इससे सिद्ध होता है कि पहले श्वेताम्बर भी दिगम्बर मूर्ति को मानते थे। मथुरा की मूर्तियों एवं साहित्य से जैन धर्म के लोकव्यापी जैनधर्म का स्वरूप पता चलता है। उन्होंने उपाध्याय श्री से कंकाली टीला को विकसित करवाने हेतु निवेदन किया। पार्श्वस्थ शब्द भ० पार्श्व की परम्परा के साधुओं के लिए प्रयोग किया जाने लगा। किन्तु 'पासत्थ' शब्द दोषयुक्त परम्परा के साधुओं के लिए प्रयोग किया जाता था। पार्श्वापत्त्यीय शब्द भ० पार्श्व के शिष्यों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए किया जाता था। चतुर्थ आलेख डॉ. शुभचंद जैन (मैसूर)

ने 'पार्श्व और सुपार्श्व' विषय पर आंग्ल भाषा में पढ़ा। उन्होंने नाग जाति, पार्श्व प्रतिमाओं पर नाग का फण के विषय में रोचक जानकारी दी।

पंचम आलेख डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर ने 'पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय एवं सम्प्रदाय भेद' आलेख के माध्यम से जन्मतिथि, नामकरण, विवाह, दीक्षातिथि, जन्मकाल आदि के भेद की जानकारी दी। डॉ. जैन ने कहा है प्राचीन श्वेताम्बर साहित्य से स्पष्ट है कि वे पार्श्वनाथ को अविवाहित ही मानते रहे हैं। बहुत बाद में चलकर श्वेताम्बर परम्परा में पार्श्वनाथ के विवाह की बात समाविष्ट की गई।

परमपूज्य उपाध्याय श्री ने अपने शुभाशीर्वचन में कहा कि आज कृष्ण की जन्मभूमि पर कंस की जन्मभूमि का प्रभाव अधिक देखा जा रहा है। सराक जाति में अनेक परिवर्तन व्यवसायगत हो रहे हैं। सराक जाति पहले सम्पन्न थी तथा उनके मांझी उपाधि राजाओं से सम्मान में प्राप्त थी। आज भी उनमें जैनत्व के संस्कार हैं। पुरुलिया जिले के सराक पूर्णतः शाकाहारी हैं। वहां पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं नये मन्दिरों का निर्माण, पाठशालाओं की स्थापना एवं सराकों को रोजगार प्रशिक्षण एवं संम्बन्धित साधन प्रदान किये जा रहे हैं। उपाध्याय श्री ने विद्वानों से इस क्षेत्र में शोध एवं सहयोग का अनुरोध किया। सराकों में अगर बिना स्नान किये व्यक्ति की छाया पानी पर पड़ जाये तो उस पानी से महिलायें भोजन नहीं बनाती, पुरुष अपना भोजन स्वयं नहीं परोस सकते क्योंकि उनके कपड़े शुद्ध नहीं होते, बिना स्नान किये महिलायें चौका में नहीं जाती, विधवा विवाह एवं विजातीय विवाह उनमें नहीं होते। सराकों ने अपने संस्कार आज भी सुरक्षित रखे हैं। बिहार में भ० महावीर के विचारों का प्रतिपादन एवं पालन आज भी देखा जा सकता है। विवाह के समय सराक पार्श्व प्रभु को याद करते हैं। चरवाह जैसे कार्य करने वाले सराक भी णमोकार मंत्र एवं स्तुतियां जानते हैं। उपाध्याय श्री ने कहा कि विद्वानों द्वारा समाज एवं धर्म की पतित हो रही अवस्था को रोका जा सकता है। आज भी कई सराक बन्धु सराक जब कार्य पर

निकलते हैं तो घर से ही पानी पीने के लिए ले जाते हैं और पुनः घर आने पर ही पानी पीते हैं। आज वहां चेतना आयी है जिसे और बढ़ाने की आवश्यकता है। पूज्य उपाध्याय श्री ने सभी पठित आलेखों की प्रशंसा की।

आलेखवाचनक्रम में षष्ठ आलेख डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन (नीमच) ने 'भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता', प्रस्तुत किया। डॉ. कमलेश कुमार जैन (वाराणसी) ने अपने लेख 'भट्टारक सकलकीर्ति और उनका पार्श्वनाथ चरित्र' के माध्यम से कहा कि मरूभूमि का जीवन अहिंसा संस्कृति एवं कमठ का जीव हिंसा की संस्कृति को प्रतिष्ठित करता है।

अष्टम आलेख में डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी ने 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व और प्रभाव' का वाचन कर'लोकनायक भ० पार्श्व के चिन्तन का प्रभाव वैदिक तथा बौद्ध साहित्य पर पड़ा, इस बात के प्रमाण दिये।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी (बनारस) ने पठित आलेखों की समीक्षा की और कहा कि इतिहास का उद्घाटन और सत्य का उद्घाटन प्रमाणों पर आधारित होना चाहिए। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। पार्श्वनाथ की परम्परा तीर्थंकरों की परम्परा में एक नदी की धारा के समान है जो निरन्तर जुड़ती गई। स्वयं को आराध्य के साथ तादात्म्य करना प्रतिमा पूजन का उद्देश्य है। आचरण और व्यवहार में हम पार्श्व के प्रभाव को अंगीकार करें, यही हमारे पार्श्व सम्बन्धी चिन्तन का परिणाम होना चाहिए।

पंचम सत्र

दि० २०.१०.९७ (दोपहर)

परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज एवं परमपूज्य मुनि श्री वैराग्यसागर जी महाराज के सानिध्य में डॉ. प्रेम सुमन जैन (उदयपुर) की अध्यक्षता एवं डॉ. कमलेश कुमार जैन (वाराणसी) के

संयोजकत्व में 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ' संगोष्ठी का पंचम सत्र डॉ॰ नरेन्द्र कुमार जैन (सनावद) के द्वारा मंगलाचरण एवं निर्मल जैन द्वारा, दीप प्रज्जवलन के साथ प्रारम्भ हुआ। आलेखवाचन क्रम में सर्वप्रथम डॉ. प्रकाशचन्द जैन (दिल्ली) ने 'संस्कृत साहित्य में भगवान पार्श्वनाथ' विषय पर आलेख प्रस्तुत किया तथा भगवान् पार्श्वनाथ सम्बन्धी संस्कृत काव्यों एवं स्तोत्रों की जानकारी देते हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विध पक्षों का उल्लेख किया। द्वितीय वक्ता रूप में पं. उदयचंद जैन (वाराणसी) में 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ: कुछ विचारणीय बिन्दु' विषयक आलेख के माध्यम से तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा नाग नागिन को णमोकार मंत्र सुनाने एवं पद्मावती-धरणेन्द्र द्वारा उपसर्ग दूर कराने तथा फणयुक्त मूर्तियां बनाने का निषेध किया। तृतीय आलेख डॉ. एन. वसुपाल जैन (चेन्नई) 'पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता' विषय पर आंग्लभाषा में प्रस्तुत किया। आपने बताया कि बुद्ध और महावीर के समय भी पार्श्वनाथ तीर्थंकर के अनुयायी थे। अत: उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।

चतुर्थ आलेख डॉ. गोपीलाल अमर (दिल्ली) ने 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ और नाग परम्परा' विषयक आलेख के माध्यम से पार्श्वनाथ सम्बन्धी विविध पक्षों पर प्रकाश डाला। पंचम आलेख पं. नीरज जैन (सतना) ने 'पार्श्वप्रभु की उपसर्गयुक्त प्रतिमाऐं' विषयक आलेख के माध्यम से पार्श्व की इन उपसर्ग युक्त कृतियों की कलात्मक विशेषतायें बतायीं। षष्ठ आलेख श्री अनिल कुमार जैन (अहमदाबाद) ने 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा नाग जाति द्वारा नाग जाति' विषयक आलेख के माध्यम से नाग जाति के उद्भव एवं विकास तथा वर्तमान स्वरूप पर प्रकाश डाला। सप्तम आलेख श्री नन्दलाल जैन (रीवा) ने 'पार्श्वापत्य कथानक के आधार पर भ॰ पार्श्वनाथ के उपदेश' विषय पर विचारोत्तेजक आलेख प्रस्तुत किया।

अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. प्रेमसुमन जैन (उदयपुर) ने पठित आलेखों पर अपना अध्यक्षीय वक्तव्य दिया तथा कहा कि भगवान् पार्श्वनाथ के ऊपर विस्तृत एवं सटीक पुस्तक प्रकाशित होनी चाहिए।

स्थानीय श्री सुभाष जी पंकज ने इस संगोष्ठी को चौरासी मंदिर के इतिहास में अभूतपूर्व उपलब्धि बताया।

सभान्त में उपध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने अपना शुभाशीर्वाद देते हुए कहा कि जिनेन्द्र प्रभु की उपेक्षाकर पद्मावती की पूजा शोचनीय है। जैन धर्म वीतरागता पर आधारित है। इसमें पूजा के लिए स्वर्गिक देवी-देवताओं के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। आज जो दिगम्बर मूर्तियों को श्वेताम्बरीय एवं मूर्तियों के शिलालेख बदलवाने की कुचेष्टा कर रहे हैं उनसे सजग रहने की आवश्यकता है। आज कला, संस्कृति एवं साहित्य पर होने वाले कुठाराघात को रोकने की महती आवश्यकता है, ऐसा कर ही हम सच्चे सपूत बन सकते हैं।

अन्त में पार्श्वप्रभु की जयध्वनि के साथ सभा को समाप्त किया गया।

षष्ठ सत्र
दि. २०.१०.९७ (रात्रि)

परम पूज्य आध्यात्मिक संत उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के मंगल सानिध्य में श्री तीर्थंकर पार्श्वनाथ संगोष्ठी का षष्ठ सत्र डा. कमलेश कुमार जैन (वाराणसी) के द्वारा वीरप्रभु की स्तुति स्वरूप मंगलाचरण के माध्यम से श्री पं. नीरज जैन (सतना) की अध्यक्षता एवं डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी' के संयोजकत्व में सम्पन्न हुआ। आलेखवाचन क्रम में डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' (सनावद) ने 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्तियों का वैशिष्ट्य' आलेख के माध्यम से तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्तियों के अतिशय से सम्पन्न क्षेत्रों में भारत के विभिन्न प्रान्तों में विराजित भ. पार्श्व प्रभु की मूर्तियों की जानकारी दी। द्वितीय आलेख डॉ. लाल चन्द जैन ने 'अपभ्रंश साहित्य में भ. पार्श्वनाथ' विषय पर विक्रय सं. 10वीं से 16वीं तक के साहित्य में वर्णित पार्श्वनाथ सम्बन्धी साहित्य को रेखांकित करते हुए पार्श्व के जीवन के विषय में जानकारियां प्रदान की। डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी (वाराणसी) ने 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ

की मूर्तियां, लक्षण और वैशिष्ट्य' विषय पर आलेख पढ़ा एवं स्लाइड्स-प्रोजेक्टर के माध्यम से लन्दन एवं भारतीय म्युजियम्स तथा गुफाओं में उपलब्ध भ. पार्श्वनाथ की मूर्तियों को दिखाकर उनकी विशेषताओं से रूबरू अवगत कराया।

चतुर्थ आलेख वाचक के रूप में डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी (लखनऊ) ने 'माथुरी शिल्प में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का दुर्लभ चित्रांकन' विषय पर आलेख पाठ कर माथुरी शिल्प में निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्राचीन मूर्तियों एवं उनकी विशेषताओं के विषय में जानकारी दी तथा प्रोजेक्टर-स्लाइड्स के माध्यम से कुषाणकालीन मूर्तियां जो मथुरा से प्राप्त हुई हैं; उन्हें दिखाया और विस्तृत जानकारी दी। पंचम आलेख डॉ. जिनेश्वर दास जैन (जयपुर) द्वारा 'कम्बोडिया में अंगकोरवाट के पंचमेरू मन्दिर' विषयक आलेख पढ़ा एवं सम्बन्धित चित्र दिखाये किन्तु आलेख पाठक के मत से विद्वान सहमत नहीं हुए। सभान्त में श्री नीरज जैन (सतना) ने अपना अध्यक्षीय वक्तव्य दिया और पठित आलेखों की समीक्षा की।

सप्तम सत्र

दि. २१.१०.९७ (प्रातः)

परम पूज्य आध्यात्कि संत उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज एवं परमपूज्य मुनि श्री वैराग्यसागर जी महाराज के मंगल सानिध्य में श्री दि. जैन जम्बूस्वामी सिद्धक्षेत्र चौरासी मथुरा (उ.प्र.) में श्री गणेशवर्णी द्वारा संयोजित 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ राष्ट्रीय संगोष्ठी' का यह समापन सत्र श्रीमान् डा. देवेन्द्र कुमार जैन (नीमच) की अध्यक्षता एवं डॉ. प्रेमचन्द जैन (नजीबाबाद) के संयोजकत्व में श्री पं. मुन्ना लाल जैन (ललितपुर) के द्वारा मंगलाचरण से प्रारम्भ इस सत्र में डॉ. सीमा जैन (जबलपुर) ने 'ऐतिहासिकता के क्रम में भ० पार्श्वनाथ की भूमिका' विषय पर आलेख पाठ करते हुए भ० पार्श्वनाथ के वृहत, अनुयायियों, तीर्थों, साहित्य,

शिल्प में उल्लेख का स्मरण करते हुए उनकी ऐतिहासिकता का औचित्य सिद्ध किया। द्वितीय आलेख पं. निर्मल जैन (सतना) ने 'कहां हुआ कमठ का उपसर्ग' अहिच्छेत्र एवं बिजौलिया का परिचय देकर बिजौलिया को उपसर्ग स्थली बताया किन्तु विद्वान् इससे सहमत नहीं हुए। तृतीय आलेख डॉ. सुरेशचन्द जैन (वाराणसी) ने 'काशी की श्रमण परम्परा और पार्श्वनाथ' विषयक आलेख के माध्यम से काशी की ऐतिहासिकता एवं श्रमण परम्परा के साक्ष्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला। संगोष्ठी संयोजक डॉ. अशोक कुमार जैन (रुड़की) ने अपने उद्बोधन के माध्यम से पार्श्वनाथ के समय की वास्तविक शोध एवं जैन संस्कृति के संरक्षण की अपील की। बाल देवर्द्धि मिलिन्द (मैसूर) ने मंगल श्लोकों का पाठ किया। संगोष्ठी का प्रतिवेदन डॉ. जयकुमार जैन (मु॰नगर) ने प्रस्तुत किया। तदन्तर॰ डॉ. प्रकाश चन्द जैन (दिल्ली) संगोष्ठी की उपलब्धियों पर संस्कृत रचना प्रस्तुत की। सभी आगन्तुक विद्वानों को प्रशस्ति पत्र ग्रंथ पुष्पहार एवं तिलक लगाकर सम्मान दिया गया।

संगोष्ठी के प्रति अपना दृष्टिकोण डॉ. शुभचन्द जैन (मैसूर) एवं डॉ. मारूतिनन्दन तिवारी ने व्यक्त किया तथा इस संगोष्ठी को उत्तर एवं दक्षिण के मेल का प्रमुख सफल आयाम निरूपित किया।

श्री जम्बूस्वामी दि. जैन सिद्धक्षेत्र चौरासी मथुरा के अध्यक्ष श्री सेठ विजय कुमार जैन ने संगोष्ठी में आगन्तुक विद्वानों के प्रति आभार माना तथा कहा कि आप सबके विचारों से हमें (मथुरावासियों को भी) मथुरा की जैन मूर्तियों का परिचय मिला उन्होंने श्री जम्बूस्वामी एवं मथुरा के मूर्ति शिल्प पर एक पृथक सेमिनार एवं परिचयात्मक ग्रंथ बनाने हेतु आगे आने की अपील की।

डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन ने अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में कहा कि पूरे देश में प्रथम बार तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन एवं साहित्य के विषय

में विचार मन्थन हुआ। अन्त में परम पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज ने अपने मंगल आशीर्वाद में कहा कि विद्वानों को एक आलेख तैयार करने में कई महीने प्रयास करना पड़ता है। समाज को इन जिनवाणी के सेवकों का सम्मान करना चाहिए। पार्श्व प्रभु की जयध्वनि के साथ संगोष्ठी का समापन हुआ।

डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन भारती

बुरहानपुर

तीर्थंकर पार्श्वनाथ
ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में

आयोजक	: श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी
संगोष्ठी स्थल	: श्री 1008 जम्बू स्वामी दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र, चौरासी-मथुरा
प्रेरक एवं सान्निध्य	: परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज

कार्यक्रम

प्रथम सत्र	**: 19.10.97 समय : 10.00 से 12.00**
मंगलाचरण	: डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन ''भारती''
दीपप्रज्वलन	: डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना
अध्यक्षता	: श्री नीरज जैन, सतना
मुख्य अतिथि	: श्री डॉ. जितेन्द्र कुमार, निदेशक, पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा
संगोष्ठी संयोजक	: श्री डॉ. अशोक कुमार जैन, रुड़की (संस्थान परिचय एवं संगोष्ठी का संक्षिप्त विवरण)
विद्वत् परिचय	: डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी
स्वागत	: डॉ. जयप्रकाश जैन, मंत्री श्री जम्बू स्वामी, सिद्ध क्षेत्र, मथुरा
आलेख	: 1. डॉ. प्रेमसुमन जैन (प्राकृत साहित्य में पार्श्वनाथ) 2. डॉ. जितेन्द्र कुमार जैन (मथुरा एवं जैन परम्परा)

अध्यक्षीय उद्बोधन : श्री नीरज जैन

पूज्य उपाध्याय श्री का आशीर्वचन

द्वितीय सत्र : 19.10.97 समय : अपरान्ह 1.30 से 4.30

मंगलाचरण : डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी

दीप प्रज्वलन : पं. उदयचन्द जैन, वाराणसी

अध्यक्षता : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना

संस्कृत काव्य पाठ : डॉ. प्रकाश चन्द जैन, दिल्ली

आलेख : 1. डॉ. प्रेम चन्द जैन, नजीबाबाद
2. डॉ. एस. पी.. पाटिल, धारवाड़
3.. डॉ. नलिन शास्त्री, गया
4. डॉ. अशोककुमार जैन, ग्वालियर

लोकार्पण : 1. तिलोयपण्णति
2. पं. महेन्द्र कुमार जैन-स्मृतिग्रन्थ

अध्यक्षीय वक्तव्य : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

तृतीय सत्र : शिल्प एवं पुरातत्त्व में तीर्थंकर पार्श्वनाथ

दिनांक : 19.10.97 समय : 7.00 से 9.30

मंगलाचरण : डॉ. जय कुमार जैन, मुजफ्फरनगर

अध्यक्षता : पं. उदयचन्द जैन, वाराणसी

सत्र संयोजन : डॉ. सुरेशचन्द जैन, वाराणसी

आलेख : 1. डॉ. सुरेन्द्र जैन "भारती", बुरहानपुर
2. डॉ. अभय प्रकाश जैन, ग्वालियर
3. डॉ. अशोक कुमार जैन, लाडनूं
4. डॉ. कपूर चन्द जैन, खतौली
5. डॉ. सत्य प्रकाश जैन, दिल्ली

अध्यक्षीय वक्तव्य : पं. उदयचन्द जैन

चतुर्थ सत्र : **जैन साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ**

दिनांक : **20.10.97 समय : प्रातः 8 से 10.30**

मंगलाचरण : ब्र. सीमा जैन एवं ब्र० मीना जी

अध्यक्षता : डॉ. मारुति नन्दन तिवारी

सत्र संयोजन : डॉ. अशोक कुमार जैन, लाडनूं

आलेख : 1. डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना
2. डॉ. कुन्दनलाल जैन, दिल्ली
3. डॉ. रमेश चन्द जैन, बिजनौर
4. डॉ. शुभ चन्द्र, मैसूर
5. डॉ. जय कुमार जैन, मुजफ्फरनगर
6. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच
7. डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी
8. डॉ. फूलचन्द प्रेमी, वाराणसी

अध्यक्षीय वक्तव्य : डॉ. मारुति नन्दन तिवारी

पञ्चम सत्र : **जैन साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ**

दिनांक : **20.10.97 समय : अपरान्ह 1.30 से 4.30**

मंगलाचरण : डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, सनावद

दीप प्रज्वलन : पं. निर्मल जैन, सतना

अध्यक्षता : डॉ. प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

सत्र संयोजन : डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी

आलेख : 1. डॉ. प्रकाशचन्द जैन, दिल्ली
2. पं. उदयचन्द जैन, वाराणसी
3. डॉ. एन वासुपाल, चेन्नई
4. डॉ. गोपीलाल अमर, दिल्ली
5. पं. नीरज जैन, सतना
6. श्री अनिल कुमार जैन, अहमदाबाद
7. डॉ. नन्दलाल जैन, रीवां

अध्यक्षीय वक्तव्य : डॉ. प्रेम सुमन जैन

उद्बोधन : पूज्य उपाध्याय श्री

षष्ठ सत्र : इतिहास एवं विज्ञान के आलोक में पार्श्वनाथ
दिनांक : 20.10.97 समय : सांयकाल 7 से 9

मंगलाचरण	: डॉ. कमलेश कुमार जैन
अध्यक्षता	: पं. नीरज जैन, सतना
सत्र संयोजक	: डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी
आलेख	: 1. डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन भारती, सनावद 2. डॉ. लाल चन्द जैन, वैशाली 3. डॉ. मारुति नन्दन तिवारी, वाराणसी 4. डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी, लखनऊ 5. डॉ. जिनेश्वर दास जैन, जयपुर
अध्यक्षीय वक्तव्य	: पं. नीरज जैन

सप्तम सत्र : तीर्थंकर पार्श्वनाथ : विविध पक्ष
दिनांक : 21.10.97 समय : प्रातः 8 से 10.30

मंगलाचरण	: पं. मुन्ना लाल जैन, ललितपुर
अध्यक्षता	: डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, नीमच
सत्र संयोजन	: डॉ. प्रेम चन्द जैन, नजीबाबाद
आलेख	: 1. डॉ. सीमा जैन, जबलपुर 2. पं. निर्मल जैन, सतना 3. डॉ. सुरेश चन्द जैन, वाराणसी
संयोजकीय वक्तव्य	: डॉ. अशोक कुमार जैन, रुड़की
संगोष्ठी समीक्षा	: डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
विद्वानों का सम्मान	: श्री सेठ विजयकुमार जैन, मथुरा, डॉ. जय प्रकाश जैन, मथुरा,
आभार एवं धन्यवाद ज्ञापन	: श्री सेठ विजयकुमार जैन
अध्यक्षीय वक्तव्य	: डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच
उद्बोधन	: पूज्य उपाध्यायश्री

संगोष्ठी में समागत विद्वानों की सूची

१. डॉ. एन. वासुपाल
रीडर तथा विभागाध्यक्ष
जैनालाजी विभाग
मद्रास विश्वविद्यालय, चेपक
चेन्नई - ६०० ००५

२. डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
सपर्या
२२३/१०, रस्तोगी टोला
राजा बाजार
लखनऊ - २२६ ००३

३. डॉ. अशोक कुमार जैन
जैन विद्या एवं तुलनात्मक
दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं - नागौर (राज.)
पिन - ३४१ ३०६

४. श्री निर्मल जैन, सदस्य
सुषमा प्रेस कम्पाउन्ड
सतना - ४८५ ००१ (म.प्र.)

५. श्री नीरज जैन
शान्ति सदन, कम्पनी बाग
सतना (म. प्र.)
पिन - ४८५ ००१

६. डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
पी.एन. सिन्हा कॉलोनी
भिखना पहाड़ी,
पटना - ८०० ००६

७. डॉ. एस. पी. पाटिल
अध्यक्ष, जैनालाजी विभाग
कर्नाटक विश्वविद्यालय
धारवाड़ - ५८० ००३

८. श्री जे. डी. जैन
ए-२, श्रीजी नगर
दुर्गापुरा, जयपुर - ३०२ ०१८

९. डॉ. रमेशचन्द्र जैन
जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ. प्र.)

१०. डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन
ए-१७० न्यू इन्दिरा नगर
बुरहानपुर (म. प्र.)

११. डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन
द्वारा श्री बालकराम चौधरी गुर्जर
३४, गोपाल निवास,
एम.जी. रोड़ सनावद,
जिला खरगौन (म.प्र.)

१२. डॉ. सीमा जैन
पुत्री - श्री अजित कुमार जैन
एडवोकेट
१८, सिविल लाइन्स
ललितपुर (उ. प्र.)

१३. डॉ. गोपीलाल जी अमर
भारतीय ज्ञानपीठ
१८, इंस्टीट्यूटशनल एरिया
नयी दिल्ली - ११० ००३

१४. डॉ. अभय प्रकाश जैन
एन - १४, चेतक पुरी
ग्वालियर - ४७४ ००९

१५. डॉ. अनिल कुमार जैन
१२, शारदा कृपा सोसाइटी
पो. आ. चाँदखेड़ा
अहमदाबाद - ३८२ ४२४

१६. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री
उपनिदेशक
भारतीय ज्ञानपीठ
१८, इंस्टीट्यूशनल एरिया
नयी दिल्ली - ११० ००३

१७. डॉ. लालचन्द जैन
प्राकृत शोध संस्थान
वैशाली, मुजफ्फरपुर - (बिहार)

१८. डॉ. अशोक कुमार जैन
१२, शीतल कॉलोनी
बलवन्त नगर
ग्वालियर (म. प्र.)

१९. श्री जितेन्द्र कुमार
निदेशक
मथुरा संग्रहालय
मथुरा (उ. प्र.)

२०. पं. कुन्दनलाल जी जैन
श्रुत कुटीर, युधिष्ठिर गली
८, विश्वास मार्ग, शाहदरा
दिल्ली - ३२

२१. डॉ. पद्मजा पाटिल
इतिहास विभाग
शिवाजी विश्वविद्यालय
कोल्हापुर - ४१६ ००४

२२. डॉ. कमलेशकुमार जैन
बी. २/२४९, लेन नं. १४
रवीन्द्रपुरी
वाराणसी - २२१ ००५
फोन - ०५४२-३१५३२३

२३. डॉ. नलिन शास्त्री
वनस्पति विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, गया (बिहार)

२४. डॉ. सत्य प्रकाश जैन
बी. १७३, सूरजमल विहार
दिल्ली - ११० ०९२

२५. डॉ. शुभ चन्द्र
जैनालाजी एवं प्राकृत विभाग
मैसूर विश्वविद्यालय
मैसूर - ५७० ००६

२६. प्रो. प्रेमसुमन जैन
२९, सुन्दर निवास (नार्थ)
उदयपुर - ३१३ ००१ (राज.)

२७. प्रो. उदयचन्द्र जैन
१२२-बी, रवीन्द्रपुरी
लेन नं. ११
वाराणसी - २२१ ००५
फोन - ०५४२-३१२३२२

२८. डॉ. नन्दलाल जैन
१२/६४४, बजरंग नगर
रीवा - ४८६ ००१ (म. प्र.)

२९. डॉ. प्रेमचन्द्र जैन
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
साहू जैन कालेज
नजीबाबाद - २४६ ८६३

३०. श्री सत्येन्द्र कुमार जैन
आचार्य विद्यासागर शोध संस्थान
जबलपुर

३१. डॉ. (श्रीमति) जैनमति जैन
जैन बाबा विश्राम
धरहरा (भोजपुर),
बिहार

३२. श्रीमति सरोज जैन
२९, सुन्दर निवास (नार्थ)
उदयपुर - ३१३ ००१ (राज.)

३३. डॉ. अशोक कुमार जैन,
संयोजक
२०३/५, सरस्वती कुंज
रुड़की विश्वविद्यालय
रुड़की - २४७ ६६७
(उ. प्र.)
फोन - ०१३३२-७४१४४

३४. डॉ. जयकुमार जैन,
सहसंयोजक
२६१/३, पटेल नगर
नई मण्डी,
मुजफ्फर नगर - २५१ ००१
फोन - ०१३१-४०३७३०

३५. डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, सचिव
श्री गणेश वर्णी दिगंबर जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी - २२१ ००५
फोन - ०५४२-३१४०९८

३६. डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी
बी. २३/४५, पी-६, शारदा नगर
नवाबगंज मार्ग, वाराणसी - २२१ ०१०
फोन - ०५४२-३१५४५१

३७. डॉ. कपूरचन्द्र जैन, सदस्य

स्टाफ क्वार्टर नं. ६
श्री कुन्दकुन्द महाविद्यालय
खतौली - २५१ २०१,
फोन - ०१३१६-७३३३९.

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में
आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी

राष्ट्रीय परामर्श मंडल

1. डॉ. मंडन मिश्र, कुलपति, संपूर्णानंद विश्वविद्यालय, वाराणसी
2. डॉ. मधुसूदन ढाकी, अमेरिकी संस्थान, रामनगर, वाराणसी
3. श्री नीरज जैन, सतना
4. डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी, कला-इतिहास विभाग, का॰हि॰वि॰वि॰, वाराणसी
5. डॉ. नन्दलाल जैन, रीवाँ
6. डॉ. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जबलपुर
7. डॉ. नेमीचन्द जैन, इन्दौर
8. डॉ. सागरमल जैन, वाराणसी
9. प्रो. उदयचन्द जैन, वाराणसी

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी

संयोजन समिति

1. डॉ. अशोक कुमार जैन, संयोजक
   203/5, सरस्वती कुंज
   रुड़की विश्वविद्यालय
   रुड़की-247 667 (उ. प्र.)

2. डॉ. जयकुमार जैन, सहसंयोजक
   261/3, पटेल नगर
   नई मण्डी
   मुजफ्फरनगर-251 001

3. डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, सचिव
   श्री गणेश वर्णी दिगंबर जैन संस्थान
   नरिया, वाराणसी-221 005

4. डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी
   बी. 23/45, पी-6, शारदा नगर
   नवाबगंज मार्ग
   वाराणसी-221 010

5. डॉ. कपूरचन्द्र जैन, सदस्य
   स्टाफ क्वार्टर नं. 6
   श्री कुन्दकुन्द महाविद्यालय
   खतौली - 251 201

पार्श्व परम्परा के उत्तरवर्ती साधु और उनका स्वरूप 43
डॉ. रमेशचन्द्र जैन

पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्य और सम्प्रदाय भेद 50
डॉ. जयकुमार जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता तथा अपभ्रंश साहित्य विषयक उल्लेख 57
डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री

कहाँ हुआ कमठ का उपसर्ग 61
श्री निर्मल जैन

काशी की श्रमण परम्परा और तीर्थंकर पार्श्वनाथ 69
डॉ. सुरेशचन्द्र जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी व्यक्तित्व और चिन्तन 79
डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

जैन एवं जैनेतर साहित्य में पार्श्वनाथ 85
श्री सत्येन्द्र कुमार जैन

भगवान पार्श्वनाथ उपदिष्ट चातुर्याम धर्म 92
डॉ. (श्रीमती) जैनमती जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव 100
डॉ. अशोक कुमार जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा नाग जाति 108
डॉ. अनिल कुमार जैन

Pasrvanath as seen in Maha-Purana and Cavundaraya Purana : A Comparative Study 116
Dr. S.P. Patil

पार्श्व परम्परा के उत्तरवर्ती साधु और उनका स्वरूप 43
डॉ. रमेशचन्द्र जैन

पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्य और सम्प्रदाय भेद 50
डॉ. जयकुमार जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता तथा अपभ्रंश साहित्य विषयक उल्लेख 57
डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री

कहाँ हुआ कमठ का उपसर्ग 61
श्री निर्मल जैन

काशी की श्रमण परम्परा और तीर्थंकर पार्श्वनाथ 69
डॉ. सुरेशचन्द्र जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी व्यक्तित्व और चिन्तन 79
डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

जैन एवं जैनेतर साहित्य में पार्श्वनाथ 85
श्री सत्येन्द्र कुमार जैन

भगवान पार्श्वनाथ उपदिष्ट चातुर्याम धर्म 92
डॉ. (श्रीमती) जैनमती जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव 100
डॉ. अशोक कुमार जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा नाग जाति 108
डॉ. अनिल कुमार जैन

Pasrvanath as seen in Maha-Purana and Cavundaraya Purana : A Comparative Study 116
Dr. S.P. Patil

Historicity of Tirthankara Pasrvanatha and his Workship 124
Dr. N. Vasupal

मराठी साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ 134
डॉ. पद्मजा पाटिल

अपभ्रंश साहित्य में पार्श्वनाथ 145
प्रो. डॉ. लालचन्द जैन

भट्टारक सकलकीर्ति और उनका पार्श्वनाथचरितम् 168
डॉ. कमलेश कुमार जैन

जैन स्तोत्र और भगवान पार्श्वनाथ 179
डॉ. कपूरचन्द जैन

अपभ्रंश भाषा के पार्श्वनाथचरित-एक विमर्श 185
श्रीमती सरोज जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा – के आलोक में भगवान् पार्श्वनाथ 191
डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन (भारती)

प्रथमानुयोग में तीर्थंकर पार्श्वनाथ 210
प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन एवं ब्र. कुमारी मीना जैन

आचार्य जिनसेन (द्वितीय) और उनका 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य 231
डॉ. श्रीरंजनसूरि देव

शिल्पकला एवं स्थापत्य के विविध आयामों में भगवान् पार्श्वनाथ 242
डॉ. सुश्री सीमा जैन

Supasrhva and Pasrhva - Some Reflections 244
Prof. Shubhachandra

Tirthankara Pasrvanatha and Naga-Cult 253
Acharya Gopilal Amar

एक जननायक तीर्थंकर : भगवान् पार्श्वनाथ 260
डॉ. नलिन के. शास्त्री

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्तियां : लक्षण और वैशिष्ट्य 265
डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी

शैल चित्रकला संपदा और भगवान पार्श्वनाथ 273
डॉ. अभयप्रकाश जैन

माथुरी शिल्प में दुर्लभ पार्श्वांकन 278
डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी

पाषाण प्रतिमाओं में रूपायित तीर्थंकर पार्श्वनाथ 284
श्री नीरज जैन

भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियों का वैशिष्ट्य 303
डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में 322
डॉ. प्रेमचन्द्र जैन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में 331
डॉ. प्रेमचन्द्र जैन

प्रभु पार्श्व की कतिपय कलापूर्ण ऐतिहासिक प्रतिमायें 336
श्री कुन्दन लाल जैन

परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सानिध्य में तीर्थऽकर पार्श्वनाथ संगोष्ठी में बोलते हुये शुभचन्द्र जी मैसूर बैठे हुये डा० अशोक जी, पं० नीरज जी, फूलचन्द्र प्रेमी आदि विद्वतगण।

परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सानिध्य में आयोजित संगोष्ठी के अवसर पर विद्वानों की एक झलक।

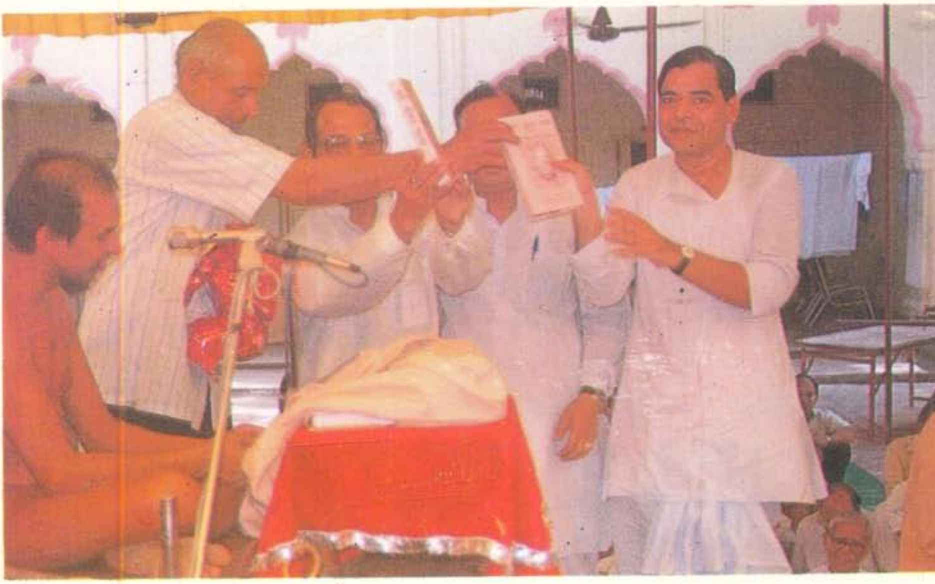

मेरठ में परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सानिध्य में श्री गणेश प्रसाद जी द्वारा लिखित मेरी जीवन गाथा पुस्तक का विमोचन करते हुये डा० रमेशचंन्द्र जैन, डा० फूलचन्द्र जैन, डा० सुरेशचन्द्र जैन एवं डा० कमलेश कुमार जैन।

परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सानिध्य में पार्श्वनाथ संगोष्ठी में बैठे हुये डा० अशोक जी, डा० सुरेश जी, डा० उदयचन्द्र जी, डा० प्रेम सुमन आदि विद्वतगण।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

–उपाध्याय ज्ञानसागर महाराज

भारतवर्ष के धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक जीवन में जिन महान् विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर देवाधिदेव भगवान् पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। यही कारण है कि उनके पावन जीवन को जनमानस में प्रचारित-प्रसारित करने की भावना से अनेक कवियों ने प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में प्रचुर साहित्य की सरंचना की है। भगवान् पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी के समान ही एक ऐतिहासिक महामानव तथा इस कालचक्र की चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर है। महावीर के पिता सिद्धार्थ तथा माता त्रिशला पार्श्वापत्यीय थे। आठवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य देवसेन ने दर्शनसार नामक अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है महात्मा बुद्ध प्रारंभ में जैन थे। उन्होंने जैनाचार्य पिहितास्रव से सरयू नदी के तट पर अवस्थित पलाश नामक ग्राम में पार्श्वनाथ की परम्परा के संघ में दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षा के पश्चात् उनका नाम बुद्धकीर्ति रखा गया था। बौद्धधर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' में यह सिद्ध करने का सयुक्तिक प्रयास किया है कि महात्मा बुद्ध ने भ० पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम धर्म को ही मध्यम मार्ग करके अपने धर्म में समाविष्ट किया है। चातुर्याम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य का ग्रहण किया गया है। श्री कौशाम्बी के अनुसार अपरिग्रह का समावेश तो देशकालोचित परिस्थितियों के अनुसार महावीर स्वामी ने किया है। यदि ऐसा न किया गया होता तो धर्म स्थिर नहीं रह सकता था।

मज्झिमनिकाय और महासीहनादसुत्त में बुद्ध ने स्वयं अपनी तपश्चर्या के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए वस्त्र रहित रहने, हाथों से

आहार ग्रहण करने, दाढ़ी एवं मूछों के केशलोंच करने तथा शीतोष्ण परिषह सहन करने का उल्लेख किया है, जो सम्पूर्ण जैन धर्ममान्य चर्या है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों को पार्श्वनाथ की परम्परा विरासत में मिली थी। बौद्धग्रन्थ अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा के मतानुसार गौतम बुद्ध के चाचा वप्प निर्ग्रन्थ श्रावक थे। न्यग्रोध नामक उद्यान में वप्प और गौतम बुद्ध का कुछ धार्मिक विषयों पर संवाद भी हुआ था।

जैन शास्त्रों की मान्यतानुसार पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बीत जाने पर महावीर स्वामी का जन्म हुआ था। वीरनिर्वाण संवत् और ईस्वी सन् में 527 वर्ष का अन्तर है। भगवान् महावीर की आयु कुछ कम 72 वर्ष की थी। अतएव 527+72=599 ईस्वीपूर्व में महावीर का जन्म सिद्ध होता है। इसके 250 वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ था तथा उनकी आयु 100 वर्ष थी। इस प्रकार 599+350=949 ईस्वीपूर्व में भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म होना प्रमाणसिद्ध है। डॉ॰ हर्मन जैकोबी ने मज्झिमनिकाय में विद्यमान एक विवाद का उल्लेख किया है, जो सच्चक और बुद्ध के मध्य हुआ था। सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ था परन्तु सच्चक स्वयं निर्ग्रन्थ नहीं था। उसने तो भगवान महावीर को भी पराजित करने की गर्वोक्ति की है। बुद्ध और महावीर स्वामी का समय प्रायः एक है, प्रत्युत महात्मा बुद्ध आयु में भगवान महावीर से कुछ ज्येष्ठ ही है। बुद्ध के पूर्वजों का निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय पार्श्वापत्यीय ही था, यह बात उनके चाचा वप्प के पार्श्वापत्यीय होने से सिद्ध है। भगवान् महावीर ने स्वयं कहा है कि मैं उस धर्म का प्रचार कर रहा हूँ, जो मुझसे पूर्व भगवान पार्श्वनाथ ने किया था। अतः भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म पौष कृष्णा एकादशी को काशीदेश के वाराणसी नामक नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम अश्वसेन (विश्वसेन) तथा माता का नाम ब्राह्मी (वामा) था। इनकी माता के नाम का वम्मा और वम्मिला भी उल्लेख मिलता है। जो भाषाविज्ञानमत वैभिन्य प्रतीत होता है। वे उग्रवंशी काश्यपगोत्री क्षत्रिय थे। कहीं-कहीं

उन्हें इक्ष्वाकुवंशी भी उल्लिखित किया गया है। पार्श्व की माता जब गार्भिणी थी, तब उन्होंने पार्श्व=पास में एक सर्प देखा था, इसी कारण उनका नाम पार्श्व रखा गया था। कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया है कि जन्मकल्याणक के समय इन्द्र ने उनका नामकरण पार्श्व किया था। पार्श्व की आयु जब 16 वर्ष थी तब उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई। एक बार वे वनक्रीड़ा के लिए उद्यान में गये। वहाँ उनका नाना महीपाल पत्नी के वियोग से दुःखी होकर पंचागिन तप कर रहा था। वह तापस एक लकड़ी को काटने ही वाला था कि कुमार पार्श्व ने उसे रोकते हुए कहा कि इसमे दो प्राणी हैं, इसे मत काटो। परन्तु घमण्ड के कारण तापस महीपाल नहीं माना। उसके कुल्हाड़े से एक नागयुगल कट गया। कुमार पार्श्व ने दयार्द्र भाव से उस नागयुगल को पञ्चनमस्कार मन्त्र सुनाया। इस मन्त्र के प्रभाव से वह नागयुगल धरणेन्द्र एवं पद्मावती नामक नागजातीय देवयुगल के रूप में उत्पन्न हुए।

कुमार पार्श्व ने 30 वर्ष की अवस्था में अयोध्या नरेश जयसेन के दूत द्वारा प्रसंगतः आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का वर्णन सुना। इसे सुनकर वे संसार से विरक्त हो गये तथा 300 अन्य राजाओं के साथ पौष कृष्णा एकादशी को दीक्षा ग्रहण कर ली। केशलौंच करने के बाद वे गुल्मखेट नगर पहुँचे जहाँ राजा धन्य ने उन्हें नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया। सम्पूर्ण दिगम्बर परम्परा पार्श्वनाथ को बालयति (अविवाहित) मानती है। श्वेताम्बर परम्परा में भी विवाह का उल्लेख बहुत अर्वाचीन है। श्वेताम्बर ग्रन्थ आवश्यक निर्युक्ति और कल्पसूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है कि उन्होंने स्त्री और अभिषेक के बिना कुमारावस्था में प्रव्रज्या ली थी। समवायांग सूत्र में विवाह का प्रसंग ही नहीं उठाकर केवल इतना कहा गया है कि पार्श्वनाथ ने कुमारवस्था में ही दीक्षा ले ली थी। वि॰ सं॰ 925 में शीलांक ने 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' में सर्वप्रथम उल्लेख किया है कि राजा प्रसेनजित् की पुत्री प्रभावती से उनका विवाह हुआ था। यह उल्लेख शीलांक ने किस आधार पर किया है - यह कहना संभव नहीं है। इसके बाद 13वीं शताब्दी के हेमचन्द्राचार्य तथा

17वीं शताब्दी के पद्मसुन्दरसूरि नामक विद्वानों ने शीलांक का अनुसरण किया है तथा अपने ही मान्य आगम ग्रन्थों आवश्यक निर्युक्ति एवं कल्पसूत्र के कथन को नहीं माना - यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ तपस्या में लीन थे कि पूर्व जन्म का बैरी शम्बर देव आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। अकस्मात् उसका विमान रूक गया। पूर्वजन्म के बैरवश उसने अनेक उपसर्ग किये तथा गर्जना के साथ महावृष्टि करना प्रारंभ कर दीं। अवधिज्ञान से धरणेन्द्र व पद्मावती ने उपसर्ग को जाना। और उस उपसर्ग का निवारण किया। मोहनीय कर्म के क्षीण हों जाने से शम्बरकृत उपसर्ग स्वतः दूर हो गया। धरणेन्द्र और पद्मावती तो केवल निमित मात्र हुये। चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई तथा 69 वर्ष 7 माह तक विहार करने के बाद वे निर्वाण के 1 माह पूर्व 36 मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर विराजमान हो गये। वहीं से उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। निर्ग्रन्थ परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का सम्मान भारतीय जनमानस में इसी से द्योतित होता है कि जहाँ जैन परम्परा उनकी निर्वाण स्थली सम्मेद शिखर जी को कहती है, वहाँ जनसामान्य उसे पारस पहाड़ी नाम से जानता है। बिहार व बंगाल में तो सभी उन्हें समान रूप से पूजते हैं तथा अपने को धन्य मानते हैं।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ : कुछ विचारणीय बिन्दु

— *पं० उदयचन्द्र जैन**

१. काल विचार

प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ तेईसवे तीर्थंकर हैं। कुछ जैन बिद्वानों के अनुसार पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद २५० वर्ष बीत जाने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। यदि भगवान् महावीर का जन्म ईसा पूर्व ५९९ में मान्य है तो पार्श्वनाथ का निर्वाण ईसापूर्व ८४९ में और जन्म ९४९ में सिद्ध होता है। इस हिसाब से पार्श्वनाथ के जन्म के वर्ष से इस समय २९४६ वर्ष बीत चुके हैं और तीन हजार वर्ष पूरे होने में अभी ५४ वर्ष शेष हैं। तथा इस समय पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् २८४६ बर्ष हो गये हैं।

एक विद्वान डॉ० एच. सी. राय चौधरी ने Political History of India (P. 97) में लिखा है कि पार्श्वनाथ का जन्म ईसापूर्व ८७७ में और निर्वाण ईसापूर्व ७७७ में हुआ था। इनके मत के अनुसार पूर्वोक्त जन्मवर्ष और निर्वाण वर्ष में ७२ वर्ष का अन्तर प्राप्त होता है। आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रन्थ के चतुर्थ अधिकार में लिखा है कि पार्श्वनाथ भगवान् महावीर के २७८ वर्ष पहले हुए थे। इस मत के अनुसार भी यही सिद्ध होता है कि पार्श्वनाथ का जन्म ईसापूर्व ८७७ में और निर्वाण ईसापूर्व ७७७ में हुआ था। आचार्य यतिवृषभ के मत के अनुसार पार्श्वनाथ के जन्म वर्ष से तीन हजार वर्ष पूरे होने में अभी १२६ वर्ष शेष हैं।

आचार्य गुणभद्र का मत भी ऐसा ही है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ के निर्वाण के २५० वर्ष के बाद महावीर का निर्वाण हुआ था। उन्होंने उत्तरपुराण में लिखा है —

* *सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी*

पार्श्वेशतीर्थ सन्ताने पञ्चाशत्द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तर वर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान्।। ७४/२४९

इसका अर्थ यह है कि पार्श्वनाथ के बाद २५० वर्ष बीत जाने पर महावीर हुए। उनकी आयु भी इसी में शामिल है। अर्थात् पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। इस मत के अनुसार भी पार्श्वनाथ का जन्म ईसापूर्व ८७७ में और निर्वाण ७७७ में हुआ था। अतः यह मान्यता गलत प्रतीत होती है कि पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद २५० वर्ष बीत जाने पर महावीर का जन्म हुआ था तथ्य यह है कि पार्श्वनाथ के निर्वाण के १७८ वर्ष बाद महावीर का जन्म हुआ था और २५० वर्ष बाद निर्वाण हुआ था। पार्श्वनाथ का निर्वाण ईसापूर्व ७७७ में हुआ था और महावीर का निर्वाण ईसापूर्व ५२७ में हुआ था। अतः पार्श्वनाथ के जन्म वर्ष से तीन हजार वर्ष पूरे होने में अभी १२६ वर्ष शेष हैं और निर्वाण वर्ष से तीन हजार वर्ष पूरे होने में अभी २२६ वर्ष शेष हैं।

२. जन्म स्थान तथा माता–पिता

जैन पौराणिक मान्यतानुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में राजा विश्वसेन के यहाँ माता ब्रह्मा देवी के गर्भ से हुआ था। तिलोयपणत्ति के अनुसार पार्श्वनाथ के पिता का नाम हयसेन और माता का नाम वर्मिला था। उत्तरपुराण के अनुसार पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्रह्मा देवी था। वादिराजसूरि कृत पार्शवनाथ चरित के अनुसार पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्रह्मदत्ता था। तथा समवायांग नामक आगम ग्रन्थ में पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामा देवी बतलाया गया है।

पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की थी और वे कुमार अवस्था में ही प्रवृजित हो गये थे। उन्होंने न विवाह किया और न राज्य किया। उनका कुमार काल ३० वर्ष, छद्मस्थ काल था दीक्षा लेने के बाद तपस्या काल ४ माह और केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर अर्हन्त अवस्था काल ६९ वर्ष ८ माह रहा है।

३. पार्श्वनाथ और कमठ का वैर

पार्श्वनाथ के जन्म के पूर्व नौ भवों से पार्श्वनाथ के जीव और कमठ के जीव में वैर चलता रहा। वैर का प्रारंभ इस प्रकार हुआ। पोदनपुर नामक नगर में विश्वभूति नामक एक शास्त्रज्ञ ब्राह्मण रहता था। कमठ और मरुभूति नामक उसके दो पुत्र थे। कमठ की पत्नी का नाम वरुणा था और मरुभूति की पत्नी का नाम वसुंधरा था। कमठ दुराचारी और पापी था। इसके विपरीत मरुभूति सदाचारी और धर्मात्मा था। मरुभूति की पत्नी वसुंधरा के निमित्त से उन दोनों सहोदर भाइयों के बीच एक ऐसी घटना घटित हुई जिसके कारण कमठ ने अपने छोटे भाई मरुभूति को मार डाला। इसी घटना के कारण कमठ और मरुभूति के जीवों में वैर प्रारंभ हो गया। पाप कर्म के कारण कमठ का जीव अनेक दुर्गतियों में भ्रमण करता हुआ ग्यारहवें भव में शम्बर नामक ज्योतिषी देव हुआ। और मरुभूति का जीव अपने पुण्य कर्म के कारण अनेक सुगतियों में उत्पन्न होकर दसवें भव में पार्श्वनाथ हुए।

कमठ का जीव कमठ की पर्याय के बाद सर्प हुआ, फिर नरक गया। तदनन्तर अजगर हो कर नरक गया, फिर भील होकर नरक गया। तदनन्तर सिंह हो कर नरक गया। इसके बाद महीपाल नामक तापस होकर ग्यारहवें भव में शम्बर नामक ज्योतिषी देव हुआ। मरुभूति का जीव मरकर हाथी हुआ, फिर स्वर्ग में देव हुआ, वहां से आकर विद्याधर हुआ, फिर स्वर्ग में देव हुआ। तदनन्तर स्वर्ग से आकर वज्रनाभि चक्रवर्ती राजा हुआ। इसके बाद ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ। फिर वहां से आकर आनन्द नामक राजा हुआ। तदनन्तर आनत स्वर्ग में इन्द्र हुआ और वहां से च्युत होकर दसवें भव में पार्श्वनाथ हुए। इन सभी भवों में पार्श्वनाथ के जीव और कमठ के जीव में वैर चलता रहा।

४. पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित घटनायें

भगवान पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का वर्णन पार्श्वनाथ के एक हजार वर्ष बाद हुए आचार्य समन्तभद्र ने सर्वप्रथम

स्वयम्भूस्त्रोत्र में ५ श्लोकों द्वारा पार्श्वनाथ का स्तवन करते हुए किया है। इनमें से प्रथम श्लोक में कमठ के जीव शम्बर देव द्वारा किये गये उपसर्ग का तथा द्वितीय श्लोक में धरणेन्द्र द्वारा किये गये उपसर्ग के निवारण का वर्णन है। प्रथम श्लोक इस प्रकार है –

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमा शनि वायु वृष्टिभिः।
बलाहकै वैरिवशैरुपद्रितो महामना यो न चचाल योगतः।।

अर्थात तमाल वृक्ष के समान नील वर्णयुक्त, इन्द्रधनुषों सम्बन्धी बिजली रूपी डोरियों से सहित, भयंकर वज्र, आंधी और वर्षा को बिखेरने वाले तथा शत्रु शम्बर देव के वशीभूत मेघों के द्वारा उपद्रवग्रस्त होने पर भी महामना श्री पार्श्वजिन योग (ध्यान) से विचलित नहीं हुए। क्योंकि वे महामना अर्थात् इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त करने में तत्पर थे।

इस प्रकार शम्बर नामक ज्योतिषी देव पूर्व बैर के कारण ध्यानमग्न पार्श्वनाथ पर ७ दिन तक भयंकर उपद्रव करता रहा। उसने भयंकर मेघ वर्षा के साथ ही पत्थर बरसाये, भयानक आंधी तूफान उत्पन्न किया, बिजलियाँ चमकाईं और उस से जितना भी जो कुछ भी उपद्रव बन सकता था वह सब उसने किया। परन्तु पार्श्वनाथ तो महामना थे, इन्द्रिय और मन को वश में करके कर्म शत्रुओं को जीतने वाले थे। अतः वे कमठ के जीव द्वारा किये गये भयंकर उपसर्ग से किञ्चितमात्र भी विचलित नहीं हुए।

अब द्वितीय श्लोक में धरणेन्द्र द्वारा उपसर्ग निवारण का दृश्य देखिए

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडितपिङ्गरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा।।

अर्थात उपसर्ग से युक्त ध्यानमग्न पार्श्वनाथ को धरणेन्द्र नामक नागकुमार जाति के देव ने बिजली के समान पीली क्रान्ति को धारण करने वाले बड़े बड़े फणों के मण्डल रूप के द्वारा उसी प्रकार वेष्टित कर लिया था जिस प्रकार काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ पर्वत को वेष्टित कर लेता है।

जब कमठ के जीव शम्बर नामक देव ने ध्यानमग्न पार्श्वनाथ पर पूर्व वैर के कारण भयंकर उपसर्ग किया तब पूर्वकृत उपकार के कारण धरणेन्द्र नामक भवनवासी नागकुमार जाति के देव ने विक्रिया द्वारा नाग का रूप बनाया। उस नाग के बड़े बड़े फण थे। उसने उन फणों का मण्डलाकार मण्डप बनाया और उसे ध्यानमग्न पार्श्वनाथ पर तान दिया। ऐसा करके धरणेन्द्र ने भयंकर आंधी, वर्षा आदि के उपसर्ग को दूर करने में सहयोग किया। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त श्लोक में केवल धरणेन्द्र का नाम आया है, पद्मावती का नाम उस में नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र के बाद आचार्य यतिवृषभ (पंचम शताब्दी) ने तिलोयपण्णत्ती के चतुर्थ अधिकार में पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कुछ बातों को सूत्र रूप में लिखा है। इस में विशेष घटनाओं का कुछ भी वर्णन नहीं है। तदनन्तर पार्श्वनाथ के अठारह सौ वर्ष बाद हुए गुणभद्राचार्य (नवमी शताब्दी) ने उत्तरपुराण के ७३वें पर्व में १७० श्लोकों द्वारा पार्श्वनाथ के जीवन में घटित घटनाओं को कुछ विस्तार से लिखा है। इसके बाद पार्श्वनाथ के दो हजार वर्ष बाद हुए वादिराजसूरि (ग्यारहवीं शताब्दी) ने पार्श्वनाथचरित नामक एक महाकाव्य की रचना की, जिसमें १२ सर्ग हैं और १३५८ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाओं को अधिक विस्तार से लिखा गया है।

५. नाग–नागिन की मृत्यु कैसे हुई

जब पार्श्वनाथ १६ वर्ष के थे तब उनको एक अनुचर से ज्ञात हुआ कि वाराणसी के निकट एक उपवन में एक तापस पञ्चाग्नि तप कर रहा है। पार्श्वकुमार ने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह तापस कमठ का ही जीव है। तब उसे देखने की इच्छा से तथा उसको कुतप से विरत करने की भावना से पार्श्वकुमार हाथी पर बैठ कर उपवन में पहुँचे। वहाँ जो तापस पञ्चाग्नि तप कर रहा था वह पार्श्वनाथ का नाना अर्थात् माता का पिता महीपाल था। वह पञ्चाग्नि तप में लीन था। इस तप में तापस अपने चारों ओर अग्नि जला कर उसके बीच में बैठ जाता है और उसकी दृष्टि ऊपर सूर्य की ओर रहती है। इसे पञ्चाग्नि तप कहते हैं।

आचार्य गुणभद्र के अनुसार वह तापस अग्नि में डालने के लिए एक मोटी लकड़ी को काट रहा था। यह देख कर पार्श्वकुमार ने उस तापस से कहा कि इस लकड़ी को मत काटो। इसके अन्दर नाग-नागिन बैठे हैं। किन्तु वह तापस नहीं माना और उसने लकड़ी को काट डाला। तब लकड़ी को काटते समय उसके अन्दर बैठे हुए नाग-नागिन के दो टुकड़े हो गये। इस बात को गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में इस प्रकार लिखा है -

नागी नागश्च तच्छेदात् द्विधाखण्डमुपागतौ। ७३/१०३

पार्श्वनाथ चरित के रचयिता वादिराज सूरि के अनुसार पञ्चाग्नि तप करते समय अग्नि में जलती हुई लकड़ी के अन्दर बैठे हुए नाग-नागिन जल रहे थे। पार्श्वकुमार के कहने पर तापस को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इस लकड़ी के अन्दर नाग-नागिन हो सकते हैं। तब पार्श्वकुमार ने लकड़ी को काट कर उसमें से अध जले नाग-नागिन को बाहर निकाला था। इस विषय में वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित में लिखा है-

प्रहसित वदनाम्बुजस्तबुक्तया भुवन गुरुर्भगवांस्तु तत्प्रतीत्यै।
अदलयदन लार्धदग्धमेधः परिदृढमुष्टिपरस्वधेन तेन ।। १०/८३

उक्त दोनों आचार्यों के अनुसार नाग-नागिन की मृत्यु के विषय में मत भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। एक आचार्य के अनुसार लकड़ी को काटने से नाग-नागिन की मृत्यु हुई और दूसरे आचार्य के अनुसार उनकी मृत्यु अग्नि में जलने के कारण हुई। इस मत भेद का कारण क्या है? इस मतभेद का कारण यही हो सकता है कि उस समय नाग-नागिन की मृत्यु के विषय में दो प्रकार की जन श्रुति चली आ रही होगी। एक जन श्रुति क अनुसार नाग-नागिन की मृत्यु तापस द्वारा लकड़ी को काटते समय नाग-नागिन के दो टुकड़े हो जाने के कारण हुई और दूसरी जन श्रुति के अनुसार उनकी मृत्यु जलती हुई लकड़ी के अन्दर बैठे रहने के कारण हुई। इस विषय में जिस आचार्य को जो उचित प्रतीत हुआ उसे उन्होंने स्वरचित ग्रन्थों में लिख दिया। वास्तव में नाग-नागिन की मृत्यु कैसे हुई, इसे जानने का या निर्णय करने का अब कोई उपाय या प्रमाण नहीं है।

६. तापस मर कर कहाँ उत्पन्न हुआ

श्री पार्श्वजिन कुमारावस्था में अपने मित्रों के साथ भ्रमण करते हुए वाराणसी के निकट एक उपवन में पहुँचे। वहाँ पूर्व भवों का वैरी कमठ का जीव महीपाल नामक तपस्वी पञ्चाग्नि तप कर रहा था। पञ्चाग्नि तप के लिए जो लकड़ियाँ जल रही थीं उनमें से एक लकड़ी के भीतर बैठे नाग और नागिन भी जल रहे थे। श्री पार्श्वजिन ने अवधिज्ञान से इस बात को जानकर इस तपस्वी से कहा कि हिंसामय कुतप क्यों कर रहे हो। इस लकड़ी के अन्दर नाग-नागिन जल रहे हैं। इस बात को सुन कर वह तपस्वी क्रोधित होकर बोला कि ऐसा नहीं हो सकता है। आपने कैसे जान लिया कि इस लकड़ी के भीतर नाग-नागिन बैठे हैं। तब उस तापस को विश्वास दिलाने के लिए कुल्हाड़ी मंगाकर लकड़ी को काटा गया और पार्श्वकुमार ने जलती हुई लकड़ी से अधजले नाग-नागिन को बाहर निकाला। श्री पार्श्वजिन की इस बात से वह तापस क्रोधित हो गया कि इन्होंने मेरी तपस्या में विघ्न उपस्थित कर दिया है। वह पूर्व भवों का वैरी तो था ही, किन्तु इस घटना से उसने श्री पार्श्वजिन के साथ और भी अधिक वैर बाँध लिया। तथा कुछ काल के बाद उसका मरण हो गया। यहाँ विचारणीय यह है कि मृत्यु के बाद वह कहाँ उत्पन्न हुआ।

आचार्य गुणभद्र के अनुसार वह तापस मरकर शम्बर नामक ज्योतिषी देव हुआ। इस विषय में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में लिखा है -

सशल्योमृतिमासाद्य शम्बरो ज्योतिषामरः ७३/११७

-इस मत के विपरीत वादिराजसूरि के अनुसार वह तापस मर कर भूतानन्द नामक भवनवासी देव हुआ। इस विषय में उन्होंने पार्श्वनाथचरित में लिखा है -

लक्ष्मीधाम श्री जिन धर्मादपि बाह्यः कायक्लेशादायुरपाये स तपस्वी।
देवो जातः ज्ञातिमयासीदपि नाम्ना भूतानन्दो भवनदेवेष्वसुरेषु।। १०/८८

इसमें कोई संदेह नहीं है कि आचार्य गुणभद्र और वादिराजसूरि प्रतिभाशाली और शास्त्रज्ञ विद्वान थे। किन्तु वे न तो अवधिज्ञानी थे और

न उनके पास और कोई दिव्यज्ञान था। फिर उन्होंने यह कैसे जान लिया कि पञ्चाग्नि तप करने वाला वह तापस मर कर कहाँ उत्पन्न हुआ। जहाँ गुणभद्र ने लिखा कि वह ज्योतिषी देव हुआ वहाँ वादिराजसूरि ने लिखा है कि वह भवनवासी देव हुआ। दोनों में यह मतभेद क्यों हुआ। इसका कारण यही हो सकता है कि उन्होंने लोक प्रचलित कथाओं से जैसा सुना वैसा लिख दिया।

७. णमोकार मंत्र का माहात्म्य

नि:सन्देह णमोकार मंत्र एक महामन्त्र है और उसका अचिन्त्य प्रभाव है। परन्तु यहाँ यह जिज्ञासा है कि क्या पार्श्वकुमार ने नाग-नागिन को णमोकार मंत्र सुनाया था। इस विषय में उल्लेखनीय है कि न तो गुणभद्राचार्य ने और न वादिराजसूरि ने पार्श्वकुमार द्वारा नाग-नागिन को णमोकार मंत्र सुनाने की बात लिखी है। इसका कारण क्या हो सकता है। संभवत: वे जानते होंगे कि सर्प तो सुनता ही नहीं है अथवा वह बहरा होता है। वर्तमान में जीव वैज्ञानिक यह सिद्ध कर चुके हैं कि सर्प सुनता नहीं है। इतना अवश्य है कि यद्यपि सर्प ध्वनिजन्य शब्द या आवाज को नहीं सुनता है तथापि वह मानव आदि के द्वारा धरती पर पैर आदि के रखने से उत्पन्न पृथ्वी जन्य कम्पन (vibration) को अवश्य अनुभव करता है।

यहाँ कोई जिज्ञासु सकलकीर्ति भट्टारक को प्रमाणरूप में उपस्थित कर सकता है कि पार्श्वकुमार ने नाग-नागिन को णमोकार मन्त्र सुनाया था। सकलकीर्ति ने अपने पार्श्वनाथ चरित के चौदहवें सर्ग में लिखा है -

ततोऽतिकृपया ताभ्यां खण्डिताभ्यां जिनाधिप:।
ददौ पञ्चनमस्कारान् कर्णे विश्वहितंकरान्।। १४/९७

इसका तात्पर्य यह है कि पार्श्वकुमार ने अत्यन्त कृपा पूर्वक दो खण्डों में विभक्त नाग-नागिन के कान में णमोकार मन्त्र दिया था। यहाँ यह बात विचारणीय है कि पार्श्वनाथ से २३०० वर्ष बाद हुए सकल कीर्ति (पंद्रहवीं शताब्दी) के उक्त कथन का आधार क्या है। और उनके पहले होने वाले

गुणभद्र, वादिराज आदि आचार्यों ने "कर्णे णमोकारमन्त्रं ददौ" ऐसा क्यों नहीं लिखा। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि सकलकीर्ति भट्टारक थे और भट्टारक युग का ही यह सब चमत्कार है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि सकलकीर्ति के अनुसार पार्श्वकुमार ने दो खण्डों में विभक्त नाग-नागिन को णमोकार मन्त्र सुनाया था। अतः यह आश्चर्य की बात है कि दो टुकड़ों में विभक्त नाग-नागिन में णमोकार मन्त्र सुनने की क्षमता कैसे रही होगी। अधजले नाग-नागिन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। चाहे नाग-नागिन दो टुकडों में विभक्त हों अथवा अधजले हों, उस अवस्था में तो वे छटपटा रहे होंगे और णमोकार मन्त्र सुनने में उनका उपयोग कैसे लगा होगा।

यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि यदि पार्श्वकुमार ने नाग-नागिन को णमोकार मन्त्र नहीं सुनाया तो वे धरणेन्द्र-पद्मावती कैसे हुए। इसका उत्तर यही हो सकता है कि मरणासन्न अवस्था में महापुरुष पार्श्वनाथ के दर्शनमात्र अथवा सान्निध्यमात्र से साम्यभाव को धारण करके उनकी मृत्यु हुई होगी। संभवतः इसी कारण नाग-नागिन मृत्यु के बाद भवनवासी देवों में धरणेन्द्र और पद्मावती हुए।

८. धरणेन्द्र–पद्मावती सात दिन तक क्यों सोते रहे

यह ध्यान देने योग्य बात है कि ध्यानस्थ पार्श्वनाथ के ऊपर पूर्व वैरी कमठ के जीव द्वारा सात दिन तक भयंकर उपद्रव होता रहा और धरणेन्द्र-पद्मावती को कुछ पता ही नहीं चला। संभवतः आठवें दिन धरणेन्द्र-पद्मावती जागे और दौड़े-दौड़े आकर पार्श्वनाथ के ऊपर हो रहे उपसर्ग को दूर किया। यहाँ जिज्ञासा है कि यदि धरणेन्द्र-पद्मावती न आते तो क्या पार्श्वनाथ पर दीर्घकाल तक उपसर्ग चलता रहता। और क्या तब तक पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। नहीं, ऐसा नहीं है। उपसर्ग तो दूर होना ही था। लेकिन उसका श्रेय धरणेन्द्र-पद्मावती को अवश्य मिल गया।

९. तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर उपसर्ग क्यों

सामान्यरूप से तीर्थंकरों पर कोई उपसर्ग नहीं होता है। फिर पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव द्वारा उपसर्ग क्यों हुआ? संभवत: इसका कारण काल का दोष है। वर्तमान में हुण्डापसर्पिणी काल चल रहा है। असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बीत जाने पर एक बार हुण्डापसर्पिणी काल आता है। इस काल में कुछ ऐसी अनहोनी बातें होती हैं जो सामान्य रूप से कभी नहीं होतीं। जैसे तीर्थंकरों पर उपसर्ग कभी नहीं होता है, परन्तु पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ। तीर्थंकरों के पुत्री का जन्म नहीं होता है, फिर भी ऋषभनाथ के ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो पुत्रियों का जन्म हुआ। इत्यादि और भी कई बातें हैं जो हुण्डापसर्पिणी काल के प्रभाव से घटित हुई हैं। और तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर उपसर्ग भी एक ऐसी ही घटना है।

१०. सर्पफण युक्त मूर्तियों का औचित्य

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अधिकांश मूर्तियाँ सर्प-फणमण्डप युक्त हैं। किन्तु कुछ मूर्तियाँ सर्पफण रहित भी उपलब्ध होती हैं। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि तीर्थंकरों की जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होकर मन्दिरों में विराजमान की जाती हैं वे केवल ज्ञान अवस्था अथवा अर्हन्त अवस्था को प्राप्त तीर्थंकरों की होती हैं। किन्तु धरणेन्द्र ने ध्यानस्थ पार्श्वनाथ के ऊपर जो फणामण्डप बनाया था वह ध्यानस्थ अवस्था के समय की बात है। परन्तु कमठ के जीव द्वारा किये गये उपसर्ग के दूर हो जाने पर तथा शम्बर देव द्वारा पार्श्वनाथ के चरणों में नमस्कार करने और अपने अपराधों की क्षमायाचना करने के बाद धरणेन्द्र ने पार्श्वनाथ के ऊपर से स्वनिर्मित फणामण्डप को भी हटा लिया होगा। उसी के बाद फणामण्डप रहित अवस्था में पार्श्वनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। अत: केवल ज्ञान सहित अथवा अर्हन्त अवस्था को प्राप्त पार्श्वनाथ की मूर्ति में फणामण्डप बनाने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। वास्तव में फणामण्डप युक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिए। लेकिन फणामण्डप में आसक्ति के

कारण जो परम्परा प्रचलित हो गई सो हो गई। अब उसमें सुधार की गुंजाइश ही कहाँ है।

११. पद्मावती के सिर पर पार्श्वनाथ की मूर्ति का औचित्य

वर्तमान में पद्मावती देवी की जितनी मूर्तियाँ पाई जाती हैं उन सब के सिर पर भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति विराजमान रहती है। यह भी एक परम्परा की बात है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि क्या पद्मावती के सिर पर पार्श्वनाथ की मूर्ति को विराजमान करना आगम सम्मत है। ऐसा माना जाता है कि उपसर्ग के समय पद्मावती ने पार्श्वनाथ को उठाकर अपने सिर पर बैठा लिया था, ऐसी जो मान्यता है वह सर्वथा निराधार है। इसी गलत मान्यता के आधार पर अपने सिर पर भगवान् पार्श्वनाथ को बैठाये हुए पद्मावती देवी की मूर्तियों के निर्माण की परम्परा पता नहीं कब से प्रचलित हुई और किसने प्रचलित की, यह सब विचारणीय है। जैनागम में स्पष्ट विधान है कि स्त्री को साधु या मुनि से सात हाथ दूर रहना चाहिए। जैनागम के ऐसे विधान के होते हुए भी पद्मावती के सिर पर भगवान् पार्श्वनाथ को बैठाने का औचित्य समझ में नहीं आता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में भगवान् पार्श्वनाथ के स्तवन में उपसर्ग निवारण के लिए धरणेन्द्र का नाम तो लिया है किन्तु वहाँ पद्मावती का नाम कहीं नहीं है। आचार्य गुणभद्र और वादिराजसूरि के अनुसार पार्श्वनाथ पर हो रहे उपसर्ग निवारण के लिए धरणेन्द्र और पद्मावती दोनों आये अवश्य थे, किन्तु वहाँ भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि पद्मावती ने पार्श्वनाथ को अपने सिर पर बैठा लिया था।

१२.अतिशय क्षेत्र और सातिशय मूर्तियाँ

जैन क्षेत्रों में कुछ सिद्ध क्षेत्र होते हैं। जैसे चौरासी-मथुरा सिद्ध क्षेत्र है। क्योंकि यहाँ से अन्तिम केवली जम्बू स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया है।

कुछ अतिशय क्षेत्र होते हैं और उनमें विराजमान कुछ मूर्तियाँ सातिशय होती हैं। जैसे श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र है और वहाँ भगवान् महावीर की एक सातिशय प्राचीन मूर्ति विराजमान है। इस मूर्ति को लगभग ४०० वर्ष पहले एक ग्वाले ने भूगर्भ से निकाला था। इस मूर्ति का अतिशय सम्पूर्ण भारत में दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। मूर्तिकला विशेषज्ञों ने इस मूर्ति का निर्माण काल ११वी शताब्दी निश्चित किया है। संभवतः इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ की भी कुछ मूर्तियाँ सातिशय होंगी। महाराष्ट्र में जिला अकोला में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ नामक एक अतिशय क्षेत्र है। यहाँ के भव्य मन्दिर में भगवान् पार्श्वनाथ की ढाई फुट ऊँची एक प्राचीन प्रतिमा है जो वेदी के ऊपर अधर में विराजमान है, ऐसा कई पुस्तकों में लिखा है। कोई व्यक्ति इसे उस प्रतिमा का अतिशय समझ सकता है। इसमें उस प्रतिमा का कोई अतिशय है या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में उस मूर्ति के निर्माता कलाकार की कला का अतिशय उस मूर्ति में अवश्य दृष्टिगोचर होता है। उस मूर्ति के नीचे ऐसे दो बिन्दु बनाये गये हैं जिनके आधार से वह मूर्ति वेदी पर अवस्थित है और मूर्ति के नीचे का शेष स्थान खाली है। इस कारण उस मूर्ति के नीचे से धागा या महीन कपड़ा निकाला जा सकता है। इसी लिए उस क्षेत्र का नाम अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ प्रसिद्ध हो गया। परन्तु ऐसा नहीं है कि वह मूर्ति वेदी से दो चार इंच ऊपर अधर में अवस्थित हो।

१३. पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

इसमें सन्देह नहीं है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। १०० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उन्होंने बिहार में स्थित सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त किया था। यद्यपि अजितनाथ आदि अन्य १९ तीर्थंकरों ने भी सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त किया है, किन्तु सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त करने वाले पार्श्वनाथ अन्तिम तीर्थंकर हैं और उनके नाम पर सम्मेद शिखर को पारसनाथ हिल (पर्वत) के नाम से भी कहा जाने लगा है। इस बात को पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए एक प्रमाण के रूप

में उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु इस विषय में यह अन्वेषणीय है कि संम्मेद शिखर का नाम पारसनाथ हिल कब से हुआ। पार्श्वनाथ के निर्वाण काल से ही या कालान्तर में उक्त नाम प्रचलित हुआ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए न तो कोई अभिलेख या शिलालेख है और न कोई स्मारक आदि अन्य कोई पुरातत्व सामग्री है। केवल जैन और बौद्ध साहित्य में पार्श्वनाथ के विषय में जो कुछ थोड़ा बहुत लिखा गया है उसी के आधार पर कुछ विद्वानों ने उनको ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध किया है, जो उपादेय और प्रशंसनीय है।

अन्त में आचार्य समन्तभद्र द्वारा लिखित -

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुभान्।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः।।

इस श्लोक का स्मरण करता हुआ मैं भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ। मेरी भावना है -

जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ : समग्र सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता

– डा० नेमीचन्द जैन*

१. ऐतिहासिक तथ्यों के असंतुलित दोहन के फलस्वरूप जैन तीर्थंकरों के बारे में देश-विदेश में जो भ्रम फैले हैं; उनके प्रामाणिक निरसन का पुरुषार्थ आवश्यक है। अधिकांश विद्वान् (इतिहासविद नहीं) भगवान् महावीर को जैनधर्म का प्रवर्तक प्रतिपादित करते हैं। शिक्षा-संस्थाओं में जो पाठ्य पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, दुर्भाग्य से उनमें भी यह गलतफहमी दर्ज हुई है। वस्तुतः भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं, जिनकी पृष्ठभूमि पर भगवान् ऋषभनाथ से ले कर पार्श्वनाथ तक तेईस तीर्थंकर और हुए। कम से कम भगवान् नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर को ले कर इतने निर्विवाद और ठोस सुबूत हैं कि अपरिपक्व/अपरिपूर्ण अध्ययन के कारण स्थापित भ्रान्त धारणाऐं स्वतः उन्मूलित हो जाती हैं। यथार्थ यह है कि जैनधर्म (श्रमण संस्कृति) संपूर्ण भारत में व्याप्त था और द्राविड़ जन, जो पूरी तरह अहिंसक थे, पूरे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक बसे हुए थे। ब्राहुई (द्राविड़ भाषा) का सुदूर उत्तर-पूर्व में पाया जाना, उनके इस विस्तार का जीवन्त साक्षी है। यह तथ्य भी दस्तख़त करता है कि समस्त तीर्थंकर उत्तर भारत में हुए तथा आचार्य दक्षिण भारत में हुए। कन्नड़ और तमिल भाषाओं में प्रचुर जैन साहित्य की उपलब्धि भी एक ऐसा ही तथ्य है, जिसकी अनदेखी संभव नहीं है। भगवान् पार्श्वनाथ के साथ भिल्ल-जीवन (कमठ का सातवाँ भव कुरंग भिल्ल का है) से जुड़ा होना भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है। द्राविड़ भाषाओं में "वील" (तमिल)और "बील" (ब्राहुई) शब्द उपलब्ध हैं, जिनके अर्थ "धनुष" हैं। तीर-कामठी(बाण-धनुष) भीलों की परम्परित प्रजातिक पहचान हैं, जिन्हें आज भी देखा जा सकता है।

* इन्दौर

२. भगवान् पार्श्वनाथ (१००) का आविर्भाव-काल ईसा-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है। वे भगवान् महावीर (७२) के पूर्ववर्ती हैं तथा माना जाता है कि उनसे २५० वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ हुए। भगवान् पार्श्वनाथ के १० पूर्वभवों के वर्णन मिलते हैं। उपलब्ध श्रंखला में प्रथम भव में मरुभूति और कमठ तथा दसवें में पार्श्वनाथ और शम्बर देव के रूप में इनका उल्लेख हुआ है। पारम्परिक उल्लेख के अनुसार उनके माता-पिता के नाम क्रमशः वामा (ब्राह्मी) तथा विश्वसेन (अश्व/हयसेन) थे। उनका जन्म वाराणसी और निर्वाण श्री सम्मेद शिखर में हुआ। दिगम्बर तथ्यों के अनुसार वे अविवाहित और श्वेताम्बर उल्लेखों के अनुसार विवाहित थे।

३. उपलब्ध तथ्यों के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ का समकालीन भारतीय समाज अत्यन्त व्यवस्थित था। "अपराविद्या" (कर्मकाण्ड) से ऊब कर उसने "पराविद्या" (अध्यात्म) को अंगीकार करना आरम्भ कर दिया था। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा इतनी प्रशस्त और प्रभावशालिनी थी कि उनका प्रभाव उपनिषदों की विषय-वस्तु पर भी पड़ा। चातुर्याम संवरवाद के कारण भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित चिन्तन एक अत्यन्त व्यवस्थित सामाजिक संरचना का कारण बना। उनसे पूर्व सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह सिर्फ साधुई जीवन से संबद्ध थे; किन्तु उन्होंने इनमें अहिंसा को सघन प्रवेश दे कर एक नूतन, समन्वित, और सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

४. पार्श्वयुग में अब तक जो जीवन-मूल्य व्यक्ति-जीवन से संबद्ध थे, उनका समाजीकरण हुआ और एक नूतन आध्यात्मिक समाजवाद का सूत्रपात हुआ। जो काम महात्मा गाँधी ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अहिंसा को लोकजीवन से जोड़ कर किया, वही काम हजारों वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिंसा की व्याप्ति को व्यक्ति तक विस्तृत कर सामाजिक जीवन में प्रवेश दे कर किया। यह एक अभूतपूर्व क्रान्ति थी जिसने उस युग की काया ही पलट दी।

५. माना सर्वथा प्राणातिपात विरमण (विरति); सर्वथा मृपावाद विरमण; सर्वथा बहिदादान (बहिरादान) विरमण, सर्वथा अदत्ता-दान विरमण की

चातुर्याम व्यवस्था ने सामाजिक स्वाधीनता तथा निर्विघ्नता के द्वार खोल दिए थे; किन्तु ब्रह्मचर्य का स्वतन्त्र उल्लेख न होने के कारण नारी की स्वाधीनता को पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सका था। मान लिया गया कि नारी परिग्रह है और परिग्रह-विरमण में वहाँ समाविष्ट है। इसका अर्थ पुरुष सत्ताक अध्यात्मवाद का प्रचलन माना जाएगा; किन्तु जब आगे चल कर भगवान् महावीर ने "ब्रह्मचर्य" का पाँचवाँ आयाम विवृत किया, तब नारी-मुक्ति के लिए पर्याप्त आधार बने और आध्यात्मिक उर्वरताओं के लिए नये वातायन खुले। स्पष्ट/असंदिग्ध शब्दों में कहा गया कि स्त्री पुरुष के लिए जिस तरह साधना-विघ्न है, ठीक वैसे ही पुरुष भी स्त्री के लिए साधना में बहुत बड़ी अड़चन है। यदि स्त्री परिग्रह है, तो पुरुष भी उस सरणि पर परिग्रह ही है। अपरिग्रह की इस नयी परिभाषा ने जैन धर्म की गरिमा को समृद्ध किया और चतुःसंघ को एक नया अर्थ तथा स्वस्थ छवि प्रदान की। भगवान् पार्श्वनाथ से जो रिक्थ-संपदा मिली वह आध्यात्मिक समाजवाद को अपनी कोख में लिये थी, जो आगे चल कर एक समग्र/समन्वित सामाजिक क्रान्ति का सुदृढ़ आधार बना।

६. भगवान् पार्श्वनाथ के १० भवों की कथा क्षमा-प्रतिशोध के घनीभूत द्वन्द की कथा है, जिसने व्यक्ति-शुद्धि और आत्मबल की नयी इबारतें उत्तिष्ठ कीं और यह सिद्ध किया कि अन्ततःवीतरागता ही विजयिनी होती है। समाज-शुद्धि के लिए व्यक्ति-शुद्धि कितनी महत्वपूर्ण है, इसकी संपूर्ण विकास-कथा भगवान् पार्श्वनाथ के दस पूर्व भवों मे विवृत है। हम भगवान् के इन पूर्व भवों को एक दीर्घ-कालिक पर्युषण की संज्ञा दे सकते हैं।

७. भगवान् पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाओं मे हमें राज्य और व्यक्ति, समाज और व्यक्ति, तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के संबन्धों के निर्धारण के रचनात्मक सूत्र भी मिलते हैं। इन सूत्रों की प्रासंगिकता आज भी यथापूर्व है। हिंसा और अहिंसा का द्वन्द भी हमें इन घटनाओं में अभिगुम्फित दिखाई देता है। ध्यान से देखने पर भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर का समवेत् रूप एक सावभौम धर्म के प्रवर्तन का सुदृढ़ सरंजाम है।

८. उन दिनों तापसों का ज़ोर था। तन्त्रवाद अपनी तरुणाई पर था। भगवान् पार्श्वनाथ तत्कालीन तन्त्रवाद को एक प्रांजल आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना चाहते थे ताकि उनके समकालीन लोक-जीवन में जो विकृतियाँ, असन्तुलन और विघटन आ गया था, उसका निवारण संभव हो। "पद्मावती" और "धरणेन्द्र" की वास्तविकता से हम इंकार नहीं करते; किन्तु यदि हम इन्हें क्रमशः "कुण्डलिनी" और "काल" की प्रतीक मानें तो हमारे सामने कई रहस्य-द्वार खुल जाते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ कालजयी/आत्मजेता महामानव थे; उनका अध्यात्म स्वयं में इतनी तेजोमयता लिये हुए था कि उनके समकालीन तापसों का खोखलापन स्वतः छिन्न-भिन्न हो गया। कमठ और मरुभूति के दस भवों के आरोह-अवरोह, अन्ततः विजयी शुद्धाध्यात्म के आरोह-अवरोह हैं। हम भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन को अध्यात्म की विश्व-विजय का नाम दे सकते हैं।

९. हमें, वस्तुतः, तीर्थंकरों के जीवन-प्रसंगों की जो व्याख्या करनी थी - उन्हें ले कर जो समझ सम्प्रेषित करनी थी, उसे करने में हम सफल नहीं रहे हैं। अलंकारों और प्रतीकों के तलातल में नामालूम कितने बहुमूल्य विचार-मणि दबे पड़े हैं - इसका सुनिश्चित बोध हमें नहीं है। भगवान् पार्श्वनाथ मात्र "पार्श्वनाथ" नहीं हैं वरन् सम्यक, स्वस्थ आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों के मोक्षोन्मुख समन्वय हैं।

१०. यह मान कर चलना कि सब कुछ अपरिवर्तनीय है, जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की गंभीर अनदेखी है। अनेकान्तमूलक श्रमण संस्कृति परिवर्तन और विकास को आत्मसात् कर चलने वाली अभूतपूर्व संस्कृति है। विकास- (इवोल्यूशन) और परिवर्तनशीलता (चेंजेबिलिटी) तथा मूलभूत सिद्धान्तों में कहीं कोई टकराहट नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में विकास की जीवन्त/स्पष्ट अनुभूति/उपस्थिति अत्यन्त तीव्रता से स्पन्दित है। जो लोग आग्रही हैं, उनकी बात जुदा है; किन्तु जो सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अनाटॉमी और मेटाबॉलिज़्म (चयापचय) का ज्ञान रखते हैं, वे जैन धर्म की इस विशेषता को भलीभाँति समझ सकते हैं। पार्श्वनाथ का "पार्श्वनाथत्व" जब तक हम ठीक से नहीं समझेंगे, तब तक उनकी स्थूल पूजा-अर्चना का कोई अर्थ नहीं होगा।

११. चाहे जिस कोण से देखा जाए, भगवान् पार्श्वनाथ के सामाजिक / आध्यात्मिक अस्मित्व की प्रासंगिकता बरकरार है, अक्षत है - उसमें कहीं कोई किसी प्रकार का फर्क नहीं आया है।

१२. ध्यान से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच सकते हैं कि भगवान् ऋषभनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक जो चिन्ताधारा प्रवाहित है, वह अटूट-अविच्छिन्न/विकासोन्मुख है; उसमे कहीं कोई अन्तःसंघर्ष नहीं है। जैन धर्म, वस्तुतः, एक ऐसा धर्म है, जिसने श्रमणाचार की बहुमुखीनता पर समय-समय पर विचार किया है; उसकी प्रासंगिकता को प्रखर, तर्कसंगत और युगानुरूप बनाया है तथा अपनी साधु-परम्परा को तेजस्विता प्रदान की है। जैन धर्म में स्वीकृत श्रमणाचार इतना सूक्ष्म, पारदर्शी, सावधान और गरिमावान् है कि वह श्रावकों को निरन्तर परिष्कृत, स्वस्थ, युगोचित और अविचलित रखता आया है। किस तरह दोनों आचार परस्पर-पूरक/प्रेरक हैं, इस तथ्य को हम भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन-दर्पण में प्रतिबिम्बित देख सकते हैं।

संदर्भ

१. भीली का भाषा शास्त्रीय अध्ययन; प्रथम भाग; भाषा खण्ड; डा० नेमीचन्द जैन; १९७१; ब्राहुई; पृ. ७९।

२. ए द्राविडियन ईटोमॉलॉजिकल डिक्शनरी; टी. बरो; १९६१; पृष्ठ ३७२; शब्द-संख्या ४४४९।

३. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग; बलभद्र जैन; १९७३ पृष्ठ ३४६-३६४।

४. सिरि पारसणाहचरिउ; वादिराज सूरि।

५. पासचरिय; महाकवि रइधु।

६. महापुराण; पुष्पदन्त।

७. सिरि पासणाहचरिउ; देवभद्र सूरि।

८. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण; राजेन्द्र मुनि;१९७६; पृष्ठ ११८-१३४।

९. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर; आचार्य हस्तीमलजी; १९७१; पृष्ट १४५-१९६।

प्राकृत साहित्य में भ० पार्श्वनाथ चरित

— डॉ. प्रेम सुमन जैन

जैन धर्म की ऐतिहासिक परम्परा में २४ तीर्थंकरों के जीवन-चरितों का विशेष महत्व है। उनमें भ० पार्श्वनाथ का जीवन श्रमण परम्परा का महत्त्वपूर्ण अंग है। भ० पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में सर्व प्रथम प्राकृत साहित्य के ग्रन्थ ही प्रारम्भिक जानकारी प्रस्तुत करते हैं, जिसमें काव्यात्मक रंग और घटनाओं का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ है।

प्राकृत साहित्य में जो ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध हैं उनमें अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ दार्शनिक हैं, आध्यात्मिक हैं। दिगम्बर जैन परम्परा के प्राचीन शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थों में सिद्धान्त-दर्शन का प्रतिपादन प्रमुख रूप से हुआ है, ऐतिहासिक एवं जीवन वृत्त सम्बन्धी सामग्री अपेक्षाकृत कम है। आचार्य यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ति में २४ तीर्थंकरों के विवरण के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में तथ्य उपलब्ध हैं, उनका विश्लेषण इस आलेख में तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है। तिलोयपण्णत्ति में भ० पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में कतिपय ऐसी जानकारी भी दी गयी हैं, जो अन्य प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हैं, अथवा परवर्ती ग्रन्थकारों ने उनका विकास किया है। "पासणाह" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त हुआ है। पार्श्वनाथ का चिन्ह "सर्प" है, इसकी सूचना भी इस ग्रन्थ के पूर्व के ग्रन्थों में नहीं है।

भ० पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में अर्धमागधी की प्राकृत के ग्रन्थों में भी विस्तार से विवरण प्राप्त होता है। इनमें समवायांग, उत्तराध्ययनसूत्र एवं कल्पसूत्र आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ हैं। प्राकृत में पार्श्व के जीवन पर चरितग्रन्थ भी लिखे गये हैं। प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थ "इसीभासियं" में

---

* प्रोफेसर एवं डीन, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

पासअज्झयण नामक अध्याय में पार्श्वनाथ के उपदेशों का विवेचन हुआ है। इस उपलब्ध सामग्री पर भी प्रस्तुत आलेख में प्रकाश डाला गया है। दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में आचार्य यतिवृषभ ने भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जो जानकारी/तथ्य अंकित किये हैं वे इस प्रकार हैं :

१. २४ तीर्थंकरों के साथ २३वें क्रमांक पर पार्श्व नाम अंकित है।

२. भ० पार्श्वनाथ प्राणत कल्प से अवतीर्थ हुए।

३. पार्श्व जिनेन्द्र वाराणसी नगरी में पिता अश्वसेन और माता वर्मिला (वामा) से पौष-कृष्णा एकादशी को विशाखा नक्षत्र में उत्पन्न हुए

हयसेण वम्मिलाहिं, जादो वाणारसीए पासजिणो।
पुस्सस्स बहुल-एक्कारसिए • रिक्खे विसाहाए।। गा. ५५५

४. भगवान् महावीर नाथ वंश में एवं भ० पार्श्व उग्रवंश में उत्पन्न हुए।

५. भ० पार्श्वनाथ की उत्पत्ति (जन्म) नेमिनाथ तीर्थंकर की उत्पत्ति के पश्चात् ८४ हजार ६ सौ ५० वर्षों के व्यतीत हो जाने पर हुई। तथा भ० पार्श्व जिनेन्द्र की उत्पत्ति (जन्म) के पश्चात् २७८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर वर्द्धमान तीर्थंकर का जन्म हुआ।

६. भगवान् पार्श्वनाथ की आयु नियम से १०० वर्ष और भ० महावीर की आयु ७२ वर्ष प्रमाण थी –

वाससदमेक्कमाऊ, पास-जिणेदंस्स होइ णियमेण।
सिरि-वड्ढमाण-आऊ बाहत्तरि वस्स-परिमाणो।। ५८९।।

७. भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर का कुमार काल (दीक्षा के पूर्व की आयु) ३०-३० वर्ष था। भ० पार्श्वनाथ के शरीर की ऊँचाई (उत्सेध) ९ हाथ और महावीर की ऊँचाई ७ हाथ थी। पार्श्वनाथ के शरीर का रंग नीलवर्ण का था। भ० नेमीनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर ने राज्य नहीं किया। इसके पूर्व वासुपूज्य और मल्लिनाथ ने *भी राज्य नहीं किया था।*

८. तिलोयपण्णत्ति की गाथा ६११ एवं ६१२ में २४ तीर्थंकरों के चिन्हों के नाम बताये गये हैं। उनमें भगवान् पार्श्वनाथ का चिन्ह अहि (साँप) बताया है।

९. भ० पार्श्वनाथ को अन्य नौ तीर्थंकरों (शान्ति, कुन्थ, वासु, सुमति, पद्म मुनि, सुव्रत, नमि, नेमि एवं वर्धमान) की भाँति अपने पूर्व जन्मों के स्मरण से वैराग्य उत्पन्न हुआ था। शेष १४ तीर्थंकरों को अन्यान्य बाह्य हेतुओं से वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

१०. भ० पार्श्व जिनेन्द्र ने माघ शुक्ला एकादशी के पूर्वान्ह में विशाखा नक्षत्र के रहते षष्ठ भक्त के साथ अश्वस्थ वन में दीक्षा ग्रहण की –

माघस्सिद-एक्कारसि-पुव्वण्हे गेण्हदे विसाहासु।
पव्वज्जं पासजिणो, अस्सत्त-वणम्मि छट्ठ-भत्तेण।।

मल्लिनाथ एवं पार्श्वनाथ के साथ ३००-३०० अन्य राजकुमार भी दीक्षित हुए, जबकि वर्धमान जिनेन्द्र अकेले ही दीक्षित हुए। भगवान् वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमीनाथ और महावीर के समान भ० पार्श्वनाथ ने भी कुमारकाल (अविवाहित अवस्था/राजकुमार अवस्था) में तप ग्रहण किया था। शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप ग्रहण किया (गा. ६७७)।

११. भ० ऋषभदेव नें एक वर्ष में (छह माह के उपवास के बाद) इक्षुरस से पारणा की थी और अन्य २३ तीर्थंकरों की भांति भ० पार्श्वनाथ दीक्षा-उपवास के दूसरे दिन गो-क्षीर में निष्पन्न अन्न (खीर) से पारणा की थी (गा. ६७८)।

१२. पार्श्व जिनेन्द्र का छद्मस्थकाल चार माह और वर्धमान जिनेन्द्र का बारह वर्ष का था। इतने समय तक इन तीर्थंकरों (ने तप किया था) को केवल-ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ था (गा. ६८५)।

१३. भ० पार्श्वनाथ को चैत्र कृष्णा चतुर्थी के पूर्वान्ह में विशाखा नक्षत्र के रहते शक्रपुर में केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ –

चित्ते बहुलचउत्थी-विसाह-रिक्खम्मि पासणाहस्स।
सक्कपुरे पुव्वण्हे, केवलणाणं समुप्पण्णं ।।७०८।।

केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर कुबेर के द्वारा समवसरण की रचना की गयी, जिसका क्षेत्रफल बहुत विशाल था (गा. ७१७ से ८९०)।

१४. भ० पार्श्वनाथ का केवलिकाल का प्रमाण ६९ वर्ष एवं ८ माह था, भ० महावीर का केवली काल ३० वर्ष का था-

अड-मास-समहियाणं, ऊणत्तरि वस्सराणि पासजिणे।
वीरम्मि तीसवासा, केवलिकालस्स संखं त्ति।।९६९।।

१५. भ० पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम मातंग और यक्षिणी का नाम पद्मा था। (गा. ९४३-९४८)।

१६. भ० पार्श्वनाथ के दस गणधर थे, जिनमें प्रथम गणधर का नाम स्वयम्भू था (गा. ९७२-९७५)।

१७. पार्श्व जिनेन्द्र के समय में १६००० ऋषि थे। इन के सात गण थे, जिनमें ३५० पूर्वधर, १०,९०० शिक्षक, १४०० अवधिज्ञानी मुनि, १००० केवल ज्ञानी, १००० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ७५० विपुलगति अवधिज्ञानी और ६०० वादी मुनि थे (गा. ११६९-११७०)।

१८. भ० पार्श्वनाथ के संघ में आर्यिकाएँ ३८००० थीं, जिनमें प्रमुख आर्यिका सुलोका (सुलोचना) थीं। श्रावकों की संख्या एक लाख एवं श्राविकाओं की संख्या तीन लाख कही गयी है (गा. ११९३-११९४)।

१९. पार्श्व जिनेन्द्र श्रावण मास में शुक्ल पक्ष की सप्तमी के प्रदोष काल में अपने जन्म नक्षत्र (विशाखा) के रहते ३६ मुनियों के साथ सम्मेद शिखर से मोक्ष (निर्वाण) को प्राप्त हुए-

सिद-सत्तमीपदोसे, सावणमासम्मि जम्म-णक्खत्ते।
सम्मेदे पासजिणो, छत्तीसजुदो गदो मोक्खं।।१२१८।।

२०. इस प्रकार भ० पार्श्वनाथ का तीर्थ प्रवर्तन काल २७८ वर्ष और महावीर भगवान का २१ हजार ४२ वर्ष प्रमाण है।

तिलोयपण्णत्ति में अंकित भ० पार्श्वनाथ के जीवन के उपर्युक्त विवरण का परवर्ती दिगम्बर जैन ग्रन्थों में अनुसरण और विकास किया गया है। किन्तु वे ग्रन्थ संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के हैं। संस्कृत में आचार्य रविषेण के पद्मचरित और आचार्य जिनसेन के आदिपुराण और गुणभद्र के उत्तरपुराण में तीर्थंकरों का जीवन वृत है। पार्श्वनाथ का जीवन चरित उत्तरपुराण के ७३वें पर्व में वर्णित हुआ है। बाद के कवियों के लिए प्रायः यही उत्तरपुराण का अंश उपजीव्य रहा है।

तिलोयपण्णत्तिके उक्त विवरण में भ० पार्श्वनाथ के पूर्वजन्मों का, कमठ के जीव की वैर भावना की श्रृंखला का, नाग-नागिनी की रक्षा का, भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म उद्बोधन एवं चातुर्याम धर्म आदि का कोई उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परम्परा में इन घटना-क्रमों के विकास के विवरण हेतु प्राकृत ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, संस्कृत-अपभ्रंश के ग्रन्थों का प्रभूत आधार है। रविषेण के पद्मचरित में भ० पार्श्व के पूर्वभव की नगरी का नाम साकेता, स्वयं का नाम आनन्द एवं पिता का नाम वीतशोक डामर होता है[२१]। अन्य ग्रन्थों में ८वें भव में पार्श्वनाथ "आनन्द" मिलता है।

तिलोयपण्णत्ति में भ० पार्श्वनाथ की तपस्या के समय किसी उपसर्ग का वर्णन प्राप्त नहीं है। किन्तु ग्रन्थ की गाथा संख्या १६४२ में कहा गया है कि सातवें तीर्थंकर (सुपार्श्वनाथ), २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं अंतिम तीर्थंकर भ० महावीर पर उपसर्ग भी होता है-

सत्तम-तेवीसंतिम-तित्थयराणं च उवसग्गो।।

आगे या ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं इन तीर्थंकरों के किसी उपसर्ग का वर्णन नहीं है; जबकि परवर्ती ग्रन्थों के विवरण में उपसर्गों का विवेचन उपलब्ध है। अतः प्रसंग और पद्धति की प्रधानता न होने से शायद ग्रन्थकार ने पार्श्वनाथ आदि के उपसर्गों का संकेत न किया हो, किन्तु लोक में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में महापुरुषों के साथ ऐसे उपसर्गों का आना और उन

पर विजय प्राप्त करना दिखाना ग्रन्थकारों में प्रचलित हो गया था। यद्यपि कल्पसूत्र एवं समवायांग आदि अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में भी पार्श्वनाथ पर किये गये उपसर्गों का उल्लेख नहीं है। किन्तु आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने पार्श्वस्तोत्र कल्याणमंदिर में कहा है कि "हे नाथ! उस दुष्ट कमठ ने क्रोधवेश में जो धूल आप के ऊपर फेंकी, वह आपकी छाया पर भी आघात नहीं पहुँचा सकी -

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि
रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्त्व न नाथ हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा।।

पासनाहचरिउ (पद्मकीर्ति) आदि में पार्श्व के पूर्वभवों के उपसर्गों आदि का विस्तृत विवेचन है।

पूर्वजन्मों के वैरभाव के द्वारा तपस्या में विघ्न, उपसर्ग आदि उपस्थित करने की पद्धति का विकास श्रमणपरम्परा में कर्मसिद्धान्त के प्रचार के साथ-साथ हुआ है। अच्छे-बुरे कर्मों का फल कई जन्मों तक व्यक्ति को भोगना पड़ता है, यह सिद्धान्त दृढ़ करने के लिए काव्यों में पूर्वभवों की परम्परा, जाति-स्मरण की परम्परा अधिक विकसित हुई है। प्राकृत आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत के कथा ग्रन्थों में "एक का अपकर्ष, दूसरे का उत्कर्ष" नामक यह मोटिफ (अभिप्राय) बहुत प्रचलित रहा है। वसुदेवहिण्डी, तरंगवतीकथा समराइच्चकथा, कादम्बरी और कुबलयमाला कथा में इस मोटिफ के अनेक उदाहरण अंकित हैं। बौद्ध धर्म की जातक कथाऐं, निदानकथा आदि ग्रन्थ इस पर प्रकाश डालते हैं। अतः प्रतीत होता है भ० पार्श्वनाथ के जीवन चरित के साथ ५-६वीं शताब्दी ईस्वी में पूर्वभव एवं उपसर्ग आदि के प्रसंग उन के चरित को विशिष्ट बनाने के लिए जुड़े हैं, जिनका विकास उत्तरपुराण एवं पासणाहचरिउ आदि में हुआ है। यद्यपि पार्श्वनाथ के विशिष्ट गुणों का स्मरण तो कल्पसूत्र में भी हुआ है। "पुरुषादानीय" (पुरुषों में श्रेष्ठ) के अतिरिक्त उन्हें दक्ष, दक्ष-प्रतिज्ञ, असाधारण रूपवान, स्वात्मलीन, सरल स्वभावी एवं विनीत कहा गया है -

पार्स णं अरहा पुरिसादाणीए दक्खे दक्खयतिन्भे,
पडिरूवे उल्लीणे भद्दए विणीए। (कल्प. १५२ सूत्र)।

कल्पसूत्र में यद्यपि पार्श्वनाथ के उपसर्गों का विशेष विवरण नहीं अंकित है, किन्तु वहाँ यह कहा गया है कि पार्श्वनाथ ८३ दिनों तक शरीर की ओर से सर्वदा उदासीन रहे। शरीर का त्याग कर दिया हो इस प्रकार शरीर की ओर से सर्वदा अनासक्त रहे। छद्मस्थ-काल में जो भी उपसर्ग उत्पन्न होते, यथा - देवजन्य, मनुष्यकृत और तृर्यंचजातिकृत, अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आदि। ऐसे उपसर्गों के उत्पन्न होने पर उनको वे निर्भय होकर सम्यक् प्रकार से सहन करने में समर्थ होते हैं, धैर्य रखते हैं और अपना संतुलन बनाये रखते हैं -

"पासे णं अरहा पुरिसादाणीए तेसीइं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा-दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिक्खजोणिया वा, अणुणोभा वा, पडिलोमा वा, ते उपन्ने सम्मं सहइ तितिक्खइ खमइ अहियासेइ" - कल्प सूत्र १५४

यहाँ पर पार्श्वनाथ का तपस्या काल ८३ दिन अंकित है। ८४वें दिन उन्हें केवल ज्ञान हुआ। जबकि तिलोयपण्णत्ति में पार्श्व का तपस्याकाल ४ माह (१२० दिन) का अंकित है। दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में इसी का अनुकरण हुआ है। इससे ६९ वर्ष ८ माह के केवल ज्ञानकाल (उपदेशकाल) को जोड़ने से ७० वर्ष की दीक्षा अवधि और ३० वर्ष का कुमार काल कुल १०० वर्ष की आयु भी पार्श्वनाथ की ठीक बैठ जाती है। कल्पसूत्र में भी अन्यत्र ३० वर्ष का कुमारकाल, ७० वर्ष की श्रामण्यपर्याय एवं समग्र एक सौ वर्ष की आयु पार्श्वनाथ की कही गयी है -

"पासे अरहा तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता .... बहुपडिपुण्णइं सत्तरिं वासाइं सामण्णापरियागं पाउणित्त, एग वाससयं सव्वाउयं पाइइत्ता. खीणे"। - कल्प सूत्र १५९

भगवान् पार्श्वनाथ के जन्मस्थान वाराणसी के सम्बन्ध में सभी प्राकृत ग्रन्थ और दोनों परम्पराएं एक मत हैं। भगवान् पार्श्व की जन्म तिथि तिलोयपण्णत्ति में पौष कृष्णा एकादशी निर्दिष्ट है, जबकि कल्पसूत्र में पार्श्व का जन्म पौष कृष्णा दशमी की मध्यरात्रि दिया हुआ है (सूत्र १५१)। एक तिथि का यह भेद परवर्ती ग्रन्थों में भी बना हुआ है। यद्यपि विशाखा नक्षत्र के सम्बन्ध में सभी एक मत हैं।

भ० पार्श्वनाथ की जन्मतिथि तो प्राकृत के इन प्राचीन ग्रन्थों में अंकित है, किन्तु जन्मसंवत् या वर्ष क्या था, इसका उल्लेख यहाँ नहीं है। प्रकारान्तर से इसके कुछ संकेत दिये गये हैं। तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि भ० पार्श्वनाथ के जन्म और भ० महावीर के जन्म में २७८ वर्ष का अन्तर है। जब हम दोनों तीर्थंकरों की आयु इसमें से घटाते हैं तो उनके निर्वाणवर्ष का अन्तर इस प्रकार आता है -

भ० पार्श्वनाथ	भ० महावीर
ई.पू. ८७७ वर्ष में जन्म	ई.पू. ५९९ में जन्म
(२७८ वर्ष का अन्तर)	- ७२ वर्ष की आयु
- १०० वर्ष की आयु	
ई.पू. ७७७ वर्ष में निर्वाण	ई.पू. ५२७ में निर्वाण
७७७ - ५२७ = २५० वर्ष का अन्तर	

इस २५० वर्ष के अन्तर को श्वेताम्बर परम्परा के १७वी सदी के एक ग्रन्थ "उपकेशगच्छचरितावली" में भ. पार्श्वनाथ के चार पट्टधर आचार्यो का काल देकर भी समझाया गया है। प्रथम पट्टधर शुभदत्त भ० पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद २४ वर्ष तक रहे, द्वितीय पट्टधर हरिदत्त ७० वर्ष तक रहे, तृतीय पट्टधर समुद्रसूरि ७२ वर्ष तक रहे और अंतिम चतुर्थ पट्टधर केशीश्रमण ८४ वर्ष तक रहे। अर्थात् भगवान् महावीर के जन्म और निर्वाण काल में भ० पार्श्वनाथ के पट्टधर केशीश्रमण विद्यमान थे[२२]। दिगम्बर परम्परा के प्राकृत ग्रन्थों में पार्श्व के पट्टधरों की परम्परा का

विवरण दृष्टिगत नहीं हुआ। प्रोफेसर सागरमल जैन "उपकेशगच्छचरितावली" के विवरण को प्रामाणिक नहीं मानते[२३]। आधुनिक देशी-विदेशी विद्वानों ने भी विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर भ० पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता स्वीकार की है[२४]। वे भी भ० महावीर के २५० वर्ष पूर्व भ०पार्श्वनाथ का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अब यह अन्तर २५० वर्ष भ० महावीर के निवार्ण के वर्ष के पूर्व था या जन्म के वर्ष के पूर्व, साक्ष्यों के अभाव में इस सम्बन्ध में अभी कुछ कहना ठीक नहीं।

भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जो प्राचीन प्राकृत साहित्य उपलब्ध है उसमें उनके समवसरण के बाद धर्मोपदेश का विवरण प्राप्त नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययनसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, भगवतीसूत्र एवं रामषसेनिय आदि प्राकृत ग्रन्थों में कतिपय पार्श्व-परम्परा के मुनियों और उनकी विचार धारा के विवरण अवश्य उपलब्ध हैं, जो पार्श्वनाथ के धर्म-दर्शन का संकेत करते हैं। "दिसीभासियं" नामक प्राकृत ग्रन्थ में 'पार्श्व' नामक अध्याय है, जिसमें लोक-स्वरूप, जीव और पुद्गल की गति, कर्म एवं उसके फल-विपाक, गतियों का गमनचक्र आदि का विवेचन है, जिसका उपदेश भ० पार्श्व ने दिया था। यहाँ चातुर्याम धर्म, निर्जीव-भोजन और मोक्षमार्ग की भी चर्चा है। इस सबका विवरण डा० सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक में दिया है[२५]। विद्वानों ने भ. पार्श्व और महावीर के धर्म के विशेष अन्तर को सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र के रूप में स्पष्ट किया है[२६]। भ० पार्श्वनाथ के मूल उपदेशों की समीक्षा प्राचीन सन्दर्भों के आधार पर की जानी आवश्यक है[२७]।

संदर्भ

१. णमि-णेमी-पास-वड्ढमाण य।। - ति.पं., गाथा ५१९-५२०.

२. ति.प., गा. ५३१.

३. वही, गा. ५५५.

४. वही, गा. ५५७.

५. पण्णासाहिय छस्सय-चुलसीदि-सहस्सवस्स-परिवड्ढे।
णेमिजिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स।।५८३।।
अट्ठत्तरि-अहियाए बे-सद-परिमाण-वास-अदिरित्ते।
पासजिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती वड्ढमाणस्स।।५८४।।

६. वही, गाथा ५८९.

७. वही, गाथा ५९१, ५९४, ५९५, एवं गाथा ६०५-६१०.

८. वही, गाथा ६११, ६१२.

९. वही, गाथा ६१४ से ६१८ यथा -
संति-दुग-वासुपुज्जा, सुमइ-दुगं सुव्वदादि पंच जिणा।
णिय-पच्छिम-जम्माणं उवयोगा जाद-वेरग्गा।।६१४।।

१०. वही, गा. ६७३ एवं ६७५.

११. वही, गा. ६७८.

१२. वही, गा. ६८५.

१३. वही, गा. ७१७ से ८९०.

१४. वही, गा. ९६९.

१५. वही, गा. ९४३-९४८.

१६. वही, गा. ९७२-९७५.

१७. वही, गा. ११६९-११७०.

१८. वही, गा. ११८७ एवं ११९१.

१९. वही, गा. १२१८.

२०. दोण्णि सया अडहत्तरि वासाण पासणाहस्स।
इगिवीस सहस्साणिं दुदाल वीरस्स सो कालो ।।१२८५।।

२१. पद्मचरित, सरी २०, श्लोक १६ से ३०.

२२. आचार्य हस्तीमल जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ५२५-५३१.

२३. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, वाराणसी, पृ. ५१.

२४. देवेन्द्र मुनि शास्त्री, भगवान पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन, पूना, १९६९.

२५. 'रिसिभासियं एक अध्ययन', प्राकृत भारती, जयपुर.

२६. पासणाहचरिउ (सम्पा०-पी.के. मोदी), प्रस्तावना, पृ ४८-४९.

२७. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (प्रथम भाग) पं. बलभद्र जैन.

पार्श्वापत्य कथानकों के आधार पर भ० पार्श्वनाथ के उपदेश

*– डा० नन्द लाल जैन**

जैनों की वर्तमान चौबीसी में भ० पार्श्वनाथ तेइसवें तीर्थंकर हैं। इन्होंने काशी में विशाखा नक्षत्र में जन्म लिया और इसी नक्षत्र में सम्मेदाचल से निर्वाण पाया। इनका जीवन चरित्र कल्प सूत्र[1] चउपन्न महापुरिस चरिउ, त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित, महापुराण और पार्श्वपुराण आदि में पाया जाता है। एक तापस के पंचाग्नि के तप के समय सर्प की रक्षा और अपने तपस्या काल में कमठ का उपसर्ग इनके जीवन की प्रमुख घटनायें हैं। इन्होंने तीस वर्ष में दीक्षा ली, तेरासी दिनों में केवल ज्ञान पाया और सत्तर वर्ष तक धर्मोपदेश दिया। दोनों ही संप्रदायों में, महावीर चरित्र के विपर्यास में, उनका चरित्र प्राय: एक समान होते हुए भी, आधुनिक दृष्टि से पूर्ण नहीं लगता। भला, सौ वर्ष को दो-चार पृष्ठों में कैसे समाहित किया जा सकता है। यह तथ्य उनकी ऐतिहासिकता को भी विवादित होने का संकेत देता है। भ० पार्श्व ने अपने जीवन काल में "पुरुष श्रेष्ठ" "ऋषि" और "अर्हत" की ख्याति पाई। इससे उनकी लोकप्रियता तथा जनकल्याणी उपदेश कला का अनुमान लगता है। इसीलिये उनकी मूर्तियाँ भी आज सर्वाधिक हैं। उनके संघ के साधु स्थविर और निर्ग्रंथ कहलाते थे। महावीर की तुलना में उनके चतुर्विध संघ में कम-से-कम एक प्रतिशत सदस्य अधिक थे। कल्पसूत्र के अनुसार, इनके संघ में १६००० साधु, ३८००० आर्यिकायें, ११४००० श्रावक एवं ३३२००० श्राविकायें थीं। यह संख्या त्रिलोक प्रज्ञप्ति[2] में कुछ भिन्न है। फिर भी, औसतन साध्वी-साधु का अनुपात २.३७ और श्रावक-श्राविका का अनुपात लगभग ३.० आता है। साध्वी-साधु का अनुपात श्वेताम्बर संप्रदाय में तो अब भी यही लगता

** जैन केन्द्र, रीवा*

है, पर दिगंबरों की स्थिति काफी भिन्न दिखती है। यह संघ निर्ग्रंथ कहलाता था। महावीर को भी तो "निगंठ-नातपुत्त" कहा गया है। इनके लिए जैन शब्द तो ८-९वीं सदी की देन है। इनका मुख्य कार्य क्षेत्र तो वर्तमान बिहार तथा उत्तर प्रदेश (काशी, वैशाली, कपिलवस्तु, श्रावस्ती और राजगिर आदि) रहे[२४] पर उड़ीसा और बंगाल में पार्श्वापत्य सराकों की उपस्थिति उनके इन क्षेत्रों में भी प्रभाव को सूचित करती है। स्वयं महावीर और उनका वंश भी मूलत: पार्श्वापत्य था। भ० बुद्ध और उनके संबंधी भी प्रारंभ में पार्श्वापत्य ही थे। महावीर का उनके प्रति आदर भाव भी था। इसका उल्लेख उन्होंने अपने अनेक प्रश्नोंत्तरों में किया है। महावीर को पार्श्व की परंपरा का संघ, श्रुत एवं आचार प्राप्त हुआ। उन्होंने सामयिक परिस्थितियों के अनुसार उसमें कुछ संशोधन एवं परिवर्तन किये और उसे अधिक जनकल्याणी तथा वैज्ञानिक बनाया। इसीलिए वे अपने युग के नवीन तीर्थंकर बने।

वर्तमान में भ० पार्श्व के उपदेशों/सिद्धान्तों से संबंधित कोई विशेष आगम ग्रंथ नहीं हैं। पर कहते हैं कि उनके उपदेशों का सार चौदह पूर्व ग्रन्थों मे रहा होगा। दुर्भाग्य से, वे आज विस्मृति के गर्भ में चले गये हैं। पर उनके अधिकांश प्रवादान्त नामों से पता चलता है कि पार्श्वनाथ के समय भी महावीर के समान अनेक मत-मतान्तर रहे होंगे। इनके आधार पर ही उन्होंने अपने एकीकृत उपदेश दिये होंगे। उनके उपदेशों का सार ऋषि भाषित[५] में मूल रूप में है पर उत्तराध्ययन[६], सूत्रकृत[७], भगवती सूत्र[८], ज्ञाताधर्मकथा[९], राजप्रश्नीय[१०], आवश्यक निर्युक्ति[११] तथा निरयावलियाओ[१२] आदि के समान प्राचीन ग्रन्थों में अनेक पार्श्वापत्य स्थविरों एवं श्रमणोपासकों के कथानकों के रूप में यत्र-तत्र भी उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों का रचना काल ५००-१०० ई. पू. के बीच माना जा सकता है। ये उपदेश (१) केशी-गौतम संवाद (२) पेंढालपुत्र उदक (३) वैश्य पुत्र कालास, स्थविर मेहिल संघ, स्थविर गांगेय एवं अन्य पार्श्वापत्य स्थविर (४) भूता, काली आदि साध्वी (५) केशी-प्रदेशी संवाद (६) स्थविर मुनिचन्द्र, गोशालक संवाद तथा (७) सोमिल ब्राम्हण आदि के कथानकों में पाये जाते हैं। इन

ग्रन्थों में नंदिषेण आदि स्थविर तथा सोमा, जयन्ती, विजया तथा प्रगल्भा आदि परिव्राजिकाओं के भी उल्लेख हैं। अनेक कथानकों में पार्श्वापत्य स्थविर या श्रावक महावीर के धर्म में दीक्षित तो होते हैं, पर उनमें उनके उपदेश नहीं हैं। ये सभी संवाद और कथानक वाराणसी एवं मगध क्षेत्र से संबंधित हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि इन क्षेत्रों में पार्श्वापत्यों का महावीर काल में भी काफी प्रभाव था। इन्हें अपने पक्ष में करने के लिए महावीर को अनेक बौद्धिक एवं कूटनीतिक उपाय काम में लेने पड़े होंगे।

कुछ बौद्ध ग्रंथों[१२] में भी पार्श्व और उनसे संबंधित स्थविरों के कथानक पाये जाते हैं। इन उल्लेखों तथा जैन कथाओं के आधार पर ही पार्श्व की ऐतिहासिकता तथा समय (८७७-७७७ ई. पू. या ८१७-७१७ ई. पू. यदि महावीर का समय ५४०-४६८ ई. पू. माना जाय, या ७९९-६९९ ई. पू.) निर्धारित किया जाता है। भ० पार्श्व की ऐतिहासिकता की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति इस युग में जर्मन्न विद्वान हर्मन जैकोबी ने की थी।

भ० पार्श्व के प्रमुख उपदेशों में विचारात्मक और आचारात्मक - दोनों कोटियाँ समाहित हैं। इस आलेख में इनका संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह संकेत देना आवश्यक है कि मैं इतिहासज्ञ नहीं हूँ, धार्मिक ग्रंथों का वैसा अध्येता भी नहीं हूँ जैसी यह विद्वान मंडली है। अतः इस आलेख में अनेक अपूर्णतायें होंगी। आपके बुद्धिपरक सुझाव मुझे प्रिय होंगे।

ऋषि भाषित में पार्श्व ऋषि के उपदेश

दिगंबर ग्रन्थों में ऋषि भाषित का उल्लेख नहीं मिलता, पर श्वेताम्बर मान्य स्थानांग, समवायांग तथा उत्तरवर्ती ग्रंथों में इसका प्रश्न व्याकरण के अंग अथवा कालिक श्रुत के रूप में और तत्वार्थाधिगम भाष्य[१३] में अंगवाह्य के रूप में इसका विवरण मिलता है। जैन[५] इसे अर्धमागधी का प्राचीनतम - आचारांग का समवर्ती या पूर्ववर्ती - ५००-३०० ई. पू. का ग्रंथ मानते हैं। इसमें ४५ ऋषियों के उपदेशों में अर्हत् पार्श्व और वर्द्धमान के उपदेश भी सम्मिलित हैं। यही एक ऐसा स्रोत है जिसमें भ० पार्श्व के उपदेश

मूल रूप में, बिना कथानक के, पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यह प्राचीनतम रूपों में से अन्यतर ग्रंथ माना जाता है। फलतः इसी ग्रंथ से हम भ० पार्श्व के उपदेशों की चर्चा करेंगे।

इसमें जहाँ वर्द्धमान के कर्मवाद और कर्म संबर के उपाय - इन्द्रिय विजय, कषाय विजय एवं मन विजय (उन्नीस गाथाओं में) बताये गये हैं, वहीं वे पार्श्व ऋषि के उपदेश (चौबीस सूत्रों में) निर्ग्रंथ प्रवचन का संपूर्ण सार प्रस्तुत करते हैं जिन्हें महावीर ने अधिकांश में मान्य किया। पार्श्व के इन उपदेशों में (१) विचारात्मक (२) आधारात्मक - दोनों रूप समाहित हैं। वैचारिक दृष्टि से, पार्श्व के उपदेशों में (१) पंचास्तिकाय (२) आठ कर्म, कर्म बन्ध, कर्म विपाक आदि के रूप में कर्म वाद (३) चार गतियां और मुक्तिवाद (४) शाश्वत, अनन्त, परिमित एवं परिवर्तनशील विशिष्ट आकार का लोक (५) जीव और अजीब तत्व और उनकी ऊर्ध्व - अधोगति तथा जीव का कर्तृत्व - भोक्तृत्व (६) चतुर्याम धर्म (७) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के दृष्टिकोणों से वर्णन की निरूपणा (८) हिंसा एवं मिथ्या दर्शन आदि अठारह पापस्थानों की दुखकरता (९) इनसे विरति की सुख-करता आदि के सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं।

आचारगत उपदेशों में बताया गया है कि मनुष्य को हिंसा, कषाय एवं पाप स्थानों में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए क्योंकि ये दुःख के कारण हैं। सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन से सुख की प्राप्ति होती है। प्राणियों को सचित्त एवं सांसारिक प्रपंच - विरमण करना चाहिए जिससे भव-भ्रमण का नाश हो। प्राणियों को चातुर्याम धर्म का पालन करना चाहिए। इसके पालन से कर्म-द्वार संवृत होते हैं।

पार्श्व के ये उपदेश हमें आत्मवाद एवं निवृत्तिमार्ग का उपदेश देते हैं। इन उपदेशों में सचेल - अचेल मुक्ति की चर्चा नहीं है, मात्र चातुर्याम धर्म की चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विषय उत्तरवर्ती काल में विचार -विन्दु बना होगा जैसा केशी-गौतम या अन्य संवादों में प्रकट होता है। इस ग्रन्थ में "जीव" एवं "अत्त" (आत्मा) - दोनों शब्दों का उपयोग समान

अर्थ में किया लगता है। इससे प्रकट होता है कि भ० पार्श्व के विचारों पर उपनिषदीय "जीवात्मवाद" का प्रभाव पड़ा है। अन्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र जो भी पार्श्व के उपदेश या उनका सन्दर्भ पाया जाता है, वह ऋषिभाषित के सूत्रों का विस्तार या किंचित् परिवर्धन (सचेल-अचेल मुक्ति आदि) का रूप है।

उत्तराध्ययन : केशी-गौतम संवाद : विज्ञान और प्रज्ञा का उपयोग आवश्यक

चटर्जी उत्तराध्ययन को पांचवी सदी ईसा पूर्व का ग्रंथ मानते हैं।[१५] इसके तेइसवें अध्ययन में पार्श्वापत्य केशी एवं महावीर के गणधर गौतम का एक ज्ञानवर्धक संवाद है। राजप्रश्नीय के केशी-प्रदेशी के संवाद में यही पार्श्वापत्य केशी आचार्य हैं। इस संवाद के अनुसार, एक बार कुमार श्रमण केशी और गणधर गौतम एक ही समय श्रावस्ती (उ.प्र.) के अलग-अलग दो उद्यानों में ठहरे थे। दोनों के ही मन में एक-दूसरे से मिलने की एवं एक दूसरे की परम्पराओं को जानने की जिज्ञासा हुयी। गौतम संघ सहित केशी से मिलने गये। केशी ने उनसे बारह प्रश्नों पर जिज्ञासा की। इनमें दो प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। एक ही लक्ष्य होते हुये चातुर्याम एवं पंचयाम तथा वेश की द्विविधता के उपदेश का क्या कारण है? गौतम ने इस विषय में बहुत ही वैज्ञानिक दृष्टि का आश्रय लिया और बताया कि

(१) उपदेश शिष्यों की योग्यता एवं लौकिक दशाओं के आधार पर दिये जाते हैं। भ० पार्श्व के समय साधु और श्रावक ऋजु और प्राज्ञ होते थे और भ० महावीर के समय ये वक्र और जड़ होते हैं। अतः दोनों के उपदेशों में धर्म और तत्व का उपदेश प्रज्ञा और बुद्धि का प्रयोग कर देना चाहिये। महावीर ने वर्तमान दशा को देखकर ही विभज्यवाद के आधार पर ब्रह्मचर्य व्रत जोड़ कर पंचयाम का उपदेश दिया। पार्श्व के युग में यह अपरिग्रह के अन्तर्गत समाहित होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि भ० पार्श्व के युग में विवाह-प्रथा का प्रचलन किंचित् शिथिल रहा होगा। महावीर ने उसे पांचवें याम के आधार पर सुदृढ़ बनाया और सामाजिकता का सम्वर्द्धन किया।

तत्वतः इसमें भिन्न – पथता नहीं, व्याख्या-स्पष्टता ही अधिक है। मूलाचार ७.५३५-३९ में भी परोक्षतः यही कहा गया है।

(२) इसी प्रकार, वेश (सचेल-अचेल) सम्बन्धी द्विविधता भी केवल व्यावहारिक है। यहाँ भी वैज्ञानिक आधार पर ही धर्म के साधनों के अवलम्बन करने की बात है। निश्चय दृष्टि से तो धर्म के मुख्य साधक ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही हैं। इस प्रकार वेश गौण है। इस पर बल देने की अनिवार्यता नहीं है। भरत चक्रवर्ती आदि बिना वेश के ही केवली हुये हैं। यहाँ "निश्चय" शब्द का उपयोग हुआ है जो महत्वपूर्ण है। जो केवल सचेल मुक्ति ही मानते हैं। वे सही नहीं हैं। सचेल-अचेल सम्बन्धी मान्यताओं का यह प्रथम उल्लेख लगता है।

इन दो परम्परागत विचार-भेदों के उपदेशों के अतिरिक्त अन्य १० प्रश्नोत्तर बिन्दु पार्श्व और महावीर – दोनों ने ही स्वीकृत किये हैं। इस प्रकार इन दोनों परम्पराओं में लगभग १७% मत भिन्नता प्रकट होती है। इन १० विन्दुओं में (१) मनोनियन्त्रण के माध्यम से इंद्रिय-कषायविजय (२) राग-द्वेष-स्नेह रूपी पाशों से मुक्ति (३) भव-तृष्णा रूपी लता को उत्तम चरित्र रूपी अग्नि से नष्ट करना (४) कषाय रूपी अग्नि को तपोजल से शमित करना (५) मन रूपी दुर्दान्त अश्व को श्रुत एवं संयम से वश में करना (६) सु-प्रवचन के मार्ग पर चलना (७) धर्म-द्वीप से प्रकाशित होना (८) संसार समुद्र को मोक्षैषणा द्वारा पार करना (९) अज्ञान अंधकार को अर्हत् वचन के प्रकाश से नष्ट करना तथा मुक्त स्थान प्राप्त करना। ये विन्दु उपमाओं के माध्यम से मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रभावी रूप से व्यक्त किये गये हैं।

सूत्र तांग : गौतम–पेंढालपुत्र उदक संवाद : श्रावकों का धर्म

वर्तमान बिहार प्रदेश के नालंदा नगर के मनोरम उद्यान में गौतम गणधर और पार्श्वापत्यीय पेंढालपुत्र उदक का हिंसा और कर्म बंध विषयक मनोरंजक संवाद आया है। गौतम ने उदक को बताया कि साधु या श्रमण तो सर्व हिंसाविरति का उपदेश देता है, पर गृहस्थ अपनी सीमाओं के कारण

स्थूल या त्रस-हिंसा का ही त्याग कर पाता है। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि श्रमण उसे त्रसहिंसा की अनुमति देता है और स्वयं तथा श्रावक के कर्मबंध का भागी होता है। गृहस्थ की स्थावर हिंसा उसके अप्रत्याख्यानी पापबंध का कारण बनती है। वस्तुतः त्रसकाय में आयुष्य भोग रहे प्राणी ही त्रस माने जाते हैं। यह भी सही नहीं है कि ऐसी कोई भी पर्याय नहीं जहां गृहस्थ प्राणी हिंसा का त्याग कर सके क्योंकि सभी स्थावर न तो त्रस के रूप में या सभी त्रस स्थावर के रूप में जन्म ले पाते हैं। साथ ही, देव, नारकी एवं विक्रिया ऋद्धि धारकों तथा उत्तम संहननी जीवों की हिंसा तो वह कर ही नहीं सकता। फलतः अनेक पर्यायें हैं जहां हिंसा का परित्याग हो सकता है। इसी प्रकार, कोई गृहस्थ त्रसहिंसा के प्रत्याख्यान का व्रत लेकर स्थावर काय की हिंसा के कारण व्रत-भंगी नहीं कहा जा सकता। फलतः हिंसा-अहिंसा संबंधी व्रत पालन का अर्थ लौकिक जीवन एवं पर्याय-विशेष के आधार पर लेना चाहिये।

भगवती सूत्र और भ० पार्श्व के उपदेश

ऐसा माना जाता है कि भगवती सूत्र के पूर्ववर्ती शतक प्राचीन हैं। इन में १.९, २.५, ५.९, ९.३२ आदि में पार्श्वापत्यों एवं स्थविरों के विवरण और कहीं कहीं उपदेश भी पाये जाते हैं। इनमें कहीं कहीं पार्श्वापत्य श्रावक/स्थविर महावीर के पंचयामी एवं सप्रतिक्रमणी धर्म में दीक्षित होते भी बताये गये हैं। वैश्यपुत्र कालास के कथानक में बताया गया है कि सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग को दो प्रकार से परिभाषित किया जाता सकता है - द्रव्यार्थिक नय या निश्चय-नय से इन पदों का अर्थ अभेदात्मक आत्मा ही है और व्यवहार नय से इनका अर्थ वे प्रक्रियायें हैं जिनसे आत्मत्व के ये गुण परिपक्व रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, संयम की अभिव्यक्ति के लिये कषायों की गर्हा की जाती है। इस कथानक से यह भी प्रकट होता है कि भ० पार्श्व के समय में ये पारिभाषिक शब्द प्रचलित थे। इनके परिपालन से अगार अनगारत्व की ओर अभिमुख होता है। इस कथानक से भी यह तथ्य प्रकट होता है कि पार्श्वनाथ आत्मवादी थे। इस

कथानक का स्थान ग्रंथ में निर्दिष्ट नहीं है, संभवत: यह राजगिर के समीप ही हो।

तुंगिया नगरी में एक बार पार्श्वपात्यीय स्थविर मेहिल, आनंदरक्षित, कालिकपुत्र एवं काश्यप स-संघ पधारे। वहां के श्रावकों को प्रसन्नता हुई और वे उनके दर्शनार्थ गये। स्थविरों ने उन्हें न केवल चतुर्याम धर्म (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह) का उपदेश दिया अपितु उन्होंने यह भी बताया कि संयम पालन से संवर होता है और तप से कर्मनिर्जरा होती है। यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि पूर्वकृत कर्म, पूर्वकृत संयम, कर्मबन्ध (शरीरनाम कर्म) एवं आसक्ति से प्राणियों की गति निर्धारित होती है। इसका अर्थ यह है कि सराग संयम एवं सराग तप कर्मबंध में कारण होता है और आसक्ति की तीव्रता-मंदता भावी गति निर्धारक होती है। इससे यह फलित होता है कि गतियों का बंध राग अवस्था में ही होता है वीतराग अवस्था में नहीं होता।

एक अन्य कथानक में कुछ पार्श्वापत्य स्थविर राजगिर में महावीर से प्रश्न करते हैं कि असंख्यलोक में अनंत और परिमित रात्रि-दिवस कैसे हो सकते हैं? उन्होंने भ० पार्श्व के उपदेशों का उल्लेख करते हुए बताया कि यह संभव है क्योंकि अनंत कालाणु संकुचित होकर असंख्य क्षेत्र में समाहित हो जाते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक जीव की अपेक्षा काल परिमित भी हो सकता है। पार्श्वनाथ के अनुसार लोक शाश्वत, आलोक परिवृत, परिमित एवं विशिष्ट आकार का है। इसमें अनन्त और असंख्य जीव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। वस्तुत: जीवों के कारण ही यह क्षेत्र लोक कहलाता है।

भगवती के ९.३२ में वाणिज्य ग्राम (वैशाली के पास ही) में पार्श्वापत्यीय स्थविर गंगेय ने भगवान महावीर से अनेक प्रश्न किये। महावीर ने भ० पार्श्व के मत का उल्लेख करते हुये बताया कि

(१) विभिन्न प्रकार के जीव सांतर एवं निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं।

(२) सभी जीव चार गतियों में उत्पन्न होते हैं। नरक गति में सात नरक

होते हैं। तिर्यंचों की एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पांच प्रमुख योनियां होतीं हैं। मनुष्य गति में समूर्छन एवं गर्भज योनि होती है। देवगति चार प्रकार की होती है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और गर्भज मनुष्यों की संख्या अन्य योनियों से अल्प होती है। मनुष्यों की तुलना में देव सौ गुने और तिर्यंच एक हजार गुने होते हैं। इन उत्तरों मे जीव से जीव की उत्पत्ति या सत्कार्यवाद का भी परोक्षत: उल्लेख किया गया है। विभिन्न गतियों में उत्पत्ति पूर्वकृत कर्मबंध की प्रकृति पर निर्भर करती है।

इन कथानकों में अनेक स्थलों पर यह बताया गया है कि अनेक बार पार्श्वापत्य श्रावक एवं स्थविर चतुर्याम से पंचयाम धर्म में दीक्षित हुये और महावीर संघ की शोभा बढ़ायी।

राजप्रश्नीय : कुमारश्रमणकेशी – प्रदेशी संवाद : आत्मवाद

राजप्रश्नीय सूत्र को उपांगों में गिना जाता है। उसमें केशी-प्रदेशी संवाद के अन्तर्गत शरीर-भिन्न आत्मवाद का तार्किक उन्नयन किया गया है। यद्यपि कुछ विद्वान इस केशी को पार्श्वापत्य केशी से भिन्न मानते हैं पर अधिकांश पूर्वी एवं पश्चिमी विद्वान उन्हें पार्श्वापत्य ही मानते हैं। भ० पार्श्व का युग उपनिषदों की रचना का युग था जब क्रियाकाण्ड ने ज्ञानकाण्ड का रूप लिया और स्वतंत्र आत्मवाद का उपदेश दिया। इसी उपदेश को आचार्य केशी ने अनुभूति-पुष्ट करने के बदले तर्क-पुष्ट किया और दुराग्रह एवं एकांतवाद को छोड़ने का आग्रह किया। इस संवाद में ज्ञान के पांच प्रकारों का भी वर्णन है - उससे पृथक आत्मवाद से संबंधित आठ तर्क हैं जो निम्न हैं :

(१) परलोक (नरक एवं देवलोक) गत संबंधी चार कारणों से तत्काल नहीं आ सकते (स्थानांग, ४), अत: प्रतिबोध नहीं दे सकते।

(२) आत्मा वायु के समान अप्रतिहत गति वाला है। शून्य में वायु गति नहीं करती।

(३) मन्दबुद्धि वालों के लिये आत्मवाद - जैसा सूक्ष्म विषय बोधगम्य नहीं है (ज्ञानावरण कर्म)

(४) आत्मा में हवा के समान भार नहीं होता। यह अगुरु लघु है।

(५) शरीरधारी जीव में कर्मोदय से शक्ति-भिन्नता व्यक्त होती है।

(६) आत्मा वायु के समान अदृश्य है, सूक्ष्म है, यह अमूर्त है।

(७) आत्मा - प्रदेशों में संहार - विसर्पण की योग्यता है।

वर्तमान युग में यहाँ वायु और अग्नि तप्त लोहे के दृष्टान्त भौतिक (तेजस-कार्मण शरीरी) जीव के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, अमूर्त आत्म जत्व को नहीं (परन्तु उपकरण और प्रयोग विहीन युग में लौकिक उदाहरणों द्वारा अमूर्त तत्व को सिद्ध करने की कला अनूठी ही कहलायेगी)। यह मनोवैज्ञानिक भी है। इसी लिये राजा-प्रदेशी केशी का अनुयायी बन गया। लगता है, यह संवाद गणधर, गौतम से भेंट के पूर्व का है क्योंकि केशी-गौतम संवाद में तो वे महावीर - संघ में दीक्षित हो गये थे।

निरयावलियाओ : सोमिल ब्राह्मण और पंच अणुव्रत

वाराणसी के सोमिल ब्राह्मण ने पार्श्व के उपदेश सुनकर व्रतों की दीक्षा ली। बाद में अनेक प्रकार के साधुओं के कारण अनेक बार उनका अतिक्रमण किया और मिथ्यात्वी हो गया। एक हितकारी देव के बार बार याद कराने पर उसने पुनः १२ व्रत धारण किये, व्रत-तप-उपवास किये। वह मर कर देव हुआ। साध्वी भूता की कथा का भी यही रूप है पर उसमें उपदेश नहीं है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि सोमिल का यह कथानक पार्श्वकालीन नहीं होना चाहिये क्योंकि उसमें चातुर्याम के बदले पंचयाम का उल्लेख है। साथ ही, भगवती सूत्र १८.१० में भी सोमिल ब्राह्मण का कथानक है और उसमें भी वे ही प्रश्न हैं जो निरयावलियाओ में हैं पर उसके मिथ्यात्वी होकर पुर्नदीक्षित होने की बात नहीं है। साथ ही, यह कथानक वाणिज्य ग्राम से संबंधित है । इसलिये दोनों कथानकों के सोमिल ब्राह्मण अलग व्यक्ति होना चाहिये पर पंचयाम की संगति कैसे बैठेगी?

उपसंहार

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पार्श्व के सैद्धान्तिक उपदेशों के अन्तर्गत (१) पंचास्तिकाय (२) कर्मवाद और उसके द्विविध आयाम (३) अनंतसुखी मोक्ष (४) शाश्वत पर परिमित एवं परिवर्तनशील लोक (५) जीव-शरीर-भिन्नता के माध्यम से स्वतंत्र आत्मवाद (६) जीव के अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अदृश्यत्व, ऊर्ध्वगामित्व, कर्तृत्व और भोगतृत्व (७)चार गतियां और पांच ज्ञान: रागावस्था में गतिबंध (८) सत्कार्यवाद (९) चातुर्याम धर्म/सामायिक धर्म (१०) सान्तर-उत्तर वस्त्र मुक्तित्व (११) हिंसा-अहिंसा का विवेक पर्याय और परिस्थिति पर निर्भर (१२) धार्मिक पदों के अर्थ व्यवहार एवं निश्चयनय की दृष्टि से लगाने की चर्चा आदि विन्दु आते हैं। इसके अतिरिक्त, आचार के क्षेत्र में भी कषाय, हिंसा, पापस्थान एवं मिथ्या-दर्शन से विरमण, अचित्त आहार, व्रत-उपवास आदि के द्वारा इन्द्रिय - मन नियंत्रण, परिषह सहन, सामायिक, संयम, संवर, तप एवं निर्जरा का अभ्यास, पूर्वकृत कर्मों एवं आसक्ति के अल्पीकरण की प्रक्रिया का पालन आदि नैतिक जीवन के उन्नयन के उपदेश प्रमुख हैं। निश्चय-व्यवहार सिद्धान्त के समान वाह्य एवं अन्तरंग आचार का उपदेश भी दिया गया है। ये सभी परम्परागत उपदेश महावीर ने भी अपनाये हैं। दोनों ही तीर्थंकर महिलाओं के प्रति उदार थे। दोनों ही मुक्तिलक्षी थे।

फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर के उपदेशों की तुलना में भ० पार्श्व के युग में निम्न सैद्धान्तिक मान्यतायें उतनी स्पष्ट रूप से नहीं मिलतीं - (१) कालद्रव्य (२) सप्त-तत्व/नव पदार्थ (इनके परोक्ष संकेत हो सकते हैं) (३) दैनिक प्रतिक्रमण की अनिवार्यता (४) पंचयाम धर्म (ब्रह्मचर्य यम) और छेदोपस्थापना चरित्र (५) अष्टप्रवचन माता का महत्व (समिति और गुप्ति) (६) विभज्यवाद एवं अनेकान्तवाद का वर्तमान रूप (७) अचेल मुक्ति की ऐकान्तिक मान्यता। इन तत्वों का विकास भ० महावीर के समय में हुआ लगता है। इसीलिये महावीर संघ में दीक्षित होने वाले पार्श्वापत्य पंचयाम एवं सप्रतिक्रमणी दीक्षा लेते थे। इन कुछ कठोरताओं के कारण ही महावीर-संघ बना तो रहा पर फैल नहीं पाया। इसके साथ ही, पार्श्व के

युग में (१) सचेल-अचेल मुक्तिवाद (२) आत्मवाद और अभेदवाद (३) सुविधा भोगी साधुत्व एवं स्थविरवाद तथा (४) चातुर्यामवाद से संबंधित उपदेशों की प्रमुखता पाई जाती है। प्राचीन ग्रन्थों में "स्त्री मुक्तिवाद" एवं "केवली कवलाहारवाद" की चर्चा नहीं है। इनके चातुर्याम - पंचयाम, सचेल-अचेल मुक्तिवाद तथा सामायिक चरित्र आदि अनेक प्रकरणों में व्यवहार-निश्चय दृष्टि का भी आभास होता है। क्या कुन्दकुन्द की वरीयता प्राप्त निश्चय दृष्टि का आधार ये ही उल्लेख हैं? केशी को गौतम की यह बात अच्छी लगी कि तत्व एवं चरित्र की परीक्षा प्रज्ञा, बुद्धि एवं विज्ञान से करनी चाहिये। इस वैज्ञानिकता की दृष्टि ने ही महावीर को पार्श्व के चिन्तन को विकसित एवं अभिवर्द्धित करने की प्रेरणा दी। फिर भी, उपरोक्त आचारों के कारण पार्श्व संघ में विकृति आयी होगी जिससे महावीर के युग में, पार्श्वस्थ शब्द को शिथिलाचार का प्रतीक माना जाने लगा। संभवत: यह मान्यता पार्श्व को हीन दिखाने की एक कूटनीति का अंग रही हो। यह माना जाता है कि जहां छेदोपस्थापना चरित्र, कालद्रव्यवाद, विभज्यवाद आदि के उपदेश महावीर की उदारता प्रदर्शित करते हैं, वहीं पंचयाम एवं अचेल मुक्तिवाद, दैनिक प्रतिक्रमण, समिति - गुप्तिपालन पर बल आदि के प्रचण्ड निवृत्तिमार्गी उपदेश उनकी व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन की कठोरता के प्रतीक माने जाते हैं। इस कठोरता को अनेक पूर्वी और पाश्चात्य विचारकों ने जैन तंत्र के सार्वत्रिक न हो पाने का एक प्रमुख कारण माना है। महावीर के युग की तीर्थंकर चौबीसी की मान्यता तथा पूर्वों के साथ अंगोपांगों का शास्त्रीय विस्तार भी इस प्रक्रिया में बाधक रहा है। अनेकान्तवादी मान्यता में जैन तंत्र को सर्वोत्तम सिद्ध ही कैसे किया जा सकता है?[१६] इन कारणों से ऐसा लगता है कि पार्श्व के सिद्धान्त संभवत: जैन तंत्र को अधिक सार्वत्रिक बना सकते थे। यही कारण है कि अब कुछ विद्वान् निर्ग्रन्थ धर्म (पार्श्व धर्म) की चर्चा करने लगे हैं। पर इससे महावीर का महत्व कम नहीं होगा क्योंकि उन्हें पाश्चात्यों ने भी विश्व के एक सौ महान पुरुषों में माना है। बस हमें, केशी गौतम संवाद के दो वाक्य याद रखने चाहिये -

(१) पण्णा समिक्खए धम्मं।

(२) विण्णाणेण धम्मसाहणमिच्छियं।।

संदर्भ

१. आचार्य भद्रबाहु : कल्पसूत्र, शिवाना, १९७०

२. पंडित सुखलाल. चार तीर्थंकर, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९८९.

३. आचार्य यतिवृषभ : तिलोयपण्णत्ति - १, जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर, १९५३.

४. स्वामी, सुधर्मा : आचारांग-२, आ०प्र०सं०ब्यावर, १९८०.

५. जैन, सागरमल, सं० ऋषिभाषित, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८.

६. उत्तराध्ययन-२, जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९९३.

७. स्वामी, सुधर्मा : सूत्रकृतांग-२, तथैव, १९८६, पृष्ठ ३५७.

८. तथैव - : (१) भगवती सूत्र-१, तथैव, १९९४ पृष्ठ १७९-२६३.
(२) भगवती सूत्र-२-५, साधुमार्गी संघ, सैलाना,
१९६८-७२, ९२१, १६१४, २७५४.

९. तथैव : ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, अ०प्र०स० व्यावर, १९८१, पृष्ठ ५१३,५२६.

१०. स्थविर : राजप्रश्नीय, तथैव, १९८२ पृष्ठ १६७.

११. देखो संदर्भ ६, पृष्ठ ३५.

१२. स्थविर : निरयावलियाओ, गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९३४.

१३. चटर्जी ए.के. : कंप्रेहेन्सिव हिस्ट्री आव जैन्स, के.एल.एम., कलकत्ता, १९७८, पृष्ठ ११.

१४. वाचक, उमास्वाति : तत्वार्थाधिगम सभाष्य, राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९३२, पृष्ठ ४२.

१५. देखो, संदर्भ १३, पृष्ठ २५१.

१६. जैन, एन.एल. : सर्वोदयी जैन तंत्र, पोतदार ट्रस्ट, टीकमगढ़, १९९७.

पार्श्व परम्परा के उत्तरवर्ती साधु और उनका स्वरूप

– डॉ. रमेशचन्द्र जैन*

पासत्थ शब्द प्राचीन साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। इसकी अनेक प्रकार की व्याख्यायें की गयी हैं। भगवती आराधना में मासत्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र के भेद से भ्रष्टचारित्र मुनि के पाँच भेद किए गए हैं। इनसे सदैव ही मनुष्य को दूर रहना चाहिए, क्योंकि इनके संसर्ग से वह मनुष्य भी उनके समान ही पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है[1]।

सुखशील होने के कारण जो बिना कारण अयोग्य का सेवन करता है, वह पार्श्वस्थ (पासत्थ) है[2]। अर्थात् अतिचार रहित संयम मार्ग का स्वरूप जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु संयम मार्ग के पास ही वह रहता है। यद्यपि वह एकान्त से असंयमी नहीं है, परन्तु निरतिचार संयम का पालन नहीं करता – इसलिए उसको पार्श्वस्थ कहते हैं –

'पत्थानं पश्यन्नपि तत्समीपेऽन्येत कश्चिद गच्छति यथासौमार्ग पार्श्वस्थः एवं निरतिचार संयममार्ग जानन्नपि न तत्र वर्त्तते, किन्तु संयम मार्ग पार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनीसंयतः, न च निरतिचार संयमः स्नेऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति।'

वह शय्याधर पिण्ड – भोजन को नित्य करता है। भोजन करने के पहले और भोजन करने के पश्चात् दाता की स्तुति करता है।

उपर्युक्त शय्याधर शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। जो वसति बनाता है, जो टूटी हुई वसति की मरम्मत करता है तथा तीसरा वह जो व्यवस्थापक होता है अर्थात् वसति को देता है। उनका पिण्ड (भोजन), उपकरण (प्रतिलेखन) आदि शय्याधर पिण्ड कहलाता है। उन भोजनादि का

---

* बिजनौर, उ.प्र.

त्याग तीसरा स्थिति कल्प है[3]। सूत्रकृतांग में उसे सागरिय पिण्ड भी कहा है[4]। कल्पसूत्र टीका में कहा है कि शय्यातर के यहाँ से आहार आदि ग्रहण करना और उसका उपयोग करना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता[5]। निशीथभाष्य में शय्याधर से तात्पर्य श्रमण को शय्या आदि देकर संसार समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ बतलाया है। इसे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्यादि आहार तथा अन्य वस्तुओं को अकल्पनीय कहा है[6]।

पार्श्वस्थ उत्पादन और एषणा दोष से दूषित भोजन करता है, नित्य एक ही वसतिका में रहता है, एक ही संस्तर पर शयन करता है, एक ही क्षेत्र में निवास करता है, गृहस्थों के घर के अन्दर बैठता है, गृहस्थों के उपकरणों का उपयोग करता है। प्रतिलेखना बिना किए ही वस्तु को गृहण करता है या धृष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है, सुई, कैंची, नहिनी, क्षुरा आदि वस्तु को पास में रखता है, सीना, धोना, रंगनी आदि कार्यों में लगा रहता है। क्षार चूर्ण, सुरमा, नमक, घी आदि पदार्थ कारण न होने पर भी पास में रखता है। उपकरण बकुश और देहबकुश को भी पार्श्वस्थ मुनि कहा है[7]।

वस्तुतः कुछ साधु इन्द्रिय रूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु संघ के पार्श्ववर्ती होने से उन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं[8]। साधु समूह के मार्ग को छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिपने को प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव और सातगौरव से भरे गहन वन में पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं। जैसे विषैले काँटों से बिंधे हुये मनुष्य अटवी में अकेले दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व, माया और निदान रूपी काँटों से बिंधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं[9]।

वह पार्श्वस्थ मुनि साधु संघ का मार्ग त्यागकर ऐसे मुनि के पास जाता है, जो चारित्र से भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियों का आचरण करता है[10]।

इन्द्रिय, कषाय और विषयों के कारण राग द्वेष रूप परिणामों और क्रोधादि परिणामों के तीव्र होने से वह चारित्र को तृण के समान मानता है;

क्योंकि रागादि रूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं। अत: उसका ज्ञान दूषित होने से वह चारित्र को स्तरहीन मानता है। इसी से वह उसमें आदरभाव रखने के कारण चारित्र से च्युत होता है। इसी से उसे चारित्रभ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियों की सेवा में लग जाता है[११]।

मूलाचार में पाप श्रमण के पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृग चारित्र ये पाँच भेद किए गए हैं। ये सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अयुक्त तथा धर्मादि में हर्षरहित होते हैं[१२]। मूलाचार वृत्ति में कहा है -

संयत गुणेभ्य: पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ:।।

मूली वृत्ति: ७/९६

संयत के गुणों के पार्श्व में स्थित रहने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाते हैं।

चारित्रसार के अनुसार

यो वसति प्रतिबद्ध उपकरणोंपजीवी च श्रमणानाम पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ:। चारित्रसार, १४३/३.

जो मुनि वसतिकाओं में निवास करते हैं, उपकरणों से ही अपनी जीविका चलाते हैं, परन्तु मुनियों के समीप रहते हैं, उन्हें पार्श्वस्थ कहते है।।

व्यवहार सूत्र के प्रथम उपदेश में पार्श्वस्थ के तीन नाम दिए हैं - पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशत्थ। (जो साधु) दर्शन, ज्ञान और चारित्र के पास में रहता है, किन्तु उसमें संलग्न नहीं होता, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं।

प्र. अर्थात् प्रकर्ष से ज्ञानादि में निरुद्यमी होकर रहता है, इसलिए प्रास्वस्थ कहते हैं तथा पाश बन्धन को कहते हैं। मिथ्यात्व आदि बन्ध के कारण होने से पाश हैं, उनमें रहने से उसे पाशत्थ कहते हैं[१३]।

भावपाहुड में कहा गया है कि हे आत्मन्! कुभावना के परिणाँम रूप बीज के द्वारा अनादिकाल से पार्श्व आदि भावनाओं का अनेक बार चिन्तन कर तू दु:ख को प्राप्त हुआ है[१४]।

लिङ्ग पाहुड में कहा है कि जो लिंग धारण कर स्त्री समूह में उनका विश्वास कर तथा उन्हें विश्वास उत्पन्न कराकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र को देता है, उनकी सम्यक्त्व बतलाता है, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है। इस प्रकार विश्वास उपजाकर उनमें प्रवृत्ति करता है, वह व्यक्ति पार्श्वस्थ से भी अधिक निकृष्ट है[१५]। वह श्रमण नहीं है।

चारित्रसार में पार्श्वस्थादिको जिनधर्म बाह्य कहा है - एते पञ्च श्रमणाः जिनधर्म बाह्याः।

पार्श्वस्थादि पाँचों मुनि सुखस्वभावी होते हैं, सम्यग्दर्शनादि गुणों के प्रति निरुत्साही हो जाते हैं। नीति, वैद्यक, सामुद्रिक आदि पाप शास्त्रों का आदर करते हैं। इष्ट विषयों की आशा से बँधे हुए हैं। तीन गांख से सदा युक्त और पन्द्रह प्रमादों से पूर्ण है। समिति, गुप्ति की भावनाओं से दूर रहते हैं। संयम के भेद रूप जो उत्तरगुण तथा शील वगैरह हैं, इनसे भी दूर रहते हैं। दूसरों के कार्यों की चिन्ता में लगे रहते हैं। आत्मकल्याण के कार्यों से कोसों दूर हैं, इसलिए इनमें रत्नत्रय की शुद्धि नहीं रहती। परिग्रह में सदा तृष्णा, अधिक मोह व अज्ञान, गृहस्थों के समान आरम्भ करना, शब्द, रस, गन्ध, रूप और स्पर्श इन विषयों में आसक्ति, परलोक के विषय में निस्पृह, एहिक कार्यों में सदा तत्पर, स्वाध्याय आदि कार्यों में मन न लगना, संक्लेश परिणाम, मूल व उत्तर गुणों में सदा अतिचार युक्तता, चारित्रमोह का क्षयोपशम न होना, ये सब अवसन्नादि के दोष हैं, जिन्हें नहीं हटाते हुए वे अपना आयुष्य व्यतीत कर देते हैं, जिससे कि इन मायावी मुनियों को देवदुर्गति अर्थात् नीच देवयोनि की प्राप्ति होती है[१६]।

संसार भययुक्त मुनि भी इन पार्श्वस्थादि का सहवास करने से पहले तो प्रीतियुक्त हो जाता है और तदनन्तर उनके विषय में मन में विश्वास होता है, अनन्तर उनमें चित्त विश्रान्ति पाता है अर्थात् आसक्त होता है और तदन्नतर पार्श्वस्थादिमय बन जाता है[१७]।

उपर्युक्त सन्दर्भों के अतिरिक्त श्वेताम्बर आगम साहित्य में पार्श्वनाथ के अनुयायियों के लिए पासावच्चिज्ज (पार्श्वपत्यीय) और पासत्थ (पार्श्वस्थ)

इन दो शब्दों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि दोनों ही शब्दों का अर्थ पार्श्व के अनुयायी हो सकता है, किन्तु हम यह देखते हैं कि जहाँ पार्श्व के अनुयायियों को सम्मानजनक रूप में प्रस्तुत करने का प्रश्न आया, वहाँ 'पासावच्चिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है और जहाँ उन्हें हीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रसंग आया है, वहाँ उनके लिए पासत्थ शब्द का प्रयोग[१८] हुआ है।

श्वेताम्बरीय जैन आगम ग्रन्थों में 'पासावच्चिज्ज' (पार्श्वापत्यीय) कहे जाने वाले अनेक व्यक्तियों का उल्लेख है। प्रो. दलसुख मालवणीया ने उनकी संख्या ५१० बतलायी है। उनमें से ५०३ साधु थे[१९]। टीकाकारों ने 'पासावच्चिज्ज' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है - (क) पार्श्वापत्यस्य पार्श्वस्वामि शिष्यस्य अपत्यं शिष्य : पार्श्वपत्यीय[२०]। (ख) पार्श्वजिनशिष्याणामयं पार्श्वापत्यीय[२१]: (ग) पार्श्वनाथ शिष्य शिष्य[२२]। (घ) चातुर्यामिक साधो[२३]।

उपर्युक्त व्याख्याओं से 'पासावच्चिज्ज' शब्द के दो अर्थ निकाले जा सकते हैं।

(क) पार्श्वपत्यीय भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

(ख) वे चार यामों का पालन करते थे।

आचारांग में 'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगाया वि होत्था' ऐसा कथन आया है। इससे सिद्ध है कि भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ पार्श्वापत्यीय श्रमणोपासक और माता त्रिशला श्रमणोपासिका थीं।

डॉ. विमलचरण लॉ के अनुसार भगवान पार्श्व के धर्म का प्रचार भारत के उत्तरवर्ती क्षत्रियों में था, वैशाली उसका मुख्य केन्द्र था[२४]। वृज्जिगण के प्रमुख महाराज चेटक भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे[२५]। कपिलवस्तु में भी पार्श्व का धर्म फैला हुआ था, वहाँ न्यग्रोधाराम में शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक वप्प के साथ बुद्ध का संवाद हुआ था[२६]।

हर्म्सवर्थ ने भगवान पार्श्वनाथ को गौतम बुद्ध और महावीर से पूर्ववर्ती पुरुष के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि नातपुत्र (भगवान महावीर)

के पूर्वगामी उन्हीं की मान्यता वाले अनेक तीर्थंकरों में उनका विश्वास है और इनमें से अन्तिम पार्श्व या पार्श्वनाथ के प्रति वे विशेष श्रद्धा व्यक्त करते हैं। उनकी यह मान्यता ठीक भी है; क्योंकि अन्तिम व्यक्ति पौराणिक से अधिक हैं। वह वस्तुतः जैनधर्म के राजवंशी संस्थापक थे, जब कि उनके अनुयायी महावीर कई पीढ़ियों से उनसे छोटे थे और उन्हें मात्र सुधारक माना जा सकता है। गौतम (बुद्ध) के समय में ही पार्श्व द्वारा स्थापित निग्गंठ (निर्ग्रन्थ) नामसे प्रसिद्ध धार्मिक संघ एक पूर्व संस्थापित सम्प्रदाय था और बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उसने बौद्धधर्म के उत्थान में अनेक बाधायें डालीं[२७]।

ऐसा लगता है कि भगवान महावीर के समय तक पार्श्वनाथ भगवान के अनुयायी शिथिल आचरण करने लगे थे, अतः पासत्थ कहकर उनकी निन्दा की गयी है। इसी शिथिलाचार के कारण भगवान महावीर को स्वतन्त्र रूप से अपने संघ का गठन करना पड़ा और सैकड़ों, हजारों की संख्या में उसमें पार्श्वापत्यीय भी सम्मिलित हो गए। हो सकता है कुछ लोग न भी सम्मिलित हुए हों, किन्तु उन्हें किसी न किसी सम्प्रदाय का सहारा अवश्य लेना पड़ा होगा, क्योंकि भगवान महावीर के अभ्युदय के बाद पासत्थों का उत्कर्ष नहीं रहा और महावीर के अनुयायियों द्वारा वे शिथिलाचारी के रूप में ही गिने गए। इतना होते हुए भी भगवान महावीर की परम्परा में भगवान पार्श्वनाथ का वही पूजनीय स्थान रहा जो पहले से चला आता था। श्वेताम्बर साहित्य में महावीर द्वारा पार्श्वनाथ 'पुरुषादानीय' विशेषण उनके प्रति विशेष आदर भाव को द्योतित करता है।

संदर्भ

१. पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे।
हंदि हु मेलणदोसेण होई पुरिसस्स तम्मयदा ।।
भगवती आराधना – ३४१.

२. अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेणरन स सर्वथा पार्श्वस्थः ।।
भगवती आराधना गाथा १९४४ की विजयोदया.

३. भगवती आराधना गाथा ४२३ की बिजयोदया.

४. सूत्रकृतांग १/९/१६.

५. कल्पसूत्र ४ कल्पमंजरी टीका पृ. ३६.

६. निशीथ भाष्य - गाथा ११/५१-५४.

७. भगवती आराधना १९४४ की विजयोदया.

८. वही -१२९० (मूल गाथा).

९. वही - १२९१.

१०. भगवती आराधना १२९३.

११. वही - १२९४ (विजयोदया टीका).

१२. पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा।। मूलाचार ७/९६

१३. अनगार धर्मामृत पृ. ५२० पं कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित विशेषार्थ.

१४. भावपाहुड १४.

१५. दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मिदेहि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।। लिंगपाहुड-२०.

१६. भगवती आराधना १९५२-१९५७.

१७. वही ३४१.

१८. डॉ. सागरमल जैन : अहर्त् पार्श्व और उनकी परम्परा।

१९. जैन प्र. का उत्थान, महावीराङ्क, पृ ४७.

२०. आचारांग २/७/४.

२१. भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) १-९.

२२. स्थानांग - ९.

२३. भगवती सूत्र - १५.

२४. Ksatriya Clans in Buddhist India, p. 82.

२५. वेसालीएपुरीए सिरिपासजिणेससासणसणाहो हेहय कुल संभूओ
चेइगनामा निवो आसि। - उपदेशमाला श्लो. ९२
प्रकाशक - मास्टर उमेदचन्द रामचन्द, अहमदाबाद, सन् १९३३

२६. अंगुत्तर निकाय-चतुष्कनिपात, वप्पसुत्त, भाग-२, पृ. २१०-२१३.

२७. Harmsworth : History of the World, Vol. II, p. 1198.

पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्य और सम्प्रदाय भेद

– *डॉ. जयकुमार जैन**

भारतवर्ष के धार्मिक जीवन में जिन महनीय विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। यही कारण है कि भारत की सभी आर्य एवं आर्येतर भाषाओं में पार्श्वनाथ के जीवनचरित पर बहुत लिखा गया है। पार्श्वनाथ का जीवनचरित भगवान् महावीर के समान ही अत्यन्त रोचक एवं घटनाप्रधान है। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब असंदिग्ध स्वीकार कर ली गई है, अतः उसकी चर्चा अब सामयिक प्रतीत नहीं हो रही है।

दिगम्बर परम्परा में पार्श्वनाथ भगवान् के चरित के कुछ सूत्र सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ द्वारा विरचित प्राकृत भाषा में निबद्ध तिलोयपण्णत्ति में दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। अतः इसका मुख्य विषय लोकालोक विभाग, युगपरिवर्तन, चतुर्गति आदि का वर्णन करना है। किन्तु दिगम्बर जैन वाङ्मय के श्रुतांग से सम्बन्ध रखने के कारण इसमें ६३ शलाका पुरुषों का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

तिलोयपण्णत्ति में पार्श्वनाथ के पिता का नाम हयसेन तथा माता का नाम वर्मिला आया है[१]। हयसेन प्रचलित नाम अश्वसेन का ही पर्यायवाची है। क्योंकि हय का अर्थ अश्व है और प्राचीन संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में इस तरह के उल्लेखों की परम्परा रही है। दिगम्बर परम्परा के गुणभद्रकृत उत्तरपुराण[२] तथा पुष्पदन्तकृत महापुराण[३] में पिता का नाम विश्वसेन आया है, जो विचारणीय है, क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र अश्वसेन नाम का ही उल्लेख मिला है। इसी प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ की माता का नाम

---

* *रीडर, संस्कृत विभाग, एस.डी. कालेज, मुजफ्फरनगर*

तिलोयपण्णत्ति में वर्मिला (वम्मिला)[४] तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों एवं उत्तरपुराण एवं पुष्पदन्त कृत महापुराण को छोड़कर शेष दिगम्बर ग्रन्थों में वामा आया है। गुणभद्रकृत उत्तरपुराण[५] तथा पुष्पदन्तकृत महापुराण[६] में उनकी माता का नाम ब्राह्मी उल्लिखित हुआ है। यह भिन्नता कैसे आई? इसका कोई स्पष्ट कारण प्रतीत नहीं होता है। पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था तथा उनका गोत्र काश्यप था - यह बात सभी को एकमत से स्वीकार्य है, किन्तु पार्श्वनाथ का वंश क्या था? इस विषय में परम्परागत भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा उन्हें इक्ष्वाकु वंश[७] का मानती है, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ उग्रवंशीय[८] थे।

तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म पौष कृष्णा एकादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में हुआ था[९]। सभी दिगम्बर परम्परा के पार्श्वनाथ विषयक साहित्य में उनकी यही जन्म-तिथि उल्लिखित है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म पौषकृष्ण दशमी की मध्य रात्रि को माना गया है। शीलांककृत 'चउपन्न महापुरिसचरियं' में भी यही तिथि स्वीकारते हुए विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर उनका जन्म कहा गया है। हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित में तथा पद्मसुन्दरसूरिकृत श्रीपार्श्वनाथ चरित में भी पौषकृष्ण दशमी को ही पार्श्वनाथ का जन्म माना गया है[१०]। स्पष्ट है कि यह मतवैभिन्य कदाचित् तिथि के क्षयाक्षय या रात्रि के मध्यभाग में तिथि की अलग-अलग मान्यता के अनुसार हुआ हो।

पार्श्व नाम का कारण बताते हुए आवश्यकनिर्युक्ति, कल्पसूत्र, हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित तथा पद्मसुन्दरकृत श्रीपार्श्वचरित में कहा गया है कि उनकी माता ने गर्भ काल में अपने पास में एक सर्प को देखा था, अतः उनका नाम पार्श्व रखा गया। गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण तथा पुष्पदन्तकृत महापुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्व रखा था[११]। यहाँ पार्श्व नाम रखे जाने का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया गया है।

पार्श्वनाथ के विवाह के प्रसंग में परम्परागत मतवैभिन्य हैं। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार उन्होंने कुमारकाल में ही तप को ग्रहण किया था[12]। अर्थात् उन्होंने विवाह नहीं किया। तिलोयपण्णत्ति एवं दिगम्बर परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में पार्श्वनाथ के विवाह का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन उल्लेख भी भगवान् पार्श्वनाथ के विवाह के बाधक हैं। यद्यपि समवायांगसूत्र में पार्श्वनाथ के विवाह का प्रसंग उपस्थित ही नहीं हुआ है किन्तु वहाँ का यह कथन कि उन्होंने कुमारावस्था में दीक्षा धारण की थी, पार्श्वनाथ के बालयति होने का ही साधक हैं। आवश्यक निर्युक्ति मे तो स्पष्ट उल्लेख है कि पार्श्वनाथ अविवाहित रहे थे। वहाँ कहा गया है -

'वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो।।
रायकुलेसु विजाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु।
न य इत्थियाभिसेआ कुमारवासम्मि पव्वइया[13]।।

उपर्युक्त उद्धारण की चतुर्थ पंक्ति में तो एकदम स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पार्श्वनाथ ने स्त्री और अभिषेक के बिना कुमारावस्था में प्रवज्या ग्रहण की।

ज़ब श्वेताम्बर परम्परा में बाद में चलकर पार्श्वनाथ को साम्प्रदायिक भेदबुद्धि के कारण विवाहित माना जाने लगा तो मलयगिरि और हरिभद्र सूरि ने उक्त गाथाओं का अर्थ करते समय 'न य इत्थियाभिसेया' के स्थान पर 'न य इच्छियाभिसेया' पाठ परिवर्तित कर दिया तथा यह अर्थ किया कि उन्होंने अभिषेक की इच्छा नहीं की। उन्होंने विवाह के निषेध वाले प्रसंग को अन्यरूप करके विवाह का प्रसंग ही नहीं रहने दिया। और भी आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि आवश्यकचूर्णिकार ने इन गाथाओं की व्याख्या करना ही छोड़ दिया है। इस दुविधा का प्रभाव सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र पर भी रहा। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भगवान् वासुपूज्य का चरित्र लिखते समय उन्होंने मल्लि, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ को भी अविवाहित बतलाया है। उन्होंने लिखा है

'मल्लि:नेमि: पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिना: ।
अकृतोद्वाहसाम्राज्या: प्रव्रजिष्यान्ति मुक्तये ।।
श्रीवीरश्चरमार्हन्नीषद्भोग्येण कर्मणा।
कृतोद्वाहोऽकृतराज्य:प्रव्रजिष्यति सेत्स्यति ।।'[१४]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्वनाथ को अकृतोद्वाह (अविवाहित) तथा महावीर को कृतोद्वाह (विवाहित) माना। किन्तु जब वे ही पार्श्वनाथ का चरित्र लिखने लगे तो उन्हें सम्प्रदाय व्यामोह जाग उठा तथा उन्होंने पार्श्वनाथ को विवाहित मानने का स्ववदतोव्याघात प्रयास किया[१५]। शीलांक ने जरूर चउपन्नमहापुरिसचरियं में स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रसेनजित् राजा ने अपनी प्रभावती नामक पुत्री पार्श्व को दी थी। पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर ग्रन्थकार इसी परम्परा को अपनाते रहे।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की थी। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार यह तिथि माघ शुक्ला एकादशी का पूर्वाह्ण थी। उस समय भी विशाखा नक्षत्र का योग था[१६]। गुणभद्रकृत उत्तरपुराण और पुष्पदन्तकृत महापुराण में भी यही दीक्षातिथि मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में तथा पद्मसुन्दर ने श्री पार्श्वनाथ चरित में पार्श्वनाथ की दीक्षातिथि पौषकृष्ण एकादशी उल्लिखित की है[१७]। सम्पूर्ण श्वेताम्बर परम्परा पार्श्वनाथ के केवलज्ञान की तिथि चैत्र कृष्ण चतुर्थी मानती है। दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति में भी कहा गया है कि दीक्षा ग्रहण करने के चार माह पश्चात् चैत्र कृष्णा चतुर्थी को पूर्वाह्ण में विशाखा नक्षत्र के योग में पार्श्व को केवलज्ञान हुआ[१८]। किन्तु गुणभद्रकृत उत्तरपुराण और पुष्पदन्तकृत महापुराण में पार्श्वनाथ भगवान् के केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि चैत्रकृष्ण त्रयोदसी कही गई है[१९]। एक ही परम्परा में भी यह अन्तर कैसे आया? यह एक विचारणीय बिन्दु है।

पार्श्वनाथ भगवान् की कुल आयु १०० वर्ष थी[२०], जिसमें ३० वर्ष उनका कुमार काल रहा था तथा ७० वर्ष दीक्षित काल रहा। उनके प्रथम

शिष्य का नाम श्वेताम्बर परम्परा में आर्यदत्त आया है तथा दिगम्बर परम्परा में स्वयंभू। इसी तरह प्रथम शिष्या का नाम श्वेताम्बर परम्परा में पुष्पचूला आया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में सुलोचना। दिगम्बर परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ की निर्वाण तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा उनकी निर्वाण तिथि श्रावण शुक्ला अष्टमी मानती है। इन सम्प्रदायगत मतभेदों के मूल तक पहुँचने का प्रयास अपेक्षित है।

जैन मान्यतानुसार पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बीत जाने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य ने लिखा है -

'पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पञ्चाशत् द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान्' ।।[२१]

वीर निर्वाण सम्वत् और ईस्वी सन् में ५२७ वर्ष का अन्तर है। तीर्थंकर महावीर की आयु कुछ कम बहत्तर वर्ष की थी। वहीं कहा गया है-

'द्वासप्ततिसमाः किञ्चिद्नास्तस्यायुषःस्थिति': ।[२२]

अतएव ५२७ + ७२ = ५९९ वर्ष ईस्वीपूर्व में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। भ. महावीर के जन्म के २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५९९ + २५० = ८४९ वर्ष ईस्वी पूर्व में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण और उससे १०० वर्ष पूर्व अर्थात् ९४९ ईस्वी पूर्व में उनका जन्म हुआ था। इस प्रकार दिगम्बराचार्य गुणभद्र के अनुसार पार्श्वप्रभु का जन्म ईस्वीपूर्व दसवीं शताब्दी का मध्य तथा निर्वाण ईस्वीपूर्व नौवीं शताब्दी का मध्य ठहरता है। आवश्यकनिर्युक्ति की मलयगिरिवृत्ति के अनुसार भी लगभग यही काल निकलता है।

पार्श्वनाथ का तीर्थकाल २५० वर्ष माना है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को स्वीकार्य है। तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख है कि भगवान् पार्श्वनाथ बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के ८४६५० वर्ष बाद और

चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के २७८ वर्ष पहले उत्पन्न हुये थे[२३]। इस आधार पर भी उपर्युक्त काल समीचीन सिद्ध होता है। क्योंकि यह २८ वर्ष का अन्तर महावीर की ७२ वर्ष की आयु से पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की होने के कारण है।

एस.सी. रायचौधरी ने लिखा है कि जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्मकाल ८७७ ईस्वीपूर्व और निर्वाण काल ७७७ ईस्वीपूर्व है। यह काल-महावीर के निर्वाण से पार्श्वनाथ के निर्वाण में २५० वर्ष का अन्तर मानने पर निकलता है। पण्डित जुगल किशोर मुख्तार जी भी महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ का निर्वाण मानते हैं[२४]। यह तथ्य सुस्पष्ट नहीं है कि यह अन्तर पार्श्वनाथ के निर्वाण और महावीर के जन्म के मध्य का है या फिर पार्श्वनाथ के निर्वाण और महावीर के निर्वाण के मध्य का है। अतः उक्त दोनों प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख प्रायः विद्वानों ने किया है। मुनि नगराज जी ने भी दोनों के निर्वाण के बीच २५० वर्ष का अन्तर मानकर पार्श्वनाथ का निर्वाण ७७७ ई.पू. (५२७ ई.पू. +२५० ई.पू. =७७७ ई.पू.) माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन में इसकी विस्तार से चर्चा की है[२५]।

सन्दर्भ

१. तिलोयपण्णत्ति चउत्थो महाधियारो, गाथा ५४८.

२. उत्तरपुराण, ७३.

३. महापुराण.

४. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५४८.

५. उत्तरपुराण, ७३.

६. महापुराण.

७. द्रष्टव्य-कल्पसूत्र, शीलांककृत चउपन्नमहापुरिसचरिय, हेमकृत त्रिष. आदि।

८. द्रष्टव्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण एवं पुष्पदन्तकृत महापुराण.

९. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५४८.

१०. द्रष्टव्य - कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, श्रीपार्श्वनाथचरित आदि।

११. उत्तरपुराण, ७३.

१२. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५८४.

१३. आवश्यक निर्युक्ति (आगमोदय समिति, बम्बई), २२१-२२२ पृ. १३६.

१४. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०३-१०४.

१५. द्रष्टव्य - वही, पर्व ९ सर्ग ३.

१६. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ६६६.

१७. श्रीपार्श्वनाथचरित, पञ्चमसर्ग, श्लोक ९२.

१८. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ७००.

१९. उत्तरपुराण ७३ एवं महापुराण.

२०. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५८२.

२१. उत्तरपुराण, ७४/२७९.

२२. वही, २४/२८० का उत्तरार्द्ध.

२३. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ५७६-५७७.

२४. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. ३१.

२५. द्रष्टव्य - 'आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन'.

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता तथा अपभ्रंश - साहित्य विषयक उल्लेख

– डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री*

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अथर्ववेद में वर्णित अरिष्टनेमि किंवा पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। अथर्ववेद में ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नाम का उल्लेख है[1]। डॉ.फुहरर ने नेमिनाथ को एक ऐतिहासिक पुरुष माना है[2]। डॉ. रामजस ने भी उनको कई प्रमाणों के आधार पर ऐतिहासिक स्वीकार किया है। प्रो. ए. वेबर का स्पष्ट मत है कि अलेक्जेण्डर महान के समय जिन 'जिमनोसोफिस्ट' सन्तों का उल्लेख किया गया है वे दिगम्बर जैन साधु हैं[3]। डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने जिस सील तथा अभिलेख का वाचन कर प्रकाशित कराया था, उसे प्रमाणित माना जाए तो यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-सभ्यता के काल में आर्य जाति के लोग दिगम्बर जैन नग्न प्रतिमाओं का निर्माण कराके उनकी पूजा करते थे[4]। हर्मन जेकोबी के जैन और बौद्ध साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि भ. महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व था। बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय' के चतुक्कनिपात में और उसकी अट्ठकथा में यह उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा 'बप्प शाक्य' निर्ग्रन्थ श्रावक था। 'चाउज्जाम धम्म' या चातुर्याम धर्म का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है। बौद्ध धर्म में 'उपोसथ' (महवग्ग २,१,१) शील, व्रतादि पार्श्वनाथ-परम्परा के रहे हैं।

इस वर्तमान युग में इतिहास के क्षेत्र में शोध व गवेषणात्मक कार्यों में संलग्न योरोपियन तथा संस्कृत विद्वानों तथा इतिहासकारों में जैनधर्म की उत्पत्ति व प्राचीनता के सम्बन्ध में भ्रम रहा है। कोलबुक, प्रिन्सेप, स्टीविन्सन, ई. थॉमस और अन्य इतिहासकार इस विचार के थे कि जैनधर्म

* नीमच

बौद्ध धर्म से प्राचीन है। तीर्थंकर महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम अन्य कोई नहीं गौतम बुद्ध व्यक्ति ही थे[५]। किन्तु एच. एच. विल्सन, लास्सन, वेर्बर इस विचार के थे कि विभिन्न सम्प्रदाय होने पर भी जैनधर्म एक था, परन्तु बौद्ध धर्म कई शाखाओं में विभक्त था[६]। यथार्थ में श्रमण संस्कृति के उन्नायक पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे - यह अनेक स्रोतों तथा प्रमाणों से सिद्ध है[७]।

यद्यपि श्रमण संस्कृति ईसा के लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व अस्तित्व में ही नहीं थी, वरन् फल-फूल रही थी, लेकिन प्राचीनतम स्वतन्त्र अभिलेख या ग्रन्थ उपलब्ध न होने से इसकी सत्ता लिखित रूप में भले ही प्रमाणित न हो, किन्तु जीवन्त परम्परा तथा अपनी मौलिकता के कारण आज भी यह सरलता से तीर्थंकर नेमिनाथ को भी ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध कर सकती है। कुछ इतिहासज्ञों का यह विचार है कि पार्श्वनाथ से लगभग ११०० या १२०० वर्ष पूर्व नेमिनाथ हुए थे। यथार्थ में ऋग्वेद में वर्णित वातरशना मुनियों, बालखिल्यों और शिश्नदेवों की परम्परा "समणे मेत्ति य पढमं" के रूप में साम्य भाव को प्रमुखता देने वाली श्रमण संस्कृति कहलाई। यह वैदिक चिन्तन से नितान्त भिन्न एक स्वतन्त्र विचार-परम्परा है जो बंगाल-बिहार के प्रदेशों में विस्थापित 'सराक' जाति में आज भी जीती-जागती उपलब्ध होती है। इसकी मूल विशेषता यह है कि ईश्वर को कर्ता-धर्ता नहीं मानती। श्रमण संस्कृति के मूल तत्व हैं (१) स्वावलम्बी जीवन, (२) वीतरागता के आराधक, शरीर से भी राग रहित, (३) निर्ग्रन्थ नग्न रहकर, (४) प्रासुक आहार एक बार ग्रहण कर, (५) सभी जीवों के लिए हितकारी , (६) अतीन्द्रिय सुख उपलब्धि की पूर्णता का मार्ग प्रशस्त करने वाली। आर्यों की वैदिक संस्कृति में जहाँ मनुष्य जीवन का साध्य अभ्युदय व ऐश्वर्य-प्राप्ति रहा है, वहीं श्रमण-संस्कृति मे पूर्ण वीतरागता की उपलब्धि तथा आत्मदेव ही परम आदर्श है।

आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में लगभग आठ सौ से अधिक जैन गुफाऐं उपलब्ध होती हैं। उनमें से २५० गुफाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय तथा पुरातात्त्विक महत्त्व की हैं। खण्डगिरि - उदयगिरि, उस्मानाबाद तथा

तेरापुर की लयन गुफाओं में स्थित तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाऐं निश्चित ही अत्यन्त प्राचीन हैं। और उनसे पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सुनिश्चित हो जाती है। इतना ही नहीं, ई.पू. ७७० के लगभग उपनिषदों के काल में लिखे गए 'हंसोपनिषद' के अध्ययन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषदिक विचारधारा में श्रमण-संस्कृति का पूर्ण प्रभाव लक्षित हो रहा था। यही कारण है कि दिगम्बर जैन मुनि की चर्या का जैसा सुन्दर व यथार्थ वर्णन उस उपनिषद् में पाया जाता है, वैसा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अतः आज प्राच्य विद्या जगत में यह आवश्यक है कि अरिष्टनेमि और उनके पूर्व के तीर्थंकरों के सूत्र खोजकर बिखरे हुए पार्श्वनाथ के जीवन सूत्रों के साथ प्रमाणित कर वास्तविक ऐतिहासिकता सिद्ध की जाए।

अपभ्रंश-साहित्य में पार्श्वनाथ विषयक अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें सर्वप्राचीन पद्मकीर्ति विरचित "पार्श्वपुराण" है जिसकी रचना वि. सं. ९९९ में हुई थी। प्राकृत सहित्य में भी स्वतन्त्र रचना पार्श्वनाथ विषयक इससे प्राचीन उपलब्ध नहीं होती। श्री अभयदेव सूरि के प्रशिष्य देवभद्रसूरि ने वि. स. ११६८ में "पासणहचरिय" की रचना की थी जो गद्य-पद्य मिश्रित है। अपभ्रंश में पुराण तथा चरितकाव्य की शैली में लिखी हुई अभी तक सात रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं जो कालक्रमानुसार इस प्रकार हैं -

१. पार्श्वपुराण पद्मकीर्ति - १८ संधियों में निबद्ध महत्त्वपूर्ण काव्य, रचना-काल वि.सं. ९९९।

२. पार्श्वपुराण-सागरदत्त सूरि - र.का.सं. १०७६।

३. पार्श्वपुराण-विबुह श्रीधर - १२ सन्धियों में निबद्ध, र.का.वि.सं. ११०९।

४. पार्श्वनाथचरित्र-कवि देवचंद, १३ सन्धियों में निबद्ध, र.का. लगभग ११-१२वीं शताब्दी।

५. पार्श्वनाथचरित्र - बुह असवाल, १३ सन्धियों में निबद्ध, र.का.वि.सं. १४७९

६. पार्श्वनाथचरित - कवि तेजपाल, र.का.सं.१५१५।.

७. पार्श्वपुराण - पं. रइधू - ७ सन्धियों में निबद्ध, १५वीं शताब्दी।

इनके अतिरिक्त महाकवि पुष्पदन्त के "महापुराण" की ९३-९४ इन दो सन्धियों में निबद्ध कमठ और पार्श्वनाथ का वृत्त उपलब्ध होता है जो पौराणिक शैली में लिखा हुआ है। "भारतीय ज्ञानपीठ" से शीघ्र ही महापुराण भा. ५ प्रकाशित होने वाला है जिसमें संक्षिप्त विवरण उपलब्ध होता है।

संदर्भ

१. अथर्व वेद ९,४,७.
२. इपीग्रफिका ऑव इण्डिया १, पृ. ३८९.
३. इण्डियन एन्टिक्वेरी, ३०,२८०,
४. मार्शल : मोहन-जोदरो, जिल्द १, पृ० ३३.
५. ई. जे. रेपसन : द केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जिल्द १, १९२२, पृ० १५२.
६. वही, पृ० १५२.
७. कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द १, पृ० २४.

कहाँ हुआ कमठ का उपसर्ग

– श्री निर्मल जैन*

नरेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीशं, शतेन्द्रं सु पूजैं भजैं नाय शीसं।
मुनीन्द्रं गणेन्द्रं नमों जोड़ि हाथं, नमों देव-देवं सदा पार्श्वनाथं।।

भगवान् पार्श्वनाथ वर्तमान चौबीसी के सबसे अधिक पूजे जाने वाले तीर्थंकर हैं। यद्यपि गुणों की अपेक्षा सभी तीर्थंकर समान होते हैं इसलिए सभी की पूजा अर्चना समान रूप से होनी चाहिए। हम भगवान् महावीर के शासन में जी रहे हैं अतः उनकी सर्वाधिक मान्यता भी उक्तिसंगत हो सकती है। परन्तु तपस्या काल में हुए उपसर्ग और उसके निवारण की देवोपुनीत घटना के कारण भगवान् पार्श्वनाथ को विघ्नहरण/संकटमोचन तीर्थंकर के रूप में माना जाने लगा। फणावली सहित मूर्ति के कारण भी संभवतः उनकी मूर्तियां सर्वाधिक पाई जाती हैं।

वर्तमान में पार्श्वनाथ मूर्ति की फणावली भी विवाद का विषय बन रही है। परन्तु आचार्य समंतभद्र स्वामी ने भी अपने बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में -

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन् यं स्फुरत्तडित्पिंग रूचोपसर्गिणम्।
जुगूह नामो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा।।

लिखकर भगवान् पार्श्वनाथ का स्तवन किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र केवल जैन पुराणों में वर्णित होकर नहीं रहा। अन्य धर्मावलम्बी विद्वानों एवं विदेशी शोधकर्ता विद्वानों ने भी उन्हें इतिहास पुरुष की मान्यता दी है। यह एक सुखद संयोग है कि हम उस मथुरा नगरी में भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण कर रहे हैं जिसके पुरावशेषों ने जैन धर्म की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिए हैं।

* *सतना*

जब भगवान् पार्श्वनाथ इतिहास के रूप में मान्य हैं तो उनके जीवन की घटनाओं से संबंधित स्थानों का सर्वेक्षण भी इतिहास और पुरातत्व के आधार पर किया जाना चाहिए। पूर्व स्थापित स्थानों की महत्ता को नकारे बिना भी यह कार्य होना संभव है यदि हमारा उद्देश्य नवीन तथ्यों की खोज हो, किसी स्थान की अवहेलना नहीं।

भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना है तपस्या काल में उनके ऊपर कमठ के जीव संवर देव द्वारा घोर उपसर्ग और नाग-नागिन के जीव धरणेन्द्र पद्मावती द्वारा उस उपसर्ग का निवारण। यह महत्वपूर्ण घटना वर्तमान के अहिक्षेत्र में घटी थी ऐसा माना जाता है। किन्तु मुझे पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र को चित्रित करने वाले ग्रंथों यथा उत्तरपुराण, पार्श्वनाथ चरित्र, पार्श्वाभ्युदय, पार्श्वपुराण आदि में कहीं भी उपसर्ग अहिक्षेत्र में हुआ ऐसा पढ़ने को नहीं मिला। सभी जगह दीक्षा स्थल अश्ववन लिखा है और उपसर्ग के लिए लिखा है कि चार माह विचरण करने के बाद पार्श्वनाथ ने उसी दीक्षावन में सात दिन का योग धारण किया। यह अश्ववन कहाँ था इसका कोई उल्लेख कहीं नहीं है। उपरोक्त ग्रंथों के टीकाकारों ने भी अपनी टीकाओं या प्रस्तावना आदि में इसका कोई उल्लेख नहीं किया। जबकि पार्श्वनाथ के जन्म स्थान आदि का वर्णन नगर के नाम सहित सभी ने किया है।

डा० प्रेमसागर जी ने "तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा" नामक संकलन का संपादन किया है, उस संकलन में उन्होंने "तीर्थंकर पार्श्वनाथ" नाम से जो भूमिका लिखी है, उसमें लिखा है कि "पार्श्वनाथ तीस वर्ष तक कुमार रहे, फिर उन्होंने पौष कृष्ण एकादशी के दिन प्रातःकाल तीन सौ राजाओं के साथ वीतरागी दीक्षा ले ली। चार माह तक छद्मस्थ अवस्था में विहार करते रहे, तदुपरान्त रामनगर के पास अहिक्षेत्र में देवदारु वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर बैठे थे। वहीं उन पर उपसर्ग हुआ" परन्तु लेखक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि स्थान का यह कथन किस शास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

अहिक्षेत्र भव्य और सुव्यवस्थित क्षेत्र है, शान्त स्थान होने से वहां पूजा वन्दना में आनन्द भी आता है। परन्तु वहां क्षेत्र पर भी कोई ऐसे प्रमाण नहीं हैं जिनके आधार पर यह सुनिश्चित माना जा सके कि यही स्थान पार्श्वनाथ पर उपसर्ग का स्थान है।

राजस्थान के भीलवाड़ा जिले में स्थित श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र बिजौलिया के दर्शन का अवसर जब मुझे मिला तो वहां के प्राचीन मंदिर, मूर्तियां, मानस्तम्भ, शिलालेख और शिलाखण्डों को देखकर सहज ही लगा कि यह स्थान पार्श्वनाथ के जीवन से संबंधित होना चाहिए। इस संबंध में जब और जानकारी प्राप्त की तो मेरी धारणा को सप्रमाण संबल मिला।

बिजौलिया राजस्थान के प्रसिद्ध शहर कोटा और भीलवाड़ा के बीच में बसा एक नगर है। दोनों शहरों से उसकी दूरी ८५ किलोमीटर है। नगर से बाहर एक किलोमीटर पर बिजौलिया अतिशय क्षेत्र है। वर्तमान में बिजौलिया नाम से प्रसिद्ध इस नगर के कुछ प्राचीन नामों जैसे विन्ध्यावल्ली, विजयवल्ली, विजहल्या का भी उल्लेख मिलता है। क्षेत्र पर अनेक शिलालेख हैं जो इस स्थान की गौरव गाथा अपने भीतर संजोये हुए हैं।

यहां एक छह मीटर लम्बी और ढाई मीटर चौड़ी शिला पर पूरा पुराण ही उत्कीर्ण है। "उन्नत शिखर पुराण" नाम के इस शिलालेख में २९४ श्लोक हैं जो ५ अध्यायों में विभक्त हैं। शिलालेख की लम्बाई साढ़े चार मीटर और चौड़ाई पौने दो मीटर है। मेरे देखने में आने वाला यह सबसे बड़ा शिलालेख है। इसका उत्कीर्णन फाल्गुन बदी १० वि. सं. १२६६ को पूर्ण हुआ था ऐसा उस पर उल्लेख है। इस शिलालेख के निर्माण कर्ता वही लोकार्क नामक श्रेष्ठि हैं जिन्होंने इस क्षेत्र का जीर्णोद्वार कराके मंदिरों का निर्माण कराया है। यहां के प्रमुख प्राचीन मंदिर के प्रवेश द्वार पर दो लाइन का एक शिलालेख लम्बी पट्टी पर उत्कीर्ण है। मंदिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर भी एक शिलालेख जिस पर संवत १२२६ वैसाख बदी ११ अंकित है। गर्भग्रह से लगभग ३ मीटर दूर फर्श के एक पुराने शिलाखण्ड

पर "सोपान तना" लिखा है जिससे यह अनुमान किया जाता है कि यहां से गर्भग्रह के नीचे तलघर के लिए सीढ़ियां (सोपान) रही होंगी।

मंदिर के नजदीक एक कोठे में दो स्तम्भ हैं, दोनों पर शिलालेख उत्कीर्ण हैं। उत्तर की ओर का शिलालेख भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य हेमकीर्तिजी के द्वारा फाल्गुन सुदी २ बुधवार सं. १४५६ को उत्कीर्ण कराया गया है। इस स्तम्भ के पार्श्व में एक नक्शा भी उत्कीर्ण है जो उस समय की क्षेत्र की स्थिति का दिग्दर्शक है। दक्षिण की ओर के स्तम्भ का शिलालेख फाल्गुन शुक्ला ३ गुरूवार सं. १४५६ को उत्कीर्ण किया गया है। दोनों स्तम्भ एक आर्यिका की समाधि पर बनाए गए हैं और उनपर तीर्थंकर भगवंतों, मुनियों एवं आर्यिकाओं की मूर्तियां भी अंकित हैं।

यहां के रेवती कुण्ड के नजदीक कोट में भी एक बड़ा शिलालेख चार मीटर लम्बा है जिसमें ४२ पंक्तियां हैं, यह शिलालेख संवत १२२६ में लोलार्क श्रेष्ठि के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा तथा श्रेष्ठि के दानादिक का वर्णन है। इस पर उस समय के यहां के राजा आदि के नाम भी अंकित हैं जो इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। "शिखर पुराण" वाले विशाल शिलालेख के नजदीक एक चट्टान पर एक छोटा शिलालेख और है जो अत्यंत जीर्ण है, सबसे पुराना लगता है और पढ़ा भी नहीं जा सका है।

उक्त प्राचीन शिलालेख के अतिरिक्त सभी शिलालेख स्पष्ट हैं। पढ़े भी जा चुके हैं और प्रकाशित हैं, कुछ का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित है। बड़े शिलालेख सरकारी पुरातत्व विभाग के नियंत्रण में होते हुए भी असुरक्षित हैं। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारा प्रवेश तो शिलालेख के नजदीक प्रतिबंधित है, उस पर फैंसिंग लगी है, परन्तु बकरियां उस पर निर्द्वन्द विचरती रहती हैं, विश्राम करती हैं और मल-मूत्र क्षेपण भी करती हैं।

समय-समय पर आचार्य भगवंतों, मुनिराजों एवं विद्वानों ने इन शिलालेखों को देखा-पढ़ा है। पूज्य आचार्य कनकनन्दी जी महाराज ने वे

जब उपाध्याय थे बिजौलिया क्षेत्र पर एक किताब भी लिखी थी जो सन् १९९४ में प्रकाशित हुई है। यद्यपि १४८ पृष्ठ की इस किताब के १०० पृष्ठों में भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र, समवशरण का वर्णन और विभिन्न ग्रंथों से संकलित जिनशासन देवों-देवियों का वर्णन है परन्तु शेष पृष्ठों में क्षेत्र के सम्बन्ध में, वहां की प्राचीन मूर्तियों-शिलालेखों के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी आचार्य महाराज ने संग्रहीत की है। श्रद्धेय पंडित खुशालचंद गोरावाला द्वारा किया गया एक महत्वपूर्ण शिलालेख का हिन्दी अनुवाद भी इस किताब में प्रकाशित है।

श्रद्धेय पंडित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री ने भी बिजौलिया क्षेत्र के दर्शन किये थे और "मेरी यात्रा" शीर्षक से एक लेख "जैन-संदेश" के २ दिसंबर १९९१ के अंक में प्रकाशित कराया था जिसमें स्पष्ट लिखा है कि "बिजौलिया वह स्थान है जहां भगवान् पार्श्वनाथ पर बिजलियां बरसाई गई, बड़े-बड़े पाषाण बरसाये गये, कहते हैं वे पाषाण आज भी विशाल शिलाखण्डों के रूप में मंदिर के चारों ओर पड़े हैं। २०० वर्ष पूर्व के शिलालेख में इसे भगवान् पार्श्वनाथ का उपसर्ग स्थान बताया जाना इस बात का सूचक है कि यह प्रसिद्धि केवल काल्पनिक नहीं है किन्तु २०० वर्ष पूर्व भी प्रसिद्धि इस रूप में थी।

पंडित जी ने तो इस स्थान की एक और महत्ता अपने लेख में प्रतिपादित की है, उन्होंने लिखा है कि प्राचीन शिलालेख में अंकन समय फाल्गुन सुदी ३ वि. सं. १०८३ पढ़ने में आया है और शिलालेख में भट्टारक महाराज की जो गुरुवावली अंकित है वह "श्रावकाचार सारोद्धार" ग्रंथ के रचयिता भट्टारक पद्मनंदिजी की प्रशस्ति से मिलती है, अतः बिजौलिया भगवान् पार्श्वनाथ के उपसर्ग तथा ज्ञान कल्याणक का साधन तो है ही साथ ही पद्मनन्दि आदि भट्टारकों का समाधि स्थल होने से प्रामाणिक ऐतिहासिक स्थान भी है।

शिलालेखों के अनुसार यहां के प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार उज्जैन के धर्मनिष्ठ श्रेष्ठी लोलार्क ने कराया था। वे जब अपनी यात्रा के मध्य बिजौलिया में सो रहे थे, तब किसी ने उन्हें स्वप्न में कहा था कि यहां

पार्श्वनाथ भगवान् प्रगट होंगे। लोलार्क ने स्वप्न की बात पर ध्यान नहीं दिया तब उनकी पत्नी ललिता से स्वप्न में एक दिव्य पुरुष ने कहा कि मैं यहीं पर रहता हूं और भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन करता हूं, ललिता ने कहा कि मेरे पति मूर्ति निकलवायेंगे और मंदिर बनवायेंगे। बाद में पुनः लोलार्क से स्वप्न में कहा कि भगवान् पार्श्वनाथ तीर पर आ गए हैं, तुम उन्हें निकालो, मंदिर बनवाओ, धर्म का अर्जन करो, तुम्हें लक्ष्मी, यश, पुत्रादि की वृद्धि होगी।

उक्त संबोधन से प्रभावित होकर लोलार्क ने जब निर्देशित स्थान की खुदाई की तो वहां भामण्डल सहित अत्यंत भव्य पार्श्वनाथ की मूर्ति दिखाई दी, उसने आदर पूर्वक मूर्ति को निकाल कर वहीं जिन मंदिर बनवाकर मूर्ति प्रतिष्ठित की। वह मूर्ति जहां प्रतिष्ठित की गई उसे घेर कर चार और मंदिर भी उसने बनवाये, इसी कारण उसे पंचायतन मंदिर कहा जाता है। मंदिर का शिखर कलात्मक है उसमें कई प्रकार के अंकन हैं। पार्श्वनाथ भगवान् की मुख्य मूर्ति के साथ २४ तीर्थंकर मूर्ति भी हैं, ऊपर चौखट के मध्य में पार्श्वनाथ की एक मूर्ति है तथा ऊपर तोरण द्वार में भी पार्श्वनाथ की तीन मूर्तियां हैं। स्तम्भों पर कमंडलु सहित मुनिराजों की एवं आर्यिका मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। क्षेत्र पर शासन देवी-देवताओं, क्षेत्रपाल एवं श्रावक की मूर्ति भी है।

शिलालेख के अनुसार यहां के रेवती कुण्ड से धरणेन्द्र-पद्मावती, क्षेत्रपाल, अम्बिका आदि की मूर्तियां निकली थीं जो यहां स्थापित हैं। क्षेत्रपाल की मूर्ति सुन्दर मानवकृति में है। शिलालेख में अंकित है कि ब्रह्मचारी लक्ष्मण को भी स्वप्न में क्षेत्रपाल ने कहा था कि मैं भी वहीं आऊंगा जहां मेरे पार्श्व प्रभु रहेंगे।

जिन लक्ष्मण के नाम का उल्लेख शिलालेख में है वे बहुश्रुतज्ञ पंडित आशाधरजी के पिताश्री होने चाहिए ऐसा "पं. आशाधर व्यक्तित्व और कृतित्व" में पं. नेमचन्द डोंणगांवकर ने लिखा है। वे लिखते हैं कि "ज़ब पं. आशाधरजी अपने पिता का नाम लक्ष्मण और जन्म स्थान मंडलगढ़ दुर्ग

बताते हैं तो जिनका तीन पीढ़ियों से मंडलगढ़ दुर्ग से संबंध है, वे सीयक पौत्र लक्ष्मण का और पं. आशाधरजी के पिता लक्ष्मण का एकत्व मानने में बाधा नहीं आती।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पं. आशाधरजी का जन्म मंडलगढ़ दुर्ग में हुआ था जो बिजौलिया से मात्र ३७ किलोमीटर दूर है और बिजौलिया के शिलालेखों में मंडलगढ़ का एवं वहां की शासक परम्परा का जिक्र कई जगह आया है। आशाधरजी का जन्म सं. १२३० माना गया है और लोलार्क श्रेष्ठी ने पार्श्वनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा सं. १२२६ में कराई थी।

बिजौलिया के मंदिर का जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठा कराने वाले श्रेष्ठि लोलार्क ने उन दिनों अनेक जगह मूर्ति स्थापित कराई थी इसके प्रमाण भी यत्र-तत्र मिलते हैं। मंडलगढ़ दुर्ग में जो नेमिजिन चैत्यालय सं. ११४१ में प्रतिष्ठित है उस चैत्यालय में एक मूर्ति पर प्रशस्ति में लिखा है कि लोलार्क का संबंध मंडलगढ़ के राजघराने से था और वहां उनका आना-जाना भी था। बिजौलिया के शिलालेख में यह भी अंकित है कि उज्जैन के परमारों की एक शाखा का राज्य ही मंडलगढ़ दुर्ग में चलता था और लोलार्क तो उज्जैन के निवासी थे ही। लोलार्क की वंश परम्परा में मूर्ति प्रतिष्ठा को अधिक महत्व दिया जाता था। आहारजी क्षेत्र में लोलार्क के चाचा दुद्द द्वारा सं. १२१० में प्रतिष्ठित मूर्ति विराजमान है। स्वयं लोलार्क द्वारा माघ सुदी ५ सं. १२१५ को अतिशय क्षेत्र खुजराहो में मूर्ति प्रतिष्ठित कराई गई थी। लालार्क के पुत्र जसो का नाम बिजौलिया के पार्श्वनाथ मंदिर के द्वार पर उत्कीर्ण है तथा अचलपुर (महाराष्ट्र) में सं. १२६२ में प्रतिष्ठित मूर्ति पर भी उसका नाम है।

अतीत में भगवान् पार्श्वनाथ को पिछले अनेक भवों में कमठ के जीव के उपसर्गों का सामना करना पड़ा था तो वर्तमान में भी पार्श्वनाथ से संबंधित अनेक तीर्थों पर विवाद चल रहे हैं। श्री सम्मेदशिखर, अंतरिक्ष पार्श्वनाथ, मक्सीजी, अणिन्दा पार्श्वनाथ, अंदेश्वर पार्श्वनाथ आदि अनेक क्षेत्र इसके प्रमाण हैं। कहीं दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बीच विवाद हैं, कहीं अन्य मतावलम्बियों से विवाद है, कहीं दिगम्बर सम्प्रदाय में ही

तेरापंथ-बीसपंथ का विवाद है। और अब तो आचार्य परम्परा को लेकर तथा समाज प्रतिनिधित्व को लेकर भी राजस्थान के पार्श्व तीर्थों पर विवाद चल रहे हैं।

ऐसे में भला बिजौलिया अतिशय क्षेत्र भी कैसे बचता। यहां जैनत्व और दिगम्बरत्व के इतने साक्ष्य होने पर भी अन्य सम्प्रदायों ने अपना प्रभुत्व जताया था। कई वर्षों तक न्यायालयों में मुकदमा चला और क्षेत्र का विकास अवरुद्ध रहा। अभी कुछ वर्ष पूर्व निर्णय दिगम्बर जैन समाज के पक्ष में हुआ है। तभी से बिजौलिया की उत्साही समाज क्षेत्र के विकास में लगी है। परकोटा बन गया है, सुविधायुक्त धर्मशालायें बन गई हैं। एक विशाल भव्य चौबीसी मंदिर, सुन्दर समवशरण मंदिर एवं बड़े प्रवचन हाल का निर्माण लगभग पूर्णता पर है। निकट भविष्य में ही इसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर क्षेत्र का विकसित रूप तो सामने आ जायेगा परन्तु क्षेत्र के पुराने वास्तविक वैभव को उजागर करने के लिए तो आवश्यक है कि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर बिजौलिया क्षेत्र को भगवान् पार्श्वनाथ का दीक्षा एवं ज्ञान कल्याणक एवं उपसर्ग क्षेत्र घोषित किया जाए।

काशी की श्रमण परम्परा और तीर्थंकर पार्श्वनाथ

– डा० सुरेशचन्द्र जैन*

काशी विश्व की प्राचीनतम नगरी के रूप में विख्यात है। सुदूर अतीत में इस नगरी का महत्व व्यापारिक दृष्टिकोण से ही नहीं था, वरन् भारतीय संस्कृतियों के मुख्य संवाहक के रूप में भी इस नगरी को गौरव प्राप्त हुआ था और है। वैदिक पुराण एकमत से साक्ष्यी हैं कि काशीतीर्थ शिव का प्रधान क्षेत्र है और आज से नहीं, अतिप्राचीन काल से यह इसी रूप में जानी जाती है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. मोतीचन्द्र ने संकेत दिया है कि काशी के आर्यधर्म और कुरू-पांचाल देश के आर्य धर्म में अन्तर था। इस कथन से यह ध्वनित होता है कि निश्चित ही काशी की संस्कृति आर्य संस्कृति से भिन्न रही है। आज भी "तीन लोक से न्यारी काशी" की लोकोक्ति इस तथ्य को उद्घाटित करती है।

भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र ने भारतेन्दु समग्र में उल्लेख किया है "…. पद पद पर पुराने बौद्ध या जैन भूमिखण्ड, पुराने जैन मन्दिरों के शिखर, खम्बे और चौखटें टूटी-फूटी पड़ी हैं। .. काशी तो तुम्हारा तीर्थ न है। और तुम्हारे वेद मत तो परम प्राचीन हैं। तो अब क्यों नहीं कोई चिन्ह दिखाते जिससे निश्चित हो कि काशी के मुख्य विश्वेश्वर और बिन्दुमाधव यहाँ पर थे और यहाँ उनका चिन्ह शेष है और इतना बड़ा काशी का क्षेत्र है और यह उसकी सीमा और यह मार्ग और यह पंचक्रोश के देवता हैं। हमारे गुरू राजा शिवप्रसाद तो लिखते हैं कि "केवल काशी और कन्नोज में वेद धर्म बच गया था" पर मैं यह कैसे कहूँ, वरंच यह कह सकता हूँ कि काशी में सब नगरों से विशेष जैन मत था और यहीं के लोग दृढ़ जैनी थे। … पालथी मारे हुए जो कर्दम जी श्री की मूर्ति है वह तो निःसंदेह … कुछ और

* *पूर्व निदेशक, श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी*

ही है और इसके निश्चय के हेतु उस मन्दिर के आसपास के जैन खण्ड प्रमाण हैं"।[१]

उक्त कतिपय उल्लेख इस बात को स्पष्ट करते हैं कि श्रमण जैन परम्परा के बीज प्रारम्भ से ही काशी में पल्लवित हुए हैं। शिव के विषय में भी जैन परम्परा और वैदिक परम्परा की दृष्टि से पर्यालोचन की आवश्यकता है। वैदिक परम्परा शिव को काशी का अधिष्ठातृ देव मानती है। शिव को रामायण में महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्रयम्बक के रूप में स्मरण किया गया है तथा उन्हें सर्वोत्कृष्ट देव कहा गया है।[२] महाभारत में शिव को परमब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वसृष्टा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है।[३] अश्वघोष के बुद्ध चरित्रा में शिव का वृषध्वज तथा भव के रूप में उल्लेख हुआ है।[४] विमलसूरि के "पउमचरिउ" के मंगलाचरण के प्रसंग में एक "जिनेन्द्र रूद्राष्टक" का उल्लेख आया है, जिसमें जिनेन्द्र भगवान का रूद्र के रूप में स्तवन है।

पापान्धक निर्भशं मकर ध्वजलोभमोहपुर दहनम्।
तपोभरं भूषितांगं जिनेन्द्र रूद्रं सदा वन्दे।।
संयम वृषभारूढं तपउग्रमह तीक्ष्ण शूलाधरम्।
संसार करिविदारं जिनेन्द्र रूद्रं सदा वन्दे।।

अर्थात् जिनेन्द्र-रूद्र पापरूपी अन्धासुर के विनाशक हैं। काम, लोभ एवं मोह रूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तम रूपी भस्म से विभूषित है, संयम रूपी वृषभ पर आरूढ़ हैं, संसार रूपी करि (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं। ऐसे जिनेन्द्र रूद्र को नमस्कार करता हूं।

शिवपुराण में शिव का आदितीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख आता है।[५] आचार्य वीरसिंह स्वामी ने भी धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रा रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबन्ध-वृन्द का हरण कर लिया

है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है।[६]

इस प्रकार ऋषभदेव और शिव को एक ही होना चाहिए। वैदिक परम्परा जहां शिव को त्रिशूलधारी मानती है वहीं जैन परम्परा में अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्राय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न माना जाता है। सिंधुघाटी से प्राप्त मुद्राओं पर भी ऐसे योगियों की मूर्तियां अंकित हैं जो दिगम्बर हैं। जिनके सिर पर त्रिशूल है और कायोत्सर्ग (खड़गासन) मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं। कुछ मूर्तियां ऋषभ चिन्ह से भी अंकित हैं। मूर्तियों के रूप महान योगी ऋषभदेव से संबंधित माने जाते हैं।

जैन परम्परा तथा उपनिषद् में भी भगवान ऋषभदेव को आदि-ब्रह्मा कहा गया है।[७] भगवान ऋषभदेव तथा शिव दोनों का जटाजूट युक्त रूप चित्रण भी उनके ऐक्य का समर्थक है। इस प्रकार श्रमण परम्परा के आदि प्रवर्तक आदिनाथ के समय से ही काशी में जैन परम्परा विद्यमान रही है। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ[८], आठवें चन्द्रप्रभ[९], ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ[१०] तथा तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[११] का गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान कल्याणकों की पृष्ठभूमि के रूप में काशी आज भी समस्त जैन धर्मानुयायियों के लिए श्रद्धा का केन्द्र है।

इतिहासज्ञों ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है और यह तत्व स्वीकार किया है कि जैन धर्म की अवस्थिति बौद्ध धर्म से भी पूर्व की है। काशी के सन्दर्भ में तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभ के सन्दर्भ में परम्परागत उल्लेख ही मिलते हैं। इस दृष्टि से जैन श्रमण परम्परा के अतिप्राचीन उत्स की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि "वातरशना"[१२] "व्रात्य"[१३] आदि के रूप में वेदों में उल्लेख आया है। अत: श्रमण-परम्परा का आदि एवं मूल स्रोत यदि ऋषभदेव हैं तो उनके परवर्ती तीर्थंकरों की स्थिति भी स्वीकार्य हो जाती है क्योंकि सिंधुघाटी से प्राप्त अवशेषों से यह प्रमाणित हो चुका है कि प्राचीन काल में भी श्रमण-परम्परा के अनुयायी थे।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

परम्परागत उल्लेखों के अनुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी के तत्कालीन राजा अश्वसेन के पुत्र थे। माता का नाम वामादेवी था। अश्वसेन इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय थे। जैन साहित्य में पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसेन या अस्ससेण मिलता है, किन्तु यह नाम न तो हिन्दु पुराणों मे मिलता है और न जातकों में। गुणभद्र ने उत्तरपुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन दिया है। जातकों के विस्ससेन और हिन्दू पुराणों के विश्वकसेन के साथ इसका साम्य बनता है। डा० भण्डारकर ने पुराणों के विश्वक्सेन और जातकों के विस्सेन को एक माना है।[१४]

इतिहासज्ञों ने पार्श्वनाथ का काल ई.पू. ८७७ वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। इस ई.पू. ८७७ में काशी की तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का आकलन पार्श्वनाथ के जीवन एवं उनसे संबंधित घटनाओं से किया जा सकता है। पार्श्व जन्म से ही आत्मोन्मुखी स्वभाव के थे। उस समय यज्ञ-यागादि और पंचाग्नि तप का प्राधान्य था। पार्श्व के जीवन का यह प्रसंग कि उन्होंने गंगा के किनारे तापस को अग्नि में लकड़ी को डालने से रोका और कहा कि जिस लकड़ी को जलाने जा रहे हो उसमें नाग युगल का जोड़ा है। इसे जलने से रोको। तपस्वी के न मानने पर उससे पुन: कहा कि तप के मूल में धर्म और धर्म के मूल में दया है वह आग में जलने से किस प्रकार दया सम्भव हो सकती है? इस पर साधु क्रोधित होकर बोला--तुम क्या धर्म को जानोगे, तुम्हारा कार्य तो मनोविनोद करना है। यदि तुम जानते हो तो बताओ इस लक्कड़ में जीव कहां है? यह सुनकर कुमार पार्श्व ने अपने साथियों से लक्कड़ को सावधानीपूर्वक चिरवाया, तो उसमें से नाग युगल बाहर निकला।

इस घटना की सत्यता पर प्रश्न हो सकता है, परन्तु इतना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि उस समय ऐसे तपों का बाहुल्य था और बिना सोचे-समझे आहुतियां दी जाती थीं। तीर्थंकर पार्श्व और महावीर के काल में केवल २५० वर्ष का अन्तराल है। इस अवधि में यज्ञ-यागादि की

प्रधानता अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इतना ही नहीं अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए विभिन्न यज्ञों को प्रमुखता दी जाती थी। अश्वमेध यज्ञ भी काशी में सम्पन्न हुआ था। जिसकी स्मृति-शेष के रूप में अश्वमेध घाट आज भी विद्यमान है। अभिप्राय यह है कि "वेदिकीहिंसा हिंसा न भवति" इसका जनमानस पर पर्याप्त प्रभाव था और इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए उक्त उद्घोष को चरितार्थ किया जाता था। ऐसे समय में तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने श्रमण परम्परा के अनुसार अहिंसामूलक धर्म का प्रचार-प्रसार किया और जन सामान्य को सद्धर्म के मार्ग पर लगाया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल को संक्रमण काल कहा जा सकता है क्योंकि वह समय ब्राह्मण युग के अन्त और औपनिषद या वेदान्त युग के आरम्भ का समय था।[१५] जहां उस समय शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रणयन हुआ वहां वृहदारण्यकोषनिष्द के दृष्टा उपनिषदों की रचना का सूत्रपात्र हुआ था। ऐसे समय में पार्श्वनाथ नें चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया। वह चातुर्याम धर्म (१) सर्वप्रकार के हिंसा का त्याग, (२) सर्वप्रकार के असत्य का त्याग, (३) सर्वप्रकार के अदत्तादान का त्याग, (४) सर्वप्रकार के परिगृह का त्याग। इन चार यामों का उद्गम वेदों या उपनिषदों से नहीं हुआ, किन्तु वेदों के पूर्व से ही इस देश में रहने वाले तपस्वी, ऋषि-मुनियों के तपोधर्म से इनका उद्गम हुआ है।[१६]

पार्श्वनाथ और नाग जाति

कुमार पार्श्व द्वारा नागयुगल की रक्षा संबंधी घटना को पुरातत्वज्ञ और इतिहासज्ञ पौराणिक रूपक के रूप में स्वीकार करते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पार्श्वनाथ के वंश का नागजाति के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध था। चूंकि पार्श्वनाथ ने नागों को विपत्ति से बचाया था, अत: नागों ने उनके उत्सर्ग का निवारण किया।

महाभारत के आदि पर्व में जो नागयज्ञ की कथा है उससे यह सूचना मिलती है कि वैदिक आर्य नागों के बैरी थे। नाग-जाति असुरों की ही एक शाखा थी और असुर जाति की रीढ़ की हड्डी के समान थी। उसके पतन

के साथ ही असुरों का पतन भी हो गया।[१७] जब नाग लोग गंगा घाटी में बसते थे, तो एक नाग राजा के साथ काशी की राजकुमारी का विवाह हुआ था। अत: काशी के राजघराने के साथ नागों का कौटुम्बिक संबंध था।[१८]

नागजाति एवं नाग पूजा का इतिहास अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। विद्वानों का मत है कि नागजाति और उसके वीरों के शौर्य की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए ही नागपूजा का प्रचलन हुआ है। पंडित बलभद्र जैन ने नागजाति और नागपूजा को श्रमण परम्परा के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के साथ संबंध जोड़ते हुए यह संकेत दिया है कि सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर नागफण का प्रचलन सम्भवत: इसी लिए हुआ कि नागजाति की पहचान हो सके। सर्पफणावली युक्त प्रतिमाएं मथुरा आदि में प्राप्त हुई हैं। नागपूजा का प्रचलन पार्श्वनाथ की धरणेन्द्र-पद्मावती द्वारा रक्षा के बाद से हुआ है। इस प्रकार यक्षपूजा का संबंध भी धरणेन्द्र-पद्मावती से है।

पुरातत्व एवं जैन श्रमण परम्परा

श्रमण परम्परा के महत्वपूर्ण अवशेषों का काशी की भूमि से प्राप्त होना भी श्रमण परम्परा के स्रोत का प्रबल साक्ष्य है। भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में पुरातत्व संबंधी अनेक बहुमूल्य सामग्री संग्रहीत है। इसमें पाषाण और धातु की अनेक जैन प्रतिमाएं हैं, जिन्हें पुरातत्वज्ञों ने कुषाण काल से मध्य काल तक का माना है।

उक्त सामग्रियों में कुषाणयुगीन सप्तफणावली युक्त तीर्थंकर का शीर्ष भाग है, जो मथुरा से उत्खनन में प्राप्त हुआ था। राजघाट के उत्खनन से प्राप्त सप्तफणावली युक्त एक तीर्थंकर प्रतिमा है। इस फणावली के दो फण खण्डित हो गए हैं। सिर के इधर-उधर दो गज बने हुए हैं। उनके ऊपर बैठे देवेन्द्र हाथों में कलश धारण किए हुए हैं। फणावली के ऊपर भेरी ताड़न करता हुआ एक व्यक्ति अंकित है। यह मूर्ति ११वीं शताब्दी की अनुमानित की गई है। पंचफणावली से यह सुपार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतीत होती है।

एक खड्गासन प्रतिमा, जिसके दोनों ओर यक्ष-यक्षी खड़े हैं तथा वक्ष पर श्रीवत्स अंकित है। इस प्रतिमा पर कोई चिन्ह नहीं है और न ही कोई अलंकरण है। इन कारणों से इसे प्रथम शती में निर्मित माना जाता है।

एक शिलाफलक पर चौबीसी अंकित है। मध्य में पद्मासन ऋषभदेव का अंकन है। केशों की लटें कंधो पर लहरा रही हैं। पादपीठ पर वृषभ चिन्ह अंकित है। दोनो पार्श्वों में शासन देवता चक्रेश्वरी और गोमुख का अंकन है। दोनों द्विभुजी और अलंकरण धारण किये हुए हैं। चक्रेश्वरी के एक हाथ में चक्र तथा दूसरे में बिजौरा है। मूर्ति के मस्तक पर त्रिछत्र और दोनों ओर सवाहन गज हैं। त्रिछत्र के ऊपर दो पंक्तिओं में पद्मासन और कायोत्सर्ग मुद्रा में २३ तीर्थंकर मूर्तियां हैं। पीठिका के नीचे की ओर उपासकों का अंकन किया गया है। इसका समय ११वीं शताब्दी अनुमानित किया गया है।[१९]

उक्त पुरातत्व सामग्रियों के अतिरिक्त भेलपुर स्थित पार्श्वनाथ मंदिर के पुनः निर्माण के समय भू-गर्भ से अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनमें पार्श्वनाथ की एक भव्य एवं प्राचीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। खुदाई करते समय असावधानी के कारण पार्श्वनाथ की प्रतिमा खण्डित हो गई। प्राचीन भारतीय स्थापत्य कला के प्रसिद्ध अध्येता प्रो. एम. ए. ढाकी ने इस दुर्लभ प्रतिमा को ई. सन् ५वीं शती का तथा अन्य कलाकृतियों को ९वी और ११वी शती का बतलाया है। अज्ञानतावश अनेक मूल्यवान जैन कलाकृतियां मंदिर की नीव में ही डाल दी गईं।

इस प्रकार पुरातत्व की प्रचुर उपलब्धता इस ओर संकेत करती है कि काशी की जैन श्रमण परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन है और तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रभाव अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक रहा है। इतना ही नहीं आज भी जगह-जगह पर दिगम्बर जैन मूर्तियों के अवशेष विभिन्न रूपों में पूजे जा रहे हैं। उदाहरण के लिए "मुड़कट्टा बाबा" के नाम से विख्यात जो मूर्ति अवशेष रूप में उपलब्ध है, वह एक कायोत्सर्ग मुद्रा में खण्डित दिगम्बर जैन मूर्ति है। यह मूर्ति दुर्गाकुण्ड भेलूपुर मार्ग में मुख्य

सड़क पर स्थित है। "बाँस फाटक" जिसे आचार्य समन्तभद्र की उस चमत्कारिक घटना के रूप में स्मरण किया जाता है जो आचार्य समन्तभद्र द्वारा स्वयभूस्तोत्र की रचना का कारण बना था।

सारनाथ

महात्मा बुद्ध की प्रथम उपदेश स्थली रूप में प्रसिद्ध यह स्थल जैन परम्परा के ११वें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के जन्मस्थली से सम्बद्ध है। इसका पूर्व नाम "सिंहपुर" था। जैन मंदिर के निकट ही एक स्तूप है जिसकी ऊँचाई १०३ फुट है। मध्य में इसका व्यास ९३ फुट है। इसका निर्माण सम्राट अशोक द्वारा करवाया गया था। जैन परम्परा का यह विश्वास है कि भगवान श्रेयांसनाथ की जन्म नगरी होने के कारण इसका निर्माण सम्राट सम्प्रति ने कराया होगा। स्तूप के ठीक सामने सिंहद्वारा है, जिसके दोनों स्तंभों पर सिंहचतुष्क बना है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र है जिसके दाई ओर बैल और घोड़े की मूर्तियों का अंकन है।

भारत सरकार ने इस स्तंभ की सिंहत्रयी को राजचिन्ह के रूप में स्वीकार किया है। और धर्मचक्र को राष्ट्रध्वज पर अंकित किया है। जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर का एक विशेष चिन्ह होता है और जिसे प्रत्येक तीर्थंकर प्रतिमा पर अंकित किया जाता है। इसी चिन्ह से यह ज्ञात होता है कि यह अमुक तीर्थंकर की प्रतिमा है। यह चिन्ह मांगलिक कार्यों और मांगलिक वास्तुविधानों में मंगल चिन्ह के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक चिन्ह है, जिसे सम्पूर्ण भारत में जैन ही नहीं वरन् जैनेतर सम्प्रदाय भी समस्त मांगलिक अवसरों पर प्रयोग करते हैं। सिंह महावीर का चिन्ह है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वृषभ और अश्व तृतीय तीर्थंकर सम्भवनाथ का चिन्ह है। इसी प्रकार धर्मचक्र तीर्थंकरों और उनके समवशरण का एक आवश्यक अंग है। तीर्थंकर के केवल ज्ञान के पश्चात् जो प्रथम देशना होती है उसे धर्मचक्र प्रवर्तन की संज्ञा दी जाती है। यही कारण है कि प्रायः सभी प्रतिमाओं के सिंहासनों और वेदियों में धर्मचक्र बना रहता है।

जैन शासकों में स्तूप के संदर्भ में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। सारनाथ स्थित जो स्तूप है वह प्रियदर्शी सम्राट सम्प्रति का हो सकता है, क्योंकि यह स्थान श्रेयांसनाथ की कल्याणक भूमि रही है। दूसरे "देवनाम प्रियः" यह जैन परम्परा का शब्द है। जैन सूत्रसाहित्य में कई स्थानों पर इसका प्रयोग किया गया है, जिसका प्रयोग भव्य, श्रावक आदि के अर्थ में आता है। पुरातत्वज्ञ उक्त कारणों से ही सम्भवतः इस संदेह को इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "सम्भवतः यह स्तूप सम्राट अशोक द्वारा निर्मित हुआ"।

चन्द्रपुरी (चन्द्रावती)

काशी से २० कि.मी. दूर आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जन्मस्थान से संबंधित है। जिसके सन्दर्भ में परम्परागत स्रोत उपलब्ध होते हैं।

उक्त तथ्यों के आलोक में काशी की जैन श्रमण परम्परा का विशिष्ट स्थान है। जैन स्मृति अवशेष उसकी प्राचीनता और व्यापकता को स्पष्ट करते हैं। भारत में कहीं भी उत्खनन से प्राप्त होने वाली सामग्रियों में से श्रमण परम्परा के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं सबसे अधिक प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि काशी की परम्परा का सम्पूर्ण देश पर कालजयी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

संदर्भ

१. भारतेन्दु समग्र - पृष्ठ ६४९, ६५०.

२. रामायण - बालकाण्ड - ४५, २२ - २६, ६६ । ११-१२, ६,१, १६,२७.

३. महाभारत द्रोणः ७४, ५६, ६१,, १६९,२९.

४. बुद्ध चरित १०, ३, १, ९३.

५. इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितवस्तव।
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत्।
स्वर्ग्य यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।। शिवपुराण ४,४७-४८.

६. धवला टीका: १ पृष्ठ – ४५, ४६.

७. ब्रह्मा देवानां प्रथम संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता –
मुण्डकोपनिषद् – १, १.

८. वाराणसीये पुडवी सुपइट्ठेहिं सुपास देवाय।
जेट्ठस्स सुक्कवार सिदिणम्भि जादो विसाहाए।। तिलोयपण्णत्ति – ४/५३२.

९. चन्दपहो चन्दपुरे जादो महसेण लाच्छेमहि आहिं।
पुस्सस्स किण्ण एयारसिए अणुगह णक्खन्ते।। तिलोयपण्णत्ति – ४/५३३.

१०. सीहपुरे सेएंसो विष्हु णरिंदेण वेणुदेवीए।
कारसिंए फागुण सिद पक्खे समणभेजादो।। तिलोयपण्णत्ति – ४/५३६.

११. हयसेण वम्मिलाहिं जादो हि वाराणसीय पासजिणों
पुसस्स बहुल एक्कारसिंए रिक्खे तिसाहाए।।तिलोयपण्णत्ति – ५/५४८.

१२. मुनयो वातरशाना पिशांगा वसते मला: – ऋग्वेद – १०/१३५/२.

१३. व्रात्य आसीदीयमान एव य प्रजापति समैरयत्-अथर्ववेद-प्रथम सूक्ति.

१४. पं. बलभद्र जैन – भारत के जैन तीर्थ, पृष्ठ १२४.

१५. पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका-पृष्ठ-१०८.

१६. वही – पृष्ठ १०७.

१७. वही – पृष्ठ १०४.

१८. वही – पृष्ठ १०४.

१९. बलभद्र जैन, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, प्रथम भाग, पृष्ठ १२६.

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी व्यक्तित्व और चिन्तन

– डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी*

वर्तमान में जैन परम्परा का जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध है, उसका सीधा सम्बन्ध चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर से है। किन्तु इनसे पूर्व नौवीं शती ईसा पूर्व काशी में जन्मे तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जो कि इस श्रमण परम्परा के एक महान् पुरस्कर्ता थे, उस विषयक कोई व्यवस्थित रूप में साहित्य वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, किन्तु अनेक प्राचीन ऐतिहासिक प्रामाणिक स्रोतों से ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में मान्य हैं। और उनके आदर्शपूर्ण जीवन और धर्म-दर्शन की लोक-व्यापी छवि आज भी सम्पूर्ण भारत तथा इसके सीमावर्ती क्षेत्रों और देशों में विविध रूपों में दिखलाई देती है।

अर्धमागधी प्राकृत साहित्य में उन्हें "पुरुसादाणीय" अर्थात् लोकनायक श्रेष्ठ पुरुष जैसे अति लोकप्रिय व्यक्तित्व के लिए प्रयुक्त अनेक सम्मानपूर्ण विशेषणों का उल्लेख मिलता है। वैदिक और बौद्ध धर्मों तथा अहिंसा एवं आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति पर इनके चिन्तन और प्रभाव की अमिट गहरी छाप आज भी विद्यमान है। वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में इनके उल्लेख तथा यहां उल्लिखित व्रात्य, पणि और नाग आदि जातियाँ स्पष्टतः पार्श्वनाथ की अनुयायी थी। भारत के पूर्वी क्षेत्रों विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि अनेक प्रान्तों के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में लाखों की संख्या में बसने वाली सराक, सद्गोप, रंगिया आदि जातियों का सीधा और गहरा सम्बन्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा से है। इन लोगों के दैनिक जीवन-व्यवहार की क्रियाओं और संस्कारों पर तीर्थंकर

---

* रीडर एवं अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

पार्श्वनाथ और उनके चिन्तन की गहरी छाप है। सम्पूर्ण सराक जाति तथा अनेक जैनेतर अपने कुलदेव तथा इष्टदेव के रूप में आज तक इन्हीं की मुख्यतः पूजा भक्ति करती है। ईसापूर्ण दूसरी-तीसरी शती के जैन धर्मानुयायी सुप्रसिद्ध कलिंग नरेश महाराजा खारवेल भी इन्हीं के प्रमुख अनुयायी थे। अंग, बंग, कलिंग, कुरू, कौशल, काशी, अवन्ती, पुण्ड, मालव पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, काश्मीर, कच्छ, वत्स, पल्लव और आमीर आदि तत्कालीन अनेक क्षेत्रों और देशों का उल्लेख आगमों में मिलता है, जिनमें पार्श्व प्रभु ने ससंघ विहार करके जन-जन के हितकारी धर्मोपदेश देकर जागृति पैदा की।

इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा उनके लोकव्यापी चिन्तन ने लम्बे समय तक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र को प्रभावित किया है। उनका धर्म व्यवहार की दृष्टि से सहज था, जिसमें जीवन शैली का प्रतिपादन था। धार्मिक क्षेत्रों में उस समय पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि के लिए हिंसामूलक यज्ञ तथा अज्ञानमूलक तम का काफी प्रभाव था। किन्तु इन्होंने पूर्वोक्त क्षेत्रों में विहार करके अहिंसा का जो समर्थ प्रचार किया, उसका समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा और अनेक आर्य तथा अनार्य जातियाँ उनके धर्म में दीक्षित हो गईं। राजकुमार अवस्था में कमठ द्वारा काशी के गंगाघाट पर पंचाग्नि तप तथा यज्ञाग्नि की लकड़ी में जलते नाग-नागनी का णमोकार मंत्र द्वारा उद्धार कार्य की प्रसिद्ध घटना यह सब उनके द्वारा धार्मिक क्षेत्रो में हिंसा और अज्ञान विरोध और अहिंसा तथा विवेक की स्थापना का प्रतीक है।

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग १ पृ. ३५९) के अनुसार नाग तथा द्रविड़ जातियों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मान्यता असंदिग्ध थी। तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर आदि इस जाति के प्रसिद्ध केन्द्र थे। भगवान् पार्श्वनाथ नाग जाति के इन केन्द्रों में कई बार पधारे और इनके चिन्तन से प्रभावित हो सभी इनके अनुयायी बन गये। इस दिशा में गहन अध्ययन और अनुसंधान से आश्चर्यकारी नये तथ्य सामने आ सकते हैं जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के लोकव्यापी स्वरूप को और अधिक स्पष्ट रूप में उजागर कर सकते हैं।

हमारे देश के हजारों नये और प्राचीन जैनमंदिरों में सर्वाधिक पार्श्वनाथ की मूर्तियों की उपलब्धता भी उनके प्रति गहरा आकर्षण, गहन आस्था और व्यापक प्रभाव का ही परिणाम है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बाद तथा तीर्थंकर महावीर के समय तक पार्श्वनाथ के अनुयायियों की परम्परा अत्यधिक जीवंत और प्रभावक अवस्था में थी। अर्धमागधी आगमों में "पासावच्चिज्ज" अर्थात् पार्श्वपत्यीय "पासत्थ" अर्थात् पार्श्वनाथ के रूप उल्लिखित शब्द पार्श्वनाथ के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त किया गया मिलता है। "पार्श्वापत्यीय" शब्द का अर्थ है पार्श्व की परम्परा अर्थात् उनकी परम्परा के अनुयायी श्रमण और श्रमणोपासक।

अर्धमागधी अंग आगम साहित्य में पंचम अंग आगम भगवती सूत्र जिसे व्याख्या-प्रज्ञाप्ति भी कहा जाता है, में पार्श्वपत्यीय अनगार और गृहस्थ दोनों के विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। सावधानी पूर्वक इनके विश्लेषण से प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के युग में पार्श्व का दूर-दूर तक व्यापक प्रभाव था तथा बड़ी संख्या में पार्श्वापत्यीय श्रमण एवं उपासक विद्यमान थे। मध्य एवं पूर्वी देशों के व्रात्य क्षत्रिय उनके अनुयायी थे। गंगा का उत्तर एवं दक्षिण भाग तथा अनेक नागवंशी राजतंत्र एवं गणतंत्र उनके अनुयायी थे। उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्याय का "केशी-गौतम" संवाद तो बहुत प्रसिद्ध है ही। श्रावस्ती के ये श्रमण केशीकुमार भी पार्श्व की ही परम्परा के श्रमण थे। सम्पूर्ण राजगृह भी पार्श्व का उपासक था। तीर्थंकर महावीर के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी[२] पार्श्वापत्य परम्परा के श्रमणोपासक थे। जैसा कि कहा भी है -

"समणस्स णं भगवओ महावीस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा वावि होन्था (आचारांग २, चूलिका ३, सूत्र ४०)। भगवान् महावीर स्वयं कुछ प्रसंगों में पार्श्वापत्यीयों के ज्ञान और प्रश्नोत्तरों की प्रशंसा करते हैं[३]। एक अन्य प्रसंग में वे पार्श्व प्रभु को अरहंत, पुरिसादाणीय (पुरुषादानीय - पुरुष श्रेष्ठ या लोकनायक) जैसे सम्मानपूर्ण विशेषणों से सम्बोधित करते हैं[४]।

भगवती सूत्र में तुंगीया नगरी में ठहरे उन पांच सौ पार्श्वापत्यिक स्थविरों का उल्लेख विशेष ध्यातव्य है जो पार्श्वापत्यिक श्रमणोपासकों को चातुर्याम धर्म[५] का उपदेश देते हैं तथा श्रमणोपासाकों द्वारा पूछे गए संयम, तप तथा इनके फल आदि के विषय में प्रश्नों का समाधान करते हैं। इन प्रश्नोत्तरों का पूरा विवरण जब इन्द्रभूति गौतम को राज-गृह में उन श्रावकों द्वारा ज्ञात होता है, तब जाकर भगवान् महावीर को प्रश्नोत्तरों का पूरा विवरण सुनाते हुए पूछते हैं - भंते, क्या पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा किया गया समाधान सही है? क्या वे उन प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हैं? क्या वे सम्यक् ज्ञानी हैं? क्या वे अभ्यासी और विशिष्ट ज्ञानी हैं? भगवान् महावीर स्पष्ट उत्तर देते हुए कहते हैं - अहं पिणं गोयना। एवमाइक्खामि भासामि, पण्णवेमि परुवेमि....। सच्चं णं एस मट्ठे, नो चेत णं आयभाववत्तव्वयाए[६]। अर्थात् हां गौतम। पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा किया गया समाधान सही है। आगे गौतम के पूछने पर कि ऐसे श्रमणों की उपासना से क्या लाभ? भगवान् कहते हैं - सत्य सुनने को मिलता है[७]। आगे-आगे उत्तरों के अनुसार प्रश्न भी निरन्तर किये गये।

इन प्रसंगों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर महावीर के सामने पार्श्व के धर्म, ज्ञान, आचार और तपश्चरण आदि की समृद्ध परम्परा रही है और भगवान् महावीर उसके प्रशंसक थे।

पालि साहित्य में निर्ग्रन्थों के "वप्प शाक्य" नामक श्रावक का उल्लेख मिलता है, जो कि बुद्ध के चूल पिता (पितृव्य) थे[८] इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध का पितृत्व कुल पार्श्वापत्यीय था। कुछ उल्लेखों से यह भी सिद्ध होता है कि बुद्ध आरम्भ में पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा में दीक्षित हुये थे[९], किन्तु बाद में उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाया।

भगवान् बुद्ध के एक जीवन-प्रसंग से यह पता चलता है कि वे अपनी साधनावस्था में पार्श्व-परम्परा में सम्बद्ध अवश्य रहे हैं। अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से वे कहते हैं - "सारिपुत्र, बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी, मूंछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था। उकडू बैठ कर तपस्या करता था। मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। ..... बैठे हुए स्थान पर

आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिये तैयार किए हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था। गर्भिणी व स्तनपान कराने वाली स्त्री से भिक्षा नहीं लेता था[१०]। यह समस्त आचार जैन साधुओं का है। इससे प्रतीत होता है कि गौतम बुद्ध पार्श्वनाथ-परम्परा के किसी श्रमण-संघ में दीक्षित हुए और वहां से उन्होंने बहुत कुछ सद्ज्ञान प्राप्त किया।

देवसेनाचार्य (८वीं शती) ने भी गौतमबुद्ध के द्वारा प्रारम्भ में जैन दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख करते हुए कहा है - जैन श्रमण पिहिताश्रव ने सरयू नदी के तट पर पलाश नामक ग्राम में श्री पार्श्वनाथ के संघ में उन्हें दीक्षा दी और उनका नाम मुनि बुद्धकीर्ति रखा। कुछ समय बाद वे मत्स्य-मांस खाने लगे और रक्त वस्त्र पहनकर अपने नवीन धर्म का उपदेश करने लगे[११]। यह उल्लेख अपने आप में बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व नहीं रखता, फिर भी तथा प्रकार के समुल्लेखों के साथ अपना एक स्थान अवश्य बना लेता है[१२]।

पालि दीघनिकाय में मक्खलि गोशालक आदि जिन छह तीर्थंकरों के मतों का प्रतिपादन है, उनमें निगण्ठनातपुत्त के नाम से जिस चातुर्याम संवर अर्थात् सब्बवारिवारित्तो, सब्बवारियुतो, सब्बवारिधुतो और सब्बवारिफुटो की चर्चा है, वैसी किसी भी जैनग्रन्थों में नहीं मिलती। स्थानांग, भगवती उत्तराध्ययन आदि सूत्र ग्रन्थों में तो पार्श्व प्रभु के सर्व प्राणातिपात विरति, सर्वमृषावाद विरति, सर्व अदत्तादान विरति और सर्व बहिर्धादान विरति रूप चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन मिलता है। जब कि दिगम्बर परम्परा के अनुसार सभी तीर्थंकरों ने पांच महाव्रत आचार धर्म का प्रतिपादन समान रूप से किया है। यह भी ध्यातव्य है कि अर्धमागधी परम्परानुसार चातुर्याम का उपदेश पार्श्वनाथ ने दिया था, न कि ज्ञातपुत्र महावीर नें। किन्तु इस उल्लेख से यह अवश्य सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध के सामने भी पार्श्वनाथ के चिन्तन का काफी व्यापक प्रभाव था और पार्श्वापत्यियों से भी उनका परिचय अच्छा था।

कुछ इतिहासकारों का यह भी मानना है कि यज्ञ-यागादि प्रधान वेदों के बाद उपनिषदों में अध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चिन्तन का भी काफी प्रभाव पड़ा है। इस तरह वैदिक परम्परा के लिए

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का आध्यात्मिक रूप में बहुमूल्य योगदान कहा जा सकता है।

इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ऐसा लोक व्यापी प्रभावक व्यक्तित्व एवं चिन्तन था कि कोई भी एक बार इनके या इनकी परंम्परा के परिपार्श्व में आने पर उनका प्रबल अनुयायी बन जाता था। उनके असीम विराट् व्यक्तित्व का विवेचन इन कुछ शब्दों या पृष्ठों में करना असम्भव है, फिर भी विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन और सीमित शक्ति से उन्हें जो जान पाया यहां श्रद्धावश इसलिए प्रस्तुत किया है ताकि हम सभी उनके प्रभाव को जानकर उन्हें और जानने-समझने के लिए प्रयत्नशील हो सकें।

संदर्भ

१. (क) पार्श्वापत्यानां-पार्श्वजिन शिष्याणामयं पार्श्वापत्यीय : भगवती टीका १/९.
(ख) पार्श्वापत्यस्य-पार्श्वस्वामि शिष्यस्य अपत्यं शिष्य: पार्श्वापत्यीय: सूत्र २/७.
२. वेसलिए पुरीरा सिरियासजिणे ससासणसणहो।
हेहयकुलसंभूओ चेड्गनामा निवो आसि।। उपदेशमाला गाथा ९२.

३. भगवई २/५, पैरा ११० पृ १०८.

४. पासेणं अरहया पुरिसाराणिएणं सासए लोए बुइए अणादीय अणवदग्गे परित्ते परिवुडे हेट्टा विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले-भगवती २/५/२५५ पृ. २३१.

५. भगवती २/५/९८ पृ. १०५.

६. वही २/५/११० पृ. १०८.

७. वही २/५/११० पृ. १०९.

८. पालि अंगुत्तर निकाय चतुस्कनिपात महावग्गो वप्पसुत्त ४-२०-५.

९. क. मज्झिमनिकाय महासिंहनाद सुत्त १/१/२, दीघनिकाय पासादिकसुत्त
ख. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ. २४.

१०. मज्झिमनिकाय, महासिंहनाद सुत्त १/१/२, धर्मानन्द कौशाम्बी भ. बुद्ध पृ. ६८-६९.

११. सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बड्ढकित्तिमुणी। ... रत्तबरं धरित्ता
पवट्टिय तेण एयतं ।। दर्शनसार श्लोक ६-८.

१२. आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, पृ. २.

जैन एवं जैनेतर साहित्य में पार्श्वनाथ

*श्री सत्येन्द्र कुमार जैन**

मानव भेदों की जितनी विविधता और विभिन्न जातियों का जितना सम्मिश्रण भारतवर्ष में रहा है, उतना अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। स्थूल रूप से दो मानवी धाराऐं प्रचलित रही हैं। पहली ऋक्ष, यक्ष, नाग आदि के वंशजों की वह धारा, जिसे वर्तमान में प्रायः द्राविड़ नाम से जाना जाता है। दूसरी उत्तर-पश्चिम की ओर से उदय में आने वाली आर्य जाति के वंशजों की वह धारा जो इण्डो आर्य कहलाती है। इसके अतिरिक्त ईरानी, यूनानी, शक, पल्लव, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क आदि जातिय तत्व भी समय-समय पर भारतीय जनता में मिश्रित होते रहे हैं। भाषा की दृष्टि से भारतीय आर्य, द्राविड़, मानख्मेर ये तीन तत्व भारतीय भाषाओं के मूलाधार हैं।

जैन धर्म अत्यधिक प्राचीन एवं प्रागैतिहासिक माना जाता है। यही वह धर्म है, जिसने कर्मवादी मानवी सभ्यता का भूतल पर सर्वप्रथम"ॐ नमः" का जाप किया। अयोध्या से हस्तिनापुर प्रदेश तक इस नवीन सभ्यता का केन्द्र था। ऋषभदेव ने तत्कालीन समाज को असि, मसि, कृषि, शिल्प, व्यापार, वाणिज्य, इन छः कलाओं की शिक्षा देकर असभ्य युग का अंत किया एवं अहिंसावादी धर्म का आरंभ किया, जो सरल, आत्मकर्म, मुक्ति और सुख का मार्ग कहलाया था। उक्त तथ्य का ऋग्वेद उपरान्त यजुष, साम और अथर्व नामक शेष तीन वेदों में ब्राह्मण संस्कृति का "मुनियोवात वसना" के रूप में तत्कालीन दिगम्बर मुनियों का स्पष्ट उल्लेख है।[१]

इस धर्म के तेइसवें तीर्थंकर के रूप में भगवान् पार्श्वनाथ को जाना जाता है। इनका जन्म बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के ८४,६५० वर्ष पश्चात्

---

* *आचार्य विद्यासागर शोध संस्थान, जबलपुर*

एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के २५० वर्ष पूर्व हुआ था।[२] भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म सुदीर्घ प्रागैतिहासिक एवं अनुश्रुतिगम्य इतिहास काल के अन्त में और नियमित इतिहास के प्रारंभ में हुआ था, जिसकी शुरूआत महाभारत युद्ध के बाद की मानी जाती है।[३]

जैन परम्परा का अंतिम प्रतापी सम्राट ब्रह्मदत्त, काशी में उरग (नाग वंशी) व्रात्य क्षत्रीय था। इसका उल्लेख अर्थववेद एवं साहित्य में भी आया है। डॉ राय चौधरी, प्रभृति विद्वान उनकी ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं मानते हैं। इस वंश में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था।[४] ये काशी के राजकुमार थे। डा० राय चौधरी के अनुसार - काशी इस काल में भारत का सर्वमुख राज्य था और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार - काशी के ये राजे वैदिक धर्म और यज्ञों के विरोधी थे। प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति में इनका असभ नाम से उल्लेख हुआ है तथा महाभारत में भी अश्वसेन नामक एक प्रसिद्ध तत्कालीन नाग नरेश का उल्लेख मिलता है। पार्श्व का जन्म ई. पू. ८७७ में हुआ।[५]

तीर्थंकर पार्श्व का जन्म उत्तर वैदिक काल, उपनिषदयुग, श्रमण-पुनरुद्धार युग अथवा नाग-पुनरुत्थान युग आदि विभिन्न नामों से सूचित महाभारत, महावीर और बौद्ध के मध्यवर्ती (१४००-१६०० ई. पू.) काल के प्रायः तृतीय पाद में हुआ था। ये बाल ब्रह्मचारी रहे। अतः उस युग के सांस्कृतिक इतिहास में उनका महत्व पूर्ण स्थान है[६]।

दुर्द्धर तपश्चरण करने के फलस्वरूप इन्हें केवल ज्ञान एवं अर्हन्त पद की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् ७० वर्ष तक जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए देश-देशान्तर में विहार करके धर्म का प्रचार करने में बिताया। अन्त में सौ वर्ष की आयु में ई.पू. ७७७ में अपने ३६ शिष्यों के साथ सम्मेद शिखर में विराजमान हो गये एवं वहां से निर्वाण प्राप्त किया।[७] वह पर्वत आज भी पारसनाथ पर्वत के नाम से विख्यात है। बरेली जिले का प्राचीन अहिच्छत्र नामक स्थान पार्श्वनाथ की विशिष्ट तपस्या भूमि रही थी। पार्श्वनाथ का विशिष्ट लाञ्छन नाग एवं वर्ण श्याम रहा बताया जाता है।[८]

अतः इनकी अधिकांश प्रतिमाऐं श्याम वर्ण एवं सिर के ऊपर छत्रकार नागफण से युक्त पायी जाती है। यह नागफण भगवान् पार्श्वनाथ की तपस्या के समय हुए उपसर्ग की घटना से संबंधित है। उपसर्ग विजय के पश्चात् पार्श्वनाथ की दिव्य आत्मा को कैवल्य प्राप्त हुआ। उनका ज्ञान निर्मल हो गया। स्वयं को समझकर उन्होंने तत्पश्चात् बोलना आरंभ किया और विश्व कल्याण के इस महान महात्मा को भी दुनिया ने पहचाना और समस्त दुनिया इस महात्मा को सुनने के लिये इनके पीछे हो गई। महात्मा वही होता है, जिसके हृदय में सभी प्राणियों के लिये समान व्यवहार हो। देवता, इन्द्रादिक भी प्रभु की सभा में आये। इन्द्र ने बैठने की व्यवस्था की और उन सब को बारह स्थानों में विभक्त कर दिया। भगवान् सबसे बीच में थे, जिससे चारों तरफ से दिखलाई देते थे। उनका मौन खुला, सर्वत्र दिशाओं में उन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में अब किसी भी विद्वान को कोई संदेह नहीं है, यद्यपि कुछ यह आग्रह बना हुआ है कि पार्श्व ही जैन धर्म के प्रवर्तक थे अथवा कम से कम यह कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर ऐतिहासिकता की परिधि से बाहर थे।[१०]

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म उरग वंश में हुआ था, जो नाग जाति की ही एक शाखा थी। अतः उस काल में पुनः जागृत नाग लोगों में उनके धर्म का प्रचार अत्यधिक रहा। उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नाग सत्ताऐं राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप में उदित हो चुकी थीं और इन लोगों के इष्ट देवता पार्श्वनाथ ही प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी इन्हीं के उपासक थे। लिच्छवि आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाखी और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोक धर्म था।[११]

करकंडु चरित के नायक करकंड भी ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जो पार्श्वनाथ के उपासक एवं भक्त थे। उस युग के आदर्श नरेश थे। इन्होंने

राजपाट का त्याग कर तपस्या की और सद्गति प्राप्त की। तेरापुर आदि की गुफाओं में प्राप्त पुरातात्विक चिन्हों से तत्संबंधी जैन अनुश्रुति प्रमाणित होती है। पार्श्व के और भी तत्कालीन नरेश पार्श्व के अनुयायी हो गये थे।[१२]

डॉ चारपेण्टियर के अनुसार - "जैन धर्म मूल सिद्धांतों के प्रमुख तत्व महावीर से बहुत पूर्व, पार्श्वनाथ के समय से ही व्यवस्थित रहे आये प्रतीत होते हैं।"

प्रो. हर्म्सवर्थ के अनुसार - "गौतम बुद्ध के समय से पूर्व ही पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित जैन संघ, जो निर्ग्रन्थ संघ कहलाता था, एक विधिवत् सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय था।"

प्रो. राम प्रसाद चाँद के अनुसार - "यह आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि महावीर से पहले भी जैन साधु विद्यमान थे, जो कि पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित संघ से संबंधित थे। उनके अपने चैत्य भी थे। डॉ. विमलचरण लाहा ने भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा है कि महावीर के उदय के पूर्व भी वह धर्म, जिसके कि वे अंतिम उपदेशक थे, वैशाली एवं उसके आस-पास के प्रदेशों में अपने किसी पूर्वरूप में प्रचलित रहता रहा प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कम से कम उत्तरी एवं पूर्वी भारत के कितने ही क्षत्रिय जन, जिनमें कि वैशाली निवासियों की प्रमुखता थी, पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित एवं प्रचारित धर्म के अनुयायी थे। आचारांग सूत्र से पता चलता है कि महावीर के माता-पिता पार्श्व के उपासक एवं श्रमणों के अनुयायी थे।"

प्रो. जयचंद्र विद्यालंकार के अनुसार - अथर्ववेद में भी जिन व्रात्यों का उल्लेख है, वे अर्हतों और चैत्यों के उपासक थे। ये अर्हत और उनके चैत्य बुद्ध के बहुत पहले से विद्यमान थे।

इस बात के प्रमाण भी उपलब्ध हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ एवं जैन धर्म की ऐतिहासिक मान्यता विदेशों में थी। प्रो. बील ने सन् १८८५ ई. में रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी के समक्ष अपने एक कथन में बताया था कि

शाक्य मुनि गौतम द्वारा बौद्ध धर्म प्रवर्तन के बहुत पूर्व मध्य एशिया में उससे मिलता जुलता धर्म प्रचलित था। सर हेनरी रालिन्सन के अनुसार - मध्य ऐशिया में वल्ख नगर का नव्य विहार तथा ईंटों पर बने अन्य स्मारकीय अवशेष वहाँ काश्यप का जाना सूचित करते हैं।

काश्यप, एक प्रसिद्ध प्राचीन जैन मुनि का नाम तथा कई प्राचीन तीर्थंकरों का गोत्र तो था ही साथ ही, वह स्वयं पार्श्वनाथ का भी गोत्र था।[११] आदिपुराण के अनुसार - जिस उरग वंश में पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था, उसका संस्थापक काश्यप अपर नाम का मघवा था। अतः इससे यह ज्ञात होता है कि तीर्थंकर पार्श्व काश्यप गोत्र के थे और सम्भवतः अपने गोत्र नाम काश्यप से भी प्रसिद्ध थे।

मध्य एशिया का कियाविशि नगर जो कैस्पिया भी कहलाता था और सम्भवतया इसी आधार पर ७वीं शती में चीनी यात्री हेनसांग ने तथा उसके भी लगभग सहस्त्र वर्ष पूर्व सिकन्दर के यूनानी साथियों ने इस नगर में बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ साधु देखे थे। अतएव इसकी पूरी सम्भावना है कि महावीर के पूर्व भी मध्य-एशिया के कैस्पिया, अमन, समरकन्द, बल्ख आदि नगरों में जैन धर्म प्रचलित था।

यूनानी इतिहास के जनक हरोदोतस ने छठी-पांचवीं शती में अपने ग्रंथ में एक ऐसे धर्म का उल्लेख किया है, जिसमें सर्व प्रकार मांसाहार वर्जित था। उसके अनुयायी मात्र अन्न भोजी थे। ई.पू. ५८० में हुये यूनानी दार्शनिक पैथेगोरस, जो स्वयं महावीर और बुद्ध का समकालीन था, जीवात्मा के पुर्नजन्म एवं आवागमन में तथा कर्म सिद्धान्त में विश्वास करता था। सर्व प्रकार की जीव हिंसा एवं मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देता था। यहां तक कि कतिपय वनस्पतियों को भी धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानता था एवं पूर्व जन्म का ज्ञाता था। ये आत्मा को हेय एवं नाशवान मानते थे, उपरोक्त विचारों का बौद्ध धर्म एवं ब्राह्मण धर्म से कोई सदृश्य नहीं है। ये मान्यताऐं सुदूर युनान एवं ऐशिया माइनर में उस काल में प्रचलित थी, जब भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्ध अपने-अपने धर्म का

प्रचार ही कर रहे थे। अतः पैथागोरस आदि पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभांवित रहे प्रतीत होते हैं।[१४]

मेजर जनरल फर्लांग के कथनानुसार लगभग १५०० से ८०० ईसा पूर्व पर्यन्त बल्कि उसके बहुत पूर्व अनिश्चित काल से सम्पूर्ण उत्तरी पश्चिम तथा मध्य भारत में तूरानियों का, जिन्हें सुविधा के लिए द्रविड़ कहा जाता है, प्रभुत्व रहता रहा था। उनमें वृक्ष, नाग, लिंग आदि की पूजा प्रचलित थी, किन्तु उसके साथ ही साथ उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अति अवस्थित, दार्शनिक, सदाचार, एवं तप प्रधान धर्म अर्थात् जैन धर्म अवस्थित था। जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मों के सन्यास मार्ग बाद में विकसित हुए।

आर्यों के गंगा तट व सरस्वती तट पर पहुंचने के पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख संत अथवा तीर्थंकर जैनों का धर्मोपदेश दे चुके थे। उनके उपरान्त आठवीं नौवी शती ईसा पूर्व में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिये हुए पहले हो चुके थे। उन्हें उन अनेक धर्म शास्त्रों का भी ज्ञान था, जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घ काल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।

कुछ लोग पार्श्वनाथ धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं और इसका कारण यह बताया जाता है कि उनके द्वारा उपदेशित महाव्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत की गणना नहीं थी, केवल अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह ही थे और भगवान् महावीर ने उनमें ब्रह्मचर्य को सम्मिलित करके व्रतों की संख्या पांच कर दी।[१५]

भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परंपरा के साधु बुद्ध के समय तक विद्यमान थे। गौतम-केशी संवाद की घटना इस बात की सूचक है कि पार्श्व परम्परा के महावीर कालीन साधु कतिपय बातों में महावीर के उपदेश से मतभेद रखते थे। अतः उनके नेता केशी का महावीर के प्रधान शिष्य

गौतम गणधर के साथ विचार विमर्श हुआ और इसके पश्चात् उन मतभेदों का परित्याग कर दिया जो इन अनुयायियों के मन में थे।[१६]

एक अनुश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म के मूल प्रवर्तक बुद्ध कीर्ति तथा उनके साथी सारिपुत्र एवं मौद्गलायन आदि प्रारंभ में पार्श्व की परम्परा के ही साधु थे, ये बुद्धकीर्ति स्वयं गौतम बुद्ध थे अथवा उनके जैन गुरू यह कहना कठिन है, किन्तु स्वयं "मज्झिमनिकाय" आदि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि कुछ दिन गौतम बुद्ध पार्श्व की आम्नाय के एक जैन साधु के भी शिष्य रहे एवं उन्होंने जैनाचार एवं तपश्चरण का अभ्यास किया था।

"ब्रह्मचर्य का पालन करो, संग्रह परिपाटी को खत्म करो, उतना ही संग्रह करो जितने की तुम्हें आवश्यकता है। जहां पीड़न और शोषण है, वहां धर्म नहीं अधर्म है। संग्रह एक भयंकर अनर्थ है, इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अनेक सूत्र व शिक्षाऐं दी। पार्श्वनाथ की यह धर्म घोषणा उपस्थित प्राणियों के लिये आकर्षक बनी। इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ को समस्त साहित्य में एक ऐतिहासिक पुरुष के रूप में पहचाना जाता है।

संदर्भ

१. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६५-६६, पृष्ठ २३.

२. तिलोयपण्णत्ती, चउत्थो महाधियारी, गाथा पृष्ठ ५.

३. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६५-६६, पृष्ठ ३४.

४. वही पृष्ठ ३८.

५. वही पृष्ठ ४५.

६. वही पृष्ठ ४६.

७. वही पृष्ठ ४६.

८. भगवान् पार्श्वनाथ समर्पित जीवन, पृष्ठ १८.

९. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६५-६६, पृष्ठ ४६.

१०. वही पृष्ठ ४६.

११. वही पृष्ठ ४७.

१२. वही पृष्ठ ४८.

१३. वही पृष्ठ ४९.

१४. वही पृष्ठ ४९.

१५. वही पृष्ठ ५०.

१६. वही पृष्ठ ५०,५२.

भ. पार्श्वनाथ उपदिष्ट चातुर्याम धर्म

*डॉ. (श्रीमति) जैनमती जैन**

ईसा पूर्व नवमी शताब्दी में एक ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ जो जैन धर्म के २३ वें तीर्थंकर के रूप में जाने जाते हैं। तीर्थंकर संसार सागर से पार करने वाले धर्म का उपदेश देकर जीवों का कल्याण किया करते हैं। जिस समय भ. पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था उस समय धार्मिक वातावरण विषम था। तत्कालीन चिंतन की दो विपरीत धारायें प्रवाहित हो रही थीं। दूसरे शब्दों में तत्व-चिंतक अपने-अपने मतानुसार तत्वों की व्याख्या कर रहे थे। एक ओर ऐसे लोगों की जमात थी जो स्वर्ग के सुखों का प्राप्त करना ही अपने जीवन का लक्ष्य मानती थी। फलतः देश में यज्ञों की चतुर्दिक धूम थी। वे अपने विश्वासानुसार असंख्य पशुओं का यज्ञों में होम किया करते थे। दूसरी ओर एक स्वतन्त्र चिन्तन भी चल रहा था। उन्होंने अपने आचार-विचारों का गम्भीर मनन और निनिध्यासन करने हेतु वन को अपना निवास बना लिया था। वहां वे मौन पूर्वक तत्वों का मनन निर्बाध रूप से किया करते थे। यही कारण है कि वे मुनि कहलाते थे। ऋग्वेद में इन्हीं को वातरशना कहा गया है। तप करना, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य इनके जीवन के परम मूल्य थे। इनकी साधना का लक्ष्य मोक्ष या शाश्वत सुख प्राप्त करना था। इस साध्य की सिद्धि में यज्ञ आदि निरर्थक या अनुपयोगी थे।

ऐसी विषम धार्मिक स्थिति देखकर भगवान् पार्श्वनाथ ने पशुयज्ञों का विरोध किया और बतलाया कि इन यज्ञों से सांसारिक और शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। परम सुख की प्राप्ति के लिए इनके द्वारा दिया गया उपदेश चातुर्याम (चाउज्जाम धम्म) के नाम से प्रसिद्ध है। 'चातुर्याम'

---

* *श्री जैन बाला विश्राम, धरहरा (भोजपुर) बिहार*

का अर्थ हुआ चार संख्या वाले यमों का समूह। अब यहां याम शब्द की प्रकृति, उसके अर्थ तथा संख्या पर भी उहापोह करना आवश्यक है।

याम का अर्थ

'याम' शब्द यम् धातु में धम प्रत्यय लगाने से बना है। इसका अर्थ नियंत्रण, निषेध, संयम और निग्रह होता है। यम की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि:

"यच्छति नियच्छति इन्द्रियग्राममनेनेति यम":[१]

अर्थात् इन्द्रियों और मन का नियंत्रण जिसके द्वारा होता है वह यम कहलाता है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर हलायुध शब्दकोष में यम का अर्थ संयम किया गया है।[२]

याम के भेद

याम शब्द का अर्थ सुनिश्चित होने के पश्चात् यह जानना जरूरी है कि यम या याम के कितने भेद हैं।

जैनेतर भारतीय संस्कृति में यमों की संख्या दस तक बतलाई गई है। यथा

ब्रह्मचर्यदयाक्षान्तिर्दान सत्यम्-कल्पता।
अहिंसाऽस्तेय माधुर्ये दमश्चेतियमाःस्मृताः।।[३]
अनुरास्यं दयासत्यमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्य मार्दवं च यमा दश।।

योग दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम बतलाये गये हैं। जैनधर्म में चार याम बतलाये गये हैं। राजेन्द्र अभिधान कोश में कहा भी है:

"चतुर्ण परिग्रह विरत्यन्तर्भूत ब्रह्मचर्यत्वेन चतुसंख्यानां यामानां समाहारश्चातुर्याम"[४]। अर्थात् परिग्रहविरति में ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव हो जाने से चार यामों का समूह चातुर्याम है।

जैनधर्म की दिगम्बर आमनाय में चातुर्याम शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग[५], उत्तराध्ययन सूत्र[६] आदि अर्धमागधी आगमों में चातुर्याम धर्म की विस्तार से विवेचना उपलब्ध है। स्थानांग[७] में कहा गया है कि

"भरहेरावएसु णा वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिभगा बाबीसं अरहंता भगवंत चाउज्जामं धम्मं पन्नविंति। तं जहा-सव्वाओ पाणादवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ, अदिन्नादाणाओ, सव्वाओबहिद्धादाणाओ वेरमणं।"

अर्थात् भरत और ऐरावत में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर को छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उपदेशक दो प्रकार के होने के कारण धर्म दो प्रकार का हैं। पहला धर्म अहिंसा, असत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, जिसका उपदेश प्रथम और अंतिम तीर्थंकर ने दिया था। दूसरा धर्म वह जिसका उपदेश शेष बाईस तीर्थंकरों ने दिया। तदानुसार सर्व प्राणातिपात विरति, सर्वमृषावाद विरति, सर्वअदत्तादान विरति और सर्व बहिधाआदान विरति। ये चार याम हैं। सर्व प्राणातिपात का अर्थ समस्त जीवों की हिंसा, सर्वमृषावाद का अर्थ समस्त असत्य, सर्व अदत्तादान का अर्थ सभी प्रकार की आदेय वस्तु अर्थात् स्तेय, सर्ववहिधादान का अर्थ समस्त बाह्य वस्तु अर्थात् परिग्रह है। अतः सम्पूर्ण हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह से विरमण अर्थात् विरति होना या इनका त्याग करना चातुर्याम है। क्योंकि हिंसा आदि चारों यम के समान दुःखदायी है। इसलिए जिस धर्म में इन कुत्सित रूप प्रवृत्तियों से निवृत होने का उपदेश दिया गया है, वह चातुर्याम धर्म कहलाता है। व्रतों में भी उक्त अशुभ प्रवृति की निवृति होती है। अतः यहां चातुर्याम से तात्पर्य चार महाव्रतों से है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का उपदेश क्यों दिया?

अब यहां जिज्ञासा होती है कि जब प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने और अंतिम तीर्थंकर महावीर ने पांच यमों या व्रतों का उपदेश दिया तो पार्श्वनाथ

भगवान् ने चातुर्याम धर्म का उपदेश क्यों दिया[९]? उदाहरणार्थ सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद ने भ. महावीर को नमस्कार करते हुए कहा है कि तीन गुप्ति, पांच समिति और पांच व्रत रूप तेरह प्रकार के जिस चरित्र का उपदेश भगवान् महावीर ने दिया, इसके पूर्व किसी तीर्थंकर नें नहीं दिया।[१०] समवायांग में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के पंचयाम की पच्चीस भावनाएं कही गई हैं।[११]

इस प्रश्न का समाधान उत्तराध्ययन सूत्र के २३वें अध्ययन "केशी - गौतम संवाद" में उपलब्ध हैं। श्रमण पार्श्वनाथ के महायशस्वी शिष्य केशी कुमार से भगवान् महावीर के महाशस्वी शिष्य गौतम इन्द्रभूति ने कहा कि उक्त दो प्रकार के धर्म देशना का कारण साधु-संघ की बुद्धि है। प्राचीन काल अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु (सरल) और जड़ अर्थात मंद बुद्धि के थे। ये साधु धर्म के उपदेशों को सरलता से ग्रहण तो कर लेते थे, लेकिन बुद्धि जड़ होने के कारण उनका कठिनता से शुद्ध रूप में पालन कर पाते थे। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय के साधु वक्र और जड़ बुद्धि के थे। वक्र बुद्धि के कारण वे वाद-विवाद और विकल्प जाल में फंस जाते थे। दूसरे शब्दों में महावीर के उपदेशों को ऊहापोह से समझ तो लेते थे लेकिन जड़ बुद्धि होने के कारण उनका पालन निर्दोष रूप से नहीं कर पाते थे। यही कारण है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों ने पांच महाव्रत रूप धर्म का उपदेश दिया था। इसके विपरीत शेष तीर्थंकरों के साधु सरल और प्रज्ञावान होने के कारण साधु-धर्म का सरलता से समझ लेते थे और बुद्धिपूर्वक निर्दोष पालन भी किया करते थे।[१२]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने शिष्यों की बुद्धि के अनुसार उपदेश दिये हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने अपने साधुओं की बुद्धि को जानकर चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया था। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य 'बहिर्द्धा' का अर्थ स्त्री के प्रति आसक्ति एवं वासना को आन्तरिक परिग्रह समझ कर बाह्य परिग्रह की तरह उसका भी त्याग करते थे।[१३] इसलिए पार्श्वनाथ भगवान् को पंचयाम धर्म का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। अर्थात् उन्होंने ब्रह्मचर्य का उपदेश देना आवश्यक नहीं माना।

क्या बहिद्धाआदाण विरमण में ब्रह्मचर्य महाव्रत का अन्तर्भाव है?

चातुर्याम धर्म की व्याख्या के प्रसंग में यह जिज्ञासा होती है कि क्या बहिद्धाआदाण विरमण नामक याम में ब्रह्मचर्य महाव्रत का अन्तर्भाव किया गया है या नहीं? इसका समाधान वर्तमान कालीन अंग और उपांग साहित्य में खोजने पर भी अनुपलब्ध है। टीकाओं में विशेष कर उत्तराध्ययन की टीका में शान्त्याचार्य ने यह माना है कि ब्रह्मचर्य व्रत का अन्तर्भाव बहिद्धाआदाण विरमण में हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने चातुर्याम धर्म को ब्रह्मचर्यात्मक पांचवें महाव्रत सहित कहा है।[१४]

अब टीकाकार के उक्त कथन को तर्क की कसौटी पर कसना जरूरी है। यदि उक्त कथन सत्य है तो यह मानना पड़ेगा कि भगवान् ऋषभ देव द्वारा उपदिष्ट पांच शिक्षा रूप धर्म को संकुचित कर अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया है और पुनः भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ उपदिष्ट चातुर्याम धर्म का विस्तार कर पंचयाम (पांच महाव्रतों) का उपदेश दिया है। लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि उत्तराध्ययन के कथन से मेल नहीं खाता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि पार्श्वनाथ के शिष्य केशी कुमार ने पांच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया था।[१५] वहां यह नहीं कहा गया है कि उन्होंने चातुर्याम का विभाजन कर पंचयाम धर्म माना था। इससे सिद्ध है कि चौथे याम में ब्रह्मचर्य महाव्रत समाविष्ट नहीं है।

शौरसेनी साहित्य और चातुर्याम

अब यह विचारणीय है कि शौरसेनी साहित्य में क्या चातुर्याम सूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है या नहीं? *वट्टकेर के मूलाचार के अध्ययन से ज्ञात* होता है कि जिस अर्थ में चातुर्याम धर्म का प्रयोग हुआ है, उसी अर्थ में मूलाचार में "सामायिक संयम" का प्रयोग हुआ है। वहां कहा गया है कि *पहिले और अन्तिम तीर्थंकर "छेदोपस्थापना" का उपदेश देते हैं और अजितनाथ के पार्श्वनाथ पर्यन्त तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते*

हैं।[१६] इसका कारण वही है जो उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया गया है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के शिष्य ऋजु स्वभाव के होते हैं, इसलिए उन्हें कठिनाई से निर्मल किया जाता है और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य वक्र स्वभाव के होते हैं, इसलिए बहुत कठिनाई से उन्हें सही मार्ग पर लगाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि पूर्ववर्ती और पाश्चात्य-वर्त्ती तीर्थंकरों के शिष्य कल्प (उचित), अकल्प (अनुचित) को स्पष्ट रूप से नहीं जानते थे। तीसरी बात यह है कि महाव्रतों को समझना समझाना, विभाग और विश्लेषण करना सरल होता है, इसलिए उन दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।[१७]

यहां पर संक्षेप में सामायिक और छेदोपस्थापना संयम का अर्थ अंकित करना आवश्यक है।

सामायिक : वट्टकेर ने मूलाचार में सावद्य योग के त्याग करने को सामायिक कहा है।[१८] तत्वार्थ सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद आदि आचार्यों ने समस्त पापों से निवृत होने रूप सामायिक की अपेक्षा एक व्रत कहा है। और वहीं छेदोपस्थापना की अपेक्षा पांच प्रकार का बतलाया है।[१९]

छेदोपस्थापना : सामायिक संयम के विभाजन को छेदोपस्थापना कहते हैं। वसुनन्दि ने इसका अर्थ पाँच महाव्रत किया है।[२०]

इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में भी सामायिक और छेदोपस्थापना संयम का अर्थ सुनिश्चित किया गया है। व्याख्या प्रज्ञप्ति में कहा गया है कि सामायिक करने से चातुर्याम धर्म का पालन होता है और सामायिक का विभाजन कर पांच यमों में स्थित होना छेदोपस्थापक हैं।[२१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मूलाचार में जिसे सामायिक कहा गया है, उसी को स्थानांग व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि में चातुर्याम कहा गया है और मूलाचार में जिसे छेदोपस्थापना संयम कहा गया है उसी को उत्तराध्ययन में 'पंच-सिक्खिया' नामक धर्म कहा गया है। इसी को पंचयाम भी कहा है। अतः कहा जा सकता है कि भगवान्

पार्श्वनाथ ने सामायिक धर्म का उपदेश दिया था, जिसका पालन भगवान् महावीर के माता-पिता भी करते थे। उसी सामायिक चारित्र को स्वीकार कर भगवान् महावीर ने दीक्षा ली थी।

संदर्भ

१. वामन शिवराम आप्टे: संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. ८३०.

२. वही, पृ. ५४९.

३. याज्ञवल्कीय स्मृति, ३,१३.

४. अभिधान राजेन्द्र कोश, तृतीय भाग, पृ. ११६८

५. स्थानांग, चतुर्थ स्थान, प्रथम उद्धेशक, सूत्र १३६,१३७

६. उत्तराध्ययन, २३ वां अध्ययन

७. चतुर्थ स्थान, प्रथम उद्धेशक, सूत्र १३६.

८. चत्वारो यमा एवं यामा निवृत्तयो यस्मिन स तथा। तदेवचातुर्यामम् चर्तुमहाव्रत्याम। अभिधान राजेन्द्र कोश, तृतीय भाग पृ. ११६८.

९. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंच सिक्खिओ
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी।।
एगकज्ज पवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं
धम्मे दुविहे मेहावि! कहं विप्पच्चओ न ते।।
उत्तराध्ययन सूत्र २३/१२ एवं २४.

१०. तिस: सत्तम गुप्तयस्तनु मनोभाषानिमित्तो दया:।
पंचेयार्दिसमाश्रया: समतिय: पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्व न दृष्टं परै।
राचारं परमेष्टिनों जिन पतेर्वीरं नमामो वयम्।।
आ. पूज्यपाद: चारित्र भकित, श्लोक ७

११. पुरिम-पच्छिम गयाणं तित्थगराणं पंचजामस्य पणवीसं भावणाओं पणणओ। समवाय, २५.

१२. *पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।*
मज्झिमा उज्जुपन्ना य तेण धम्मे दुआ कए।।
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उचरिमाणं दुरणुपालओ।

कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ।।
उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २३, गाथा २६२७.

१३. बहिद्धासाओ ति बहिद्धा मैथुनं परिग्रह विशेषः आदानं च परिग्रह, तयोर्द्वन्दैकत्वम। अथवा आदीयतं इत्यादानं परिग्रहमं वस्तु तच्च धर्मोकरणमपि भवतीत्यत आह वदिस्ताद्धम्मोप-करणाद्विहिर्यादिति, इच च मैथुनं परिग्रहे ऽन्तर्भवति न ह्यपरिगृहीता योषिता युज्यत इति.....इयं च भावनामध्यमती तीर्थ कराणां वैदेहिकानां च चातुर्यामक धर्मस्य पूर्व पश्चिम तीर्थंकर योश्च पञ्चयाम धर्मस्य प्ररूपणा शिष्यापेक्षया परमार्थस्तु पञ्चयामस्यैवोभयेषामप्यसौ यतः प्रथम पश्चिम तीर्थंकर तीर्थसाधवः ऋजुजडाः वक्र जडम्चेति, तत्वादेव परिग्रहो वर्जनीय इत्युपदिष्टो मैथुन वर्जनम बोद्धुं पालयितुं च म क्षमाः।

मध्यमविदेहज तीर्थंकर तीर्थसाधवस्तु ऋजु प्रज्ञा तद्बोद्धुं वर्जायितु। च क्षमाइति। अभिधान राजेन्द्र कोश, तृतीय भाग, पृ. ११६८.

१४ (क). चातुर्याम... सएव मैथुन विरमणात्मकः पञ्चव्रत सहितः। प्रफुल्ल कुमार मोदीः पासणाहचरिउ (प्राकृतग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, सन् १९६५) प्रस्तावना, पृ. ४७.

(ख). बहिद्धाण्आओ ति बहिद्धा मैथुनं परिग्रह विशेषः ....। अभिधान राजेन्द्र कोश, ३, पृ. ११६८.

१५. पंच महव्वय धम्मं पडिवज्जई भावओ।
पुरमस्स पच्छिमंमी मग्गे तत्थ सुखावहे।।
उत्तराध्ययन सूत्र, गाथा, २३/८७.

१६. बावीसं तित्थपरा सामायिय संजयं उपदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुणभयवं उसहो य वीरो य।।
मूलाचार ७, षडावश्यकाधिकार, गाथा ३२

१७. आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पेण जाणंति।।
आचक्खिदं विभाजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
ऐदण कारणे दु महव्वदा पंच पण्णत्ता।।
मूलाचार अधिकार ७, गाथा ३३ एवं ३४

१८. वही, ७/२९

१९. सर्वसावद्य निवृत्ति लक्षण सामायिकापेक्षया एकं व्रतं तदेव छेदोपस्थापना पेक्षया पञ्च विधमिहोच्यते।

सर्वार्थसिद्धि (सम्पादक: पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् १९७१) ७/१ पृ. २५८.

२०. मूलाचार, वसुनन्दि टीका (सं. डा. फूलचन्द प्रेमी, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, सन् १९९६) गाथा ७/३३, पृ. ३३२.

२१. सामाइयंमि उ कए चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं।
तिविहेण फासयंतो सामाइय संजमो स खलु।।
छेत्तूण य परियागं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
धम्मम्मि पंचजामे छदोवट्ठावणओ खलु।।
पासणाहचरिउ (सं. प्रो. प्रफुल्ल कुमार, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्) प्रस्तावना, पृ. ४८.

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव

*— डॉ. अशोक कुमार जैन**

भारतीय जीवन, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में भगवान् पार्श्वनाथ का प्रभाव अप्रतिम है। पार्श्व-महावीर-बुद्ध युग श्रमण संस्कृति का पुनरुत्थान युग माना जाता है। इस युग में जैन संस्कृति की व्यापक प्रभावना विद्यमान थी। इस युग का आरंभ ११०० ई. पू. से माना जाता सकता है। पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व अतिशय प्रभावक था। उनका काल प्राचीन भारतीय श्रमण संस्कृति का पुनर्जागरण काल या उपनिषदकाल का आरंभ भी माना जाता है जिसका श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों संस्कृतियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। डॉ. हर्मन जैकोबी जैसे लब्ध प्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उन्होंने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रकाश में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ikoZukFk ,sfrgkfld O;fDr Fks[1] तिलोयपण्णती[2] में भगवान् नेमिनाथ के जन्मकाल से ८४ हजार छह सौ पचास वर्ष बीतने पर तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। उनका जन्म काशी जनपद के वाराणसी नगर में वहां के राजा विश्वसेन की महारानी वामादेवी के गर्भ से पौष कृष्ण एकादशी को हुआ था। डा. हर्मन जैकोबी[3] ने पार्श्वनाथ के धर्म के सम्बन्ध में लिखा है, "श्री पार्श्वनाथ भगवान् का धर्म सर्व था, व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था।" इसका उन्होंने भारत भर में प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है। ईसवी सन् से आठ शताब्दी पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का जो उपदेश दिया था वह काल अत्यन्त प्राचीन है और वह उपनिषद काल बल्कि उससे भी प्राचीन ठहरता है।

** जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ - नागोर (राज.)*

भगवान् के चातुर्याम धर्म का प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ। उसके बाद जितने धर्म संस्थापक हुए उन्होंने अपने धर्म सिद्धान्तों की रचना में पार्श्वनाथ के चातुर्यामों से सहायता ली। इसमें आजीवक मत के संस्थापक गोशालक और बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध मुख्य हैं। भगवान् बुद्ध के जीवन पर तो चातुर्याम की गहरी छाप थी। प्रारंभ में वे पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के पिहितास्त्रव मुनि के शिष्य बुद्ध -कीर्ति नाम से बने थे। आगे चलकर उन्होंने जिस अष्टाङ्गिक मार्ग का प्रवर्तन किया उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है[४]।

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी में करुणा, मधुरता और शान्ति की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती थी। परिणामतः जन-जन के मन पर उनकी वाणी का मंगलमयी प्रभाव पड़ा, जिससे हजारों ही नहीं लाखों लोग उनके अनन्य भक्त बन गये।

पार्श्वनाथ के समय तापस परम्परा का प्राबल्य था। लोग तप के नाम पर जो अज्ञान कष्ट चला रहे थे प्रभु के उपदेशों से उसका प्रभाव कम पड़ गया। अधिक संख्या में लोगों ने आपके विवेकयुक्त तप से नव प्रेरणा प्राप्त की। आपके ज्ञान वैराग्यपूर्ण उपदेश से तप का सही रूप निखर आया।

पिप्पलाद जो उस समय का प्रतिष्ठित वैदिक ऋषि था उसके उपदेशों पर भी आपके उपदेशों की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से झलकती है[५]। उनका कहना था कि प्राण या चेतना जब शरीर से पृथक हो जाती है तब वह शरीर नष्ट हो जाता है। वह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के "पुद्गलमय" शरीर से जीव के पृथक होने पर विघटन" इस सिद्धान्त की अनुकृति है। 'पिप्पलाद' की नवीन दृष्टि से निकले हुए ईश्वरवाद से प्रमाणित होता है कि उनकी विचार धारा पर पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि 'भारद्वाज' जिनका अस्तित्व बौद्ध धर्म से पूर्व है, पार्श्वनाथ काल में एक स्वतंत्र मुण्डक सम्प्रदाय के नेता थे।[६] बौद्धों के अंगुत्तर निकाय में उनके मत की गणना मुण्डक श्रावक से की गयी है।[७] राजवार्तिक ग्रन्थ में उन्हें क्रियावादी आस्तिक के रूप में बताया गया है।[८]

मुण्डक मत के लोग वन में रहने वाले, पशु यज्ञ करने वाले तापसों तथा गृहस्थ विप्रों से अपने आपको पृथक दिखाने के लिए सिर मुंडाकर भिक्षावृति से अपना उदर पोषण करते थे किन्तु वेद से उनका विरोध नहीं था।[१] उनके इस मत पर पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव दिखाई देता है। यही कारण है कि एक विद्वान ने उनकी परिभाषा जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है, पर उनकी जैन सम्प्रदाय में परिगणना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

नचिकेता जो कि उपनिषदकालीन एक वैदिक ऋषि थे, उनके विचारों पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। वे भारद्वाज के समकालीन थे तथा ज्ञान यज्ञ को मानते थे। उनकी मान्यता में मुख्य अंग थे, इन्द्रिय निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर स्वरूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक बोध। इसी तरह "कात्यायन" जो कि महात्मा बुद्ध के पूर्व हुए थे तथा जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्वनाथ के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीत जल में जीव मान कर उसके उपयोग को धर्म विरुद्ध मानते थे, जो पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा से प्राप्त है। उनकी कुछ अन्य मान्यताएं भी पार्श्वनाथ की मान्यताओं से मेल रखती हैं।

बौद्ध वाङमय के प्रकाण्ड विद्वान पं. धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है "निर्ग्रन्थों के श्रावक 'वप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थों का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण बीच-बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यों में आलारकालाम के श्रावक अधिक थे क्योंकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर में ही था। आलार के समाधिग्राम का अध्ययन गौतम बोधिसत्व ने बचपन में ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमत: आलार के ही आश्रम में गए और उन्होंने योग मार्ग का आगे अध्ययन प्रारंभ किया। आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढ़ियां दिखाई फिर वे उद्रकराम पुत्र के पास गए और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी किन्तु इतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि उस समाधि से

मानव-मानव के बीच होने वाले विवाद का अंत होना संभव नहीं था। तब बोधिसत्व 'उद्रकराम पुत्र' का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहां के श्रमण समुदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम संवर ही विशेष पसन्द आया क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का आविष्कार किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।

जैन श्वेताम्बर आगमों में अन्यान्य तीर्थंकरों का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है जैसे 'उसभेणं अरहा' 'सीयलेणं अरहा' 'संतिस्सणं अरहओ' आदि। परन्तु पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमों में लिखा है 'पासेणं अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणिअस्स'।[११] उससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल में भी पार्श्वनाथ की कोई खास विशिष्टता मानी जाती थी। अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्ठनेमी' की तरह 'पासेणं अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता।

'पुरिसादानीय' का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य। महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणें भगवं महावीर' लिखा जाता है वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अंग शास्त्रों में 'पुरिसदाणी' विशेषण दिया गया है। अत: यह विशेषंण उनकी विशिष्ट प्रभावकता का निदश करता है।

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे बड़े-बड़े राजा महाराजा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। व्रात्य क्षत्रिय सब जैन धर्म के ही उपासक थे। पार्श्वनाथ के समय में कई ऐसे राज्य थे जिनके पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे।

डॉ. ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में प्रबल नाग सत्तायें राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप में उदित हो चुकी थी और उन लोगों के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों में अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे। लिच्छिवि आदि आठ कुलों में

विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था। कलिंग के शक्तिशाली राजा 'करकंडु' जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उनके उपासक उस युग के आदर्श नरेश थे। राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप में उन्होंने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित या नागाति तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे।[१२]

भगवान् पार्श्वनाथ के लोकव्यापी प्रभाव का मूल कारण था कि उन्होंने सर्वाधिक स्थानों पर विहार किया। भगवान् पार्श्वनाथ का विहार जिन देशों में हुआ था उन देशों में अंग, बंग, कलिंग, मगध, काशी, कौशल, अवन्ति, कुरू, पाण्डु, मालव, पांचाल, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, साट, कच्छ, कश्मीर, सोण, पल्लव और आभीर देश थे। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि वे तिब्बत में पधारे थे। भगवान् ने जिन देशों में विहार किया था वहां सर्वसाधारण पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा और वे उनके भक्त बन गए।[१३]

बंगाल राज्य में प्राप्त जैन अवशेषों के परिधि क्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाली जातियों का विश्लेषण करते हुए श्री सरसी कुमार सरस्वती ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है: बंगाल में जैन अवशेष उन स्थानों से प्राप्त हुए हैं जहां कभी जैन मन्दिर या संस्थान रहे थे। यह उल्लेखनीय है कि यह क्षेत्र बहुत लम्बे समय से उन लोगों का निवास स्थान रहा है जिन्हें 'शराक' नाम से जाना जाता है। ये लोग कृषि पर निर्भर रहते हैं तथा कट्टर रूप से अहिंसावादी हैं। रिसले ने अपनी पुस्तक 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल' में बताया है कि लोहरडागा के शराक आज भी पार्श्वनाथ को अपना एक विशेष देवता मानते हैं तथा यह भी मान्य है कि इस जनजाति का 'शराक' नाम श्रावक से बना है, जिसका अर्थ जैन धर्म के अनुयायी गृहस्थ से है। ये समस्त साक्ष्य संकेतित करते हैं कि शराक मूलत: श्रावक थे, इस बात का समर्थन उनकी परम्परा भी करती है। इस सर्वेक्षण से यह

भी ज्ञात होता है कि जैन धर्म पूर्व भारत में एक सुगठित समुदाय के रूप में रहा है जिसके संरक्षक शराक वंशीय मुखिया होते थे।[१४]

शराक जाति के लोग बंगाल के अतिरिक्त बिहार एवं उड़ीसा में बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त मेदिनीपुर जिले के सद्गोपों, उड़ीसा की 'रंगिया' जाति के लोगों, अलक बाबा आदि के जीवन व्यवहार के देखने से उन पर भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म का अमिट प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ को लगभग तीन हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं फिर भी उनकी भक्ति का प्रकाश ये लोग आज तक अपने हृदय में संजोए रखे हैं। इन जातियों के अतिरिक्त श्री सम्मेद शिखर के निकट रहने वाली भील जाति भी श्री पार्श्वनाथ की अनन्य भक्त है। इस जाति के लोग मकर सक्रान्ति के दिन श्री सम्मेद शिखर की सभी टोकों की वन्दना करते हैं और श्री पार्श्वनाथ टोंक पर एकत्रित होकर उत्सव मनाते हैं तथा गीत एवं नृत्य का कार्यक्रम करते हैं।[१५]

भारतवर्ष की सभी प्रमुख भाषाओं जैसे संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ऊपर लिखे गए अनेक काव्य उपलब्ध हैं जिन का उल्लेख डॉ जयकुमार जैन ने अपने महत्वपूर्ण शोधप्रबन्ध 'पार्श्वनाथ चरित का समीक्षात्मक अध्ययन' में किया है जैसे जिनसेन प्रणीत पार्श्वाभ्युदय, वादिराज सूरीकृत पार्श्वनाथचरित, पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ, देवदत्तकृत पासणाहचरिउ, विवुध श्रीधरकृत पासणाहचरिउ आदि।[१६]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की भक्ति में अनेक स्तोत्र का आचार्यों ने सृजन किया है जैसे श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, इन्द्रनन्दि कृत पार्श्वनाथस्तोत्र, राजसेनकृत पार्श्वनाथाष्टक, पद्मप्रभमलधारीदेव कृत पार्श्वनाथस्तोत्र, विद्यानन्दिकृत पार्श्वनाथ स्तोत्र, आदि। स्तोत्र रचना आराध्य देव के प्रति बहुमान प्रदर्शन एवं आराध्य के अतिशय का प्रतिफल है। अतः इन स्तोत्रों की बहुलता भी भ. पार्श्वनाथ के अतिशय प्रभावकता का सूचक है।

प्रो. जगदीश गुप्त ने अनेक तथ्यों को निरुपित करते हुए लिखा है तीर्थंकर पार्श्वनाथ की महत्ता नागपूजा, यक्ष पूजा और सूर्यपूजा से समर्थित है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति में उनकी कितनी लोकप्रियता रही है और कितने रूपों में उन्हें चित्रित एवं उत्कीर्ण किया गया है। भारतीय कलाकारों ने कितनी तन्मयता से उनके स्वरूप को अपनी कल्पना से समृद्ध किया है। नाग छत्र के भी कितने रूप मिलते हैं यह पार्श्वनाथ जी की असंख्य प्रतिमाओं के अनुशीलन से पहचाना जा सकता है। मेरी दृष्टि में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के बाद यदि कोई जैन तीर्थंकर कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है तो पार्श्वनाथ ही हैं।[१७]

तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने इनको सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न किया। किसी का विरोध करने के लिए ही भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम धर्म की स्थापना नहीं की थी अपितु मनुष्य के बीच शत्रुता नष्ट होकर समाज में सुख शांति रहे यही उनका उद्देश्य था। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म व्यापकता लिए हुए था इसी कारण आज भी वे जन-जन की आस्था के केन्द्र बने हुए हैं। भारतीय संस्कृति में उनका लोकोत्तर प्रभाव है। परिणामस्वरूप आज अनेक स्थानों पर उनकी मूर्तियां उपलब्ध हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि जहां पार्श्वनाथ की उपासना करने वाली जातियां विद्यमान हैं उनका सर्वेक्षण कराकर मूलधारा के साथ जोड़ने हेतु योजनायें बनाकर संरक्षण प्रदान किया जाए।

संदर्भ

१. "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable........"

The Sacred Books of the East, Vol. XLV: Introduction page 21.

२. पाण्णासाधिय छस्सयचुलसी दिसहस्स वस्सपरिवत्ते।
णेमि जिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स।। तिलोयपण्णती गाथा ५८३.

३. डॉ. हर्मन जैकोबी, परिशिष्ट पर्व पृ. ९.

४. डॉ. हर्मन जैकोबी, परिशिष्ट पर्व पृ. ६.

५. Cambridge History of India, Part I. page 180-

६. Bilongs of the Boudha, Part II, Page 22-

७. वातरशना.

८. तत्वार्थवार्तिक.

९. वृहदारव्यकोपनिषद ४/३/२२.

१०. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ. १४.

११. समवायांग, कल्प सूत्र आदि

१२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि.

१३. डॉ० नीलम जैन : सराक क्षेत्र, पृ. २५.

१४. प्रो० सरसी कुमार सरस्वती : जैन कला एवं स्थापत्य, खंड २, पृष्ट २७७.

१५. डॉ० नीलम जैन : सराक क्षेत्र, पृ. २६.

१६. डॉ० जय कुमार जैन : पार्श्वनाथ चरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ४८.

१७. भारतीय संस्कृति और साहित्य में जैन धर्म का योगदान, स्मारिका, पृ. २६.

तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा नाग जाति

— डॉ. अनिल कुमार जैन*

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे[१]। बौद्ध साहित्य से भी इनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। डॉ. जेकोबी तथा डॉ. हीरालाल जैन बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर मानते हैं कि भगवान् महावीर से पूर्व भी श्रमण संस्कृति मौजूद थी।[२] इस संस्कृति से जुड़े लोग निर्ग्रन्थ विचारधारा को मानते थे तथा पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

पार्श्वनाथ नाग वंशीय थे। प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति में इनके पिता अश्वसेन का 'असभ' नाम से उल्लेख हुआ है। महाभारत में भी अश्वसेन नामक एक प्रसिद्ध तत्कालीन नाग नरेश का उल्लेख मिलता है। पार्श्वनाथ के पिता उरग वंशीय थे जो कि नाग जाति की ही एक शाखा थी। कुछ लोगों का मत है कि भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर सर्प दिखाये जाने का एक कारण यह भी है कि ये नाग वंशीय थे। भगवान् पार्श्वनाथ से पूर्व नाग जाति का आधिपत्य कहां-कहां था तथा इनकी संस्कृति तथा सभ्यता कैसी थी, यह जानने से पूर्व प्राचीन भारत की संस्कृति एवं सभ्यता पर विचार कर लेना आवश्यक है।

प्राचीन भारत की सभ्यतायें

आर्यों ने भारत की संस्कृति को सर्वाधिक प्रभावित किया। लेकिन आर्यों के भारत में जमने से पूर्व यहां कई संस्कृतियां विकसित थीं। द्रविड, विद्याधर, नाग तथा सिंधु संस्कृतियां इनमें प्रमुख थीं। कुछ विद्वान सिंधु संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति को एक मानते हैं। लेकिन सर जान मार्शल के अनुसार ये दोनों संस्कृतियां बिल्कुल भिन्न थीं। उनका कथन है कि "सिंधु

---

* अहमदाबाद

संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनों संस्कृतियों में परस्पर कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं था। वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्ति पूजक है जब कि मोहनजोदडो एवं हड़प्पा में मूर्ति पूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहनजोदड़ो के मकानों में हवन कुण्डों का सर्वथा अभाव है।[३]

प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार सिंधु घाटी की सभ्यता को जैन धर्म से सम्बन्धित मानते हैं। उनके अनुसार वहां से प्राप्त एक मुद्रा (नं. ४४९) पर 'जिनेश्वर' (जिन इइसरह) शब्द लिखा हुआ है।[४] कायोत्सर्ग मुद्रा में प्राप्त मूर्तियां भी इस ओर ही इशारा करती हैं कि सिंधु घाटी की सभ्यता जैन धर्म से सम्बन्धित थी। राजस्थान के गंगानगर जिले में सोती और कटोती के उत्खनन से प्राप्त पुरातत्वीय सामग्री से भी लगता है कि वहां भी वैदिक धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का प्रचार था।[५] सोती और कटोती सरस्वती की घाटी में स्थित है तथा हड़प्पा संस्कृति से सम्बन्धित है।

नाग वंश का उत्कर्ष

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आर्य जाति के भारतवर्ष पर अपनी गोटी जमाने से पूर्व इस देश में नाग वंश के राजा शासन करते थे।[६] इस वंश ने भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों तथा सिंहल पर ही शासन नहीं किया बल्कि सिंन्धु नदी के पश्चिमी क्षेत्रों में भी विस्तार किया। इनका राज्य विस्तार कामरूप (आसाम) से ले कर सुदूर पश्चिम में अफ्रीका तथा मिस्र आदि देशों तक फैला हुआ था। अफ्रीका में भी नाग जाति का आधित्य था, इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं। इतिहास, पुराणों के अनुसार नाग वंशी पाताल लोक में भी राज्य करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि अफ्रीका ही पाताल लोक है। आज भी अफ्रीका के अनेक देश तल या ताल के नाम के साथ हैं, जैसे तल अगरब, तल बिल्ला, तल अमरीन, तल हशुना, तेल अबीब आदि।[७]

विद्याधर जाति भी नागों से सम्बन्धित थी। इसका भी अफ्रीका के कुछ भाग में शासन था। रावण के पूर्वज माली, सुमाली तथा माल्यवान

किसी आर्य नरेश से पराजित होकर लंका छोड़ पाताल (अफ्रीका) चले गये। इन तीनों भाइयों के नाम पर आज भी माली, सुमाली तथा मलानी (माल्यवान) देश अफ्रीका में हैं।

मिस्र के बारहवें वंश के इतिहास में उल्लिखित है कि मिस्र को उस समय एक अज्ञात वंश की जाति ने जीत लिया, जिसका नाम हिक्सास (यक्ष - राक्षस) था। ये लोग पूर्व (भारत) से आये थे। इस यक्ष जाति के लगभग दो सौ शासकों ने मिस्र में १५९० वर्ष शासन किया। रामायण के वर्णन को इस ऐतिहासिक वर्णन से मिलाने पर निश्चित हो जाता है कि भारत से भागकर यक्ष-राक्षस ही अफ्रीका के मिस्र आदि देशों को रौंदते हुये वहां शासन करने लगे और बस गये। भारतीय ऐतिहासिक गणना से यह घटना आज से लगभग ७२०० वर्ष पूर्व की है।[७]

मिस्र का प्रथम राजवंश नाग था। शिशुमार इसका प्रारंभिक राजा था। इसका पुत्र नागराज के नाम से प्रसिद्ध हुआ - उसको स्कोर्पियन भी कहा जाता है। इस वंश के सभी राजाओं को 'अह' (अहि) कहा जाता था। पुराणों से स्पष्ट है कि नाग पुरुषों को अहि, सर्प, नाग आदि भी कहा जाता था।

'साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया' भाग-११, पृष्ठ १०४२ के अनुसार तो नाग वंश का उत्तरी अमेरीका तक प्रभाव था। आबी डमीनेक ने लिखा है कि उत्तरी अमेरीका में शक जातीय नाग वंश का आविर्भाव हुआ था। इस नाग वंश ने लिदीयानों का राज्य भी जीत लिया था।[६]

डॉ. हेनरिक जिम्मर ने "फिलॉसफीज ऑफ इण्डिया" नामक ग्रन्थ में सीरिया से प्राप्त ईसा पूर्व १४५० की मुद्रा का वर्णन किया है। इस मुद्रा पर अंकित एक खड़ी हुई मूर्ति है तथा साथ में सर्प है। यह मूर्ति भगवान् पार्श्वनाथ की (सर्प युक्त) मूर्ति से साम्य रखती है।[८] इस मूर्ति से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि सीरिया में ई.पूर्व १४५० से पहले दिगम्बर योगी थे तथा दूसरे वे नागों से संबंधित थे। हमें तो लगता है कि यह मूर्ति

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की है। इनकी मूर्तियों को भी सर्पयुक्त बनाने का प्रचलन रहा है।

उपरोक्त सभी बातें यह सिद्ध करती हैं कि नागों का प्रभाव न केवल भारत तक ही रहा बल्कि विश्व के कई देशों में भी रहा है।

आर्यों का उदय

आर्यों के मूल स्थान के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ के अनुसार ये मध्य एशिया के रहने वाले थे, जब कि कुछ अन्य का मानना है कि ये भारत देश के ही मूल निवासी थे। कालान्तर में ये मध्य एशिया में विस्थापित हो गये। बाद में ये पुनः सिन्धु नदी को पार करके भारत में आये।[५]

जो भी हो, इतना निश्चित है कि आर्यों ने भारत में पश्चिमोत्तर दिशा से प्रवेश किया। इन्होंने अनेकों युद्ध किये तथा शनैः शनैः गंगा नदी के तट तक फैल गये। आर्यों ने सिन्धु नदी तथा गंगा नदी के मध्य के क्षेत्र में अधिकांश भागों में अपने राज्य स्थापित कर लिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इस क्षेत्र से नाग जाति बिल्कुल समाप्त हो गई थी। हां, इतना अवश्य है कि इस क्षेत्र में इनकी शक्ति बहुत कम हो गई थी। आर्य लोग इन्हें हीन भावना से देखते थे तथा स्वयं को इनसे श्रेष्ठ समझते थे।

जब नागों की शक्ति भारत में कम हो गई तो इन्होंने अपनी शक्ति सिन्धु के पश्चिमी क्षेत्रों में केन्द्रित की। रामायण से महाभारत तक के मध्य का समय आर्यों का उत्कर्ष काल था। महाभारत के युद्ध के पश्चात् आर्यों की शक्ति बहुत कम हो गई थी। महाभारत के उपरान्त उत्तर भारत में वैदिक क्षत्रियों के बारह राज्य थे - वत्स, कुरू, पांचाल, शूरसेन, कोसल, काशी, पूर्व विदेह, मगध, कलिंग, अवन्ति, महिष्मती और अश्यक। इनमें से कुरू, पांचाल, कोसल, विदेह और काशी प्रायः वेदानुयायी आर्य क्षत्रियों के थे। इनके अतिरिक्त जो अन्य राज्य पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में स्थित थे वे प्रायः श्रमणोपासक क्षत्रियों के थे।

भारत में नागों का पुनरुत्थान

उपरोक्त १२ राज्य वंशों में भी सर्वप्रधान राज्य कुरूदेश में हस्तिनापुर के पुरू, कुरू अथवा पाण्डव वंशियों का था। अर्जुन का पौत्र परीक्षित इनका अधीश्वर था। किन्तु उसके समय में ही वैदिक आर्यों की बढ़ती हुई शक्ति के सम्मुख चिरकाल से दबी रही नाग आदि जातियां फिर से यत्र-तत्र सिर उठाने लगीं। पश्चिमोत्तर प्रदेश की तक्षशिला और सिन्धु मुख की पातालपुरी के नाग विशेष प्रबल हो उठे। नवीन उत्साह से जागृत, विशेषकर तक्षशिला के नागों ने कुरू राज्य के ऊपर भीषण आक्रमण शुरू कर दिये। उनके साथ युद्ध में ही परीक्षित की मृत्यु हुई।[१]

नागों की बढ़ती हुई शक्ति का परीक्षित के उत्तराधिकारी अधिक समय तक मुकाबला नहीं कर सके। धीरे-धीरे वेदानुयायी क्षत्रिय राज्य शक्ति का कम से कम कुरू प्रदेश में अन्त हो गया। तदनन्तर नागों ने उस पर अधिकार कर लिया। तभी से गजपुर या हस्तिनापुर का नाम नागपुर या हस्तिनागपुर भी प्रचलित हुआ। यह घटना लगभग नौवीं-दसवीं शताब्दी ईसा पूर्व की है। इसी समय के लगभग विदेह तथा वैशाली में भी क्रान्ति हुई तथा यहां भी श्रमणोपासक गणराज्य स्थापित हो गये। काशी में भी उरग या नाग वंशी व्रात्य क्षत्रियों का राज्य स्थापित हो गया। इस वंश में ब्रह्मदत्त नाम का बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट हुआ। आठवीं शती ईसा पूर्व में मगध में भी राज्य-विप्लव हुआ तथा सत्ता परिवर्तित हो गई। इस प्रकार धीरे-धीरे वैदिक परम्परा शिथिल होने लगी तथा नागों का प्रभाव बढ़ने लगा।

नागों की इसी परम्परा में भगवान् पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन काशी के नरेश थे। पार्श्वनाथ के बाद महाप्रतापी नाग वंशी राजा करकंडु हुआ जो पार्श्वनाथ का अनुयायी था। श्री नगेन्द्र नाथ बसु लिखते हैं कि "इतना अवश्य कह सकते हैं कि ई. सन् के ६८१ वर्ष पहले नाग राजगण प्रबल प्रताप से वहां राज्य शासन करते थे।" अतः भगवान् पार्श्वनाथ के पश्चात् भी नागों का अच्छा प्रभाव रहा है।

भारत में पहली - दूसरी शताब्दी तक नागों का प्रभाव था। श्री नगेन्द्रनाथ बसु लिखते हैं कि "नवनाग की जितनी भी मुद्राएँ पाई गई हैं, उन पर वृहस्पति नाग, देवनाग, गणपतिनाग आदि नाम खुदे हुए हैं। इससे साफ-साफ मालूम होता है कि नाग वंशीय राजगण पहली और दूसरी शताब्दी में राज्य करते थे। इस नव नाग की राजधानी नरवर में थी। विष्णु पुराण में नरवर पद्मावती नाम से प्रसिद्ध है। उक्त नागबंशधरों ने कान्तिपुरी और मथुरा में विजय पताका उड़ाई थी। मालवा का कुछ अंश भी उनके अधिकार में था।"[६]

नागों का धर्म तथा संस्कृति

नागों को असुर, यक्ष या राक्षस नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। आर्य लोग अपनों को देव तथा इन्द्र आदि नामों से सम्बोधित करते थे। राक्षसों तथा देवों की संस्कृति में एक विशेष अन्तर यह भी था कि राक्षस वनों की रक्षा करते थे तथा वे खेती के लिए अधिकाधिक वन काटने के पक्ष में नहीं थे। जब कि देव वनों को काटते रहते थे। चूंकि नाग वनों की रक्षा करते थे, इसीलिए वे राक्षस या यक्ष कहलाये।

वस्तुतः इन्द्र, देवता, राक्षस तथा असुर आदि कोई अलौकिक व्यक्तित्व नहीं थे बल्कि इसी पृथ्वी के ही निवासी थे। विद्वानों का अनुमान है कि असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से संबद्ध थे। वे यक्ष एवं पशु बलि, श्राद्ध और कर्मकाण्ड के विरोधी थे। आर्हत् जैन-धर्म का पर्यायवाची है। यह बात और है कि धार्मिक विद्वेष के कारण 'असुर' शब्द हिंसक का पर्याय बना दिया गया।[७]

उत्तर वैदिक काल में नागों की तरह व्रात्य भी अर्हन्तों को मानते थे तथा चेतियों (चैत्यों) की पूजा करते थे। ब्राह्मण परम्परा की अनुश्रुतियों में लिच्छवि, मल्ल, मोरिय आदि जातियों को व्रात्य कहा है। व्रात्य वे आर्य जातियां थीं जो मध्य देश के पूर्व या उत्तर-पश्चिम में रहती थीं तथा मध्य देश के ब्राह्मण, क्षत्रियों के आचार का अनुसरण नहीं करती थीं। वस्तुतः

इस काल में वैदिक आर्यों की शुद्ध सन्तति अवशिष्ट ही नहीं रह गयी थी। रक्त मिश्रण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं बहुधा धर्म परिवर्तन आदि के कारण एक नवीन भारतीय जाति उदय में आ रही थी जिसमें श्रमणोपासक चातुर्वर्ण के व्रात्य एवं नाग आदि जातियों का बाहुल्य था[१०]

उत्तर वैदिक काल में श्रमण धर्म पुनरुत्थान के सर्व प्रथम परस्कर्ता बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि थे। इनके पश्चात् नाग-पुनरुत्थान का युग आया। भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म उरग वंश में हुआ था जो कि नाग जाति की ही एक शाखा थी। अत: उस काल में पुन: जागृत नाग लोगों में उनके धर्म का प्रचार अत्यधिक रहा। भगवान् महावी से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म प्रचलित था। स्वयं भगवान् महावीर के माता-पिता इनके अनुयायी थे।

असुरों तथा नागों की सभ्यता भारत वर्ष में उनके पुनरुत्थान के काफी पहले से ही बहुत विकसित थी। उन्होंने आज से लगभग चौदह हजार वर्ष पूर्व आकाश में नगरों का निर्माण कर लिया था, जैसा कि आज के युग में वैज्ञानिक अंतरिक्ष में लघु उपग्रह स्थापित करते हैं। लेकिन असुरों के द्वारा स्थापित आकाशिय नगर बड़े थे। देवासुर संग्राम में वे नष्ट हो गये।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे, इनकी ऐतिहासिकता पर संदेह करना अनुचित है। जिस नाग जाति में इनका जन्म हुआ वह भारत की एक विशिष्ट जाति रही है। इस जाति के कतिपय अवशेष कुछ उन आदिवासियों में पाये जाते हैं जो कि सर्प की पूजा करते हैं या सर्प को अपना देवता मानते हैं। असम की एक जाति के लोग अपना उपनाम 'चेतिया' लगाते हैं। इससे यह आभास होता है कि ये उन व्रात्यों से सम्बन्धित रहे हैं जो चेतियों या चैत्यों (जैन मन्दिरों) की पूजा करते थे तथा नाग जाति के समकालीन थे। पूर्वी राज्य 'नागालैण्ड' की नागा जाति तथा प्राचीन नाग जाति के नामों में भी अद्‌भुत साम्य है।

'पद्‌मावती पुरवाल' एक जैन जाति है। इसका उद्‌गम स्थान पद्‌मावती नगर (नरवर) रहा है जो कि उत्तरवर्ती नाग जातिय राजवंशों की

राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मावती पुरवाल जाति भी उत्तरवर्ती नाग वंशों से संबंधित रही है।

संदर्भ

१. 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, पृष्ठ ४५

२. 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' (भाग १) डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ १९

३. 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' डा. ज्योति प्रसाद जैन, पृष्ठ २६.

४. वही, पृष्ठ २७

५. डॉ. अनिल कुमार जैन, कादम्बिनी, सितम्बर १९८७

६. हिन्दी विश्व कोश (भाग ११) नगेन्द्र नाथ बसु, पृष्ठ ५५८-५५९.

७. 'प्राचीन अफ्रीका : नागों और राक्षसों का उपनिवेष' डा. कुवरलाल व्यास शिष्ट, कादम्बिनी, जुलाई १९८७, पृष्ठ ५५-५८.

८. 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ' - डा हेनरिक जिम्मर, अहिंसा वाणी, सित.-अक्टू. १९५३, पृष्ठ ४-१४.

९. 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' डा. ज्योति प्रसाद जैन, पृष्ठ ३७

१०. वही, पृष्ठ ३९.

PARSVAṄATH AS SEEN IN MAHA- PURANA AND CAVUNDARAYA PURANA : A COMPARATIVE STUDY

— *Dr. S.P. Patil**

Jinasenacarya's Purva Purana has a unique place in the tradition of Jaina Puranas. His plan was to compose complete Mahapurana, but could complete only 42 parvas and breathed his last. His disciple Gunabhadracarya completed the remaining portion of the Purva purana and also 'Uttara-Purana'. According to some scholars Jinasenacarya is supposed to be the first to write *Jaina-Purana.* But we have the references of Kavi-Parameswara in Jinasena as the author of Jaina Purana in prose-*style*. *Jinasena* was a disciple of Virasena. Acarya Dasaratha and Acarya Vinayasena were also the disciples of Virasena with Jinasena. Jinasena was a Royal-teacher-'Rajaguru' in the court of Amoghavarsa Nrapatunga of Rastrakuta dynasty. The Purva-Purana is known for its rich scriptural knowledge, first hand experience of worldly affairs and highest poetic diction. Dr. Siddheshwara Bhattacharya has rightly said that it is an encyclopedia of Indian life. Social, political economic and cultural life of that period is very vividly described in Purva Purana.

Cavundaraya is said to be a 'Samyaktva-Cudamani' embodied with the ideals of the 10th century's heroic qualities. He was great warrior, a general, a minister and above all a pious man of religion, upholding ethical values by his practice. He could translate his sublime thought into action, through erecting the statue of Gommata Babhubali at Sravanabelgol. His thorough study of scriptures under the guidance of Nemi-candracarya and

* *Professor and Chairman, Department of Jainology, Karnatak University, Dharwad*

Ajitasenacharya helped him to write `Mahapurana' in Kannada prose. His interest in common people is clearly evident from the fact that when Sanskrit was dominant he set it aside and adopted Kannada prose as the medium of his work. Besides his two teachers, his companion-friend was Kavi-cakravarti Ranna. Their talent, qualities, attainments and inclination towards the common welfare were the sources of his inspiration. It is commonly known that the Cavundaraya-Purana is the translation and condensed form of Jinasena-Gunabhadra's Mahapurana. But some of the special features and the variations of these two works reveal to us that Cavundaraya Purana has a very distinct character which gives it a permanent place in the history of Kannada literature. Here is an attempt to go through with the narration about Parsvanath in Maha-Purana and Cavundaraya Purana.

The story of life of Parsvanatha in general is common in both the works. The names of Kamatha and Marubhuti, sons of Visvabhuti and Anunderi, follow the original Mahapurana. But Mahapurana gives more details of Kamatha and Marubhuti (73:9). The elder was like poison and sin whereas the second one was like Amrita and dharma (pious). The vast difference of characters of both brothers is made clear in the beginning. Cavundaraya has not mentioned these qualities, but development of the story reveals the qualities and nature of brothers. The mention of characteristics of these persons is made vivid by description in Mahapurana whereas the same goal is achieved by Cavundaraya with their acts.

Kamatha and Marubhuti were ministers in the Royal court of king Aravinda (M.P. 73:10), Varuni and Vasundhari were their wives. But for Vasundhari, Kamatha killed Marubhuti. This story is common in both the works (C.P. 353).

Marubhuti in his eighth birth (Bhava) as Ananda heard from minister Swamihita about the Nandisvara Jinapuja and went to

see it. Vipulamati Ganadhara was also there. Ananda bowed down to Ganadhara and listened religious discuourse from him. At the end he asked Ganadhara about his doubts (M.P. 73:47). "The lifeless images cannot avert (Paranmukha), punish or favour anybody. But innocent divotees worship them to get these things. How could they acquire the fruit by worship of lifeless images?". To which Vipulmati Ganadhara replied that assurance of security (Abhaya-dana) and deed of gift (Sastra-dana) were for the first time set in practice by Adi-deva in this particular place and Bharat-raja showed the householders the practice of worship of Jina Temple. Sreyansa of Hastinapura became famous by his gift of food (Ahara-dana). So like Bharata you will also attain the fruit of Jina worship. He also gave the example of Kalpavriksa, the tree that grants all desires and Cintamani, a gem of Svarga supposed to yield to its possesser everything wanted. These are lifeless, still they grant the possesser whatever they desire. Similarly Jina-images though they are lifeless, they motivate bondage of Punya (Virtue) and cause for the Shubha Parinamotpatti.

The above exhaustive explanation is not found in Mahapurana in the present context. But Cavundaraya has given place to the doubts of common men and explained convincingly with examples. He might have some other sources for this detail but the comprehension, logical argument speaks of his creative faculty.

Hearing from Vipulamati about the Jina-images and Akritrima (Natural) Jina-pratimas in the sky (Suryamandala), Ananda with devotion bowed-down and worshipped. People who saw him doing so also started respectful salutation to Suryamandala. From here onwards Suryopasana found its roots in this world. Here we see Cavundaraya giving more colour and making the situation more vivid by the additional information. Ananda who was convinced by the explanation of Vipulamati began the worship of Arhat-bhattarakas in Aditya mandala in the manner declared by

the scriptures. The people who knew the principle and who did not know it, only saw Ananda and started worship of Aditya bimba. The narration throws light on some of the important customs and traditions of the period. The worship of Akritrama Jina and Caityalaya during Astahnika has its significance. People who were aware of it followed Ananda and a tradition is set forth. The reason for this worship is also made clear and is self-revealing to resolve the doubts which might be in minds of common people. Of course, it suggests that Cavundaraya gives an opportunity to raise the issue for which common people were anxious to know the reality. So within the frame-work of Mahapurana Cavundaraya gives an opportunity to clear off doubts. At the same time he also mentions that people started immitating Ananda and started Suryopasana. Mahapurana does not make any distinction as knowing and unknowing. It only says that people followed Ananda (M.P. 37:60). But Cavundaraya has observded the society minutely and seems to be a bit worried as people were engaged in worshiping Sun instead of Akritrima Jinabimba in the sky. The act, the innocence, the ritualistic custom of suryopasana does not give him satisfaction. It may be his desire to make them aware of reality through this additional description. Similarly with the specific addition Cavundaraya tries to record the contemporary custom and ritual of Suryopasana in his purana with such detail that it becomes relevant for us.

The grey hair made Ananda to renunciate the worldly desires. He entrusted the kingdom to his son and took to ascetic life under Samudragupta-yati. This is the information available in Cavundaraya Purana (C.P. 355). But Mahapurana tells us more than this (M.P. 73-62). Ananda being free from worldly desires, crowned and entrusted the kingdom to his 'eldest' son and went with other rulrs to Samudragupta and observed penance. The specific mention of 'eldest' son has been reduced to 'son' only. As Cavundaraya's interest is to give the story in a condensed

form, it is quite but natural. And he sets an example in the art of condensing.

Parsva Bhava

Parsvanatha's mother's name has been given in mahapurana as Brahmi (M.P. 73:75). Cavundaraya purana names her Brahmi Devi (C.P. 356).

According to Mahapurana Parsvanatha's birth took place after 83750 years of Neminatha Tirthankara's liberation, (M.P. 73:93). But Cavundaraya purana records it as 83550 years (C.P. 356). We do not find convincing answer for the difference of 200 years in these works. It leads us to think of possibility of a different tradition of Mahapurana available to Cavundaraya. At many places he differs from Mahapurana and such variations in case of name, place and period are clear indications to believe it. It is also clear that Cavundaraya is not conservative and does not blindly follow Mahapurana. He has often taken liberty to accept information from other sources.

Anandamuni who was born in Pranatakalpa took his next birth in Vāranasi to Visvasena maharaja and Brahmi Mahadevi of Kasi. The child was named as Parsva. Mahapurana does not justify the name Parsva (M.P. 73:82). Cavundaraya purana describes that, as he was a shelter to the righteous deeds (Dharma) which was worshipped by all the three worlds (Triloka), he was named Parsva. Cavundaraya Purana justifies the name Parsva in its usual way. Cavundaraya though he was interested in condensing the details, whenever situation demands more information, he becomes liberal to give more information.

In the concluding stanzas (Stutipadyas) of Uttara-Purana Parsvanatha is praised for his qualities. They have been described elaboratly. "Oh Lord, at mountain meru, at the time of

Janmabhiseka celebration the wind aroused out of your exhaling breathing (Uchvasa) and inhailing breathing (Nisvasa) made heavenly gods to enjoy the swinging experience repeatedly. The breathing of child Parsvanatha roused wind and the heavenly gods who had gathered there for Jubiliation could not stand stiffly. They went to and from in rhythem to his breathing. The enormous strength of Parsva is brought to light by Gunabhadracarya. Cavundaraya does not mention this episode. It does not mean that he has no interest or admiration for the episode. He better choses to shift it over to the story of Vardhaman Mahavira. He collects things from various sources, puts them to test and to achieve a particular result he arranges and re-arranges. Moreover, he is not only a translator of Mahapurana. He is an editor par excellence and a successful compiler.

Another interesting and important episode in Parsvanatha purana is worship of Mahipala in the midst of five fires (Panchagni). Mahapurana mentions Mahipala as grand father (mother's father) of Parsvanatha (M.P. 73:99). But Cavundaraya Purana describes him as mother's brother. 'Tammabbegalanna' (C.P. 356). It also points out him as maternal uncle 'mama'. It is not evident through which source Cavundaraya adapted this relationship.

When Mahipala was not given respect by Parsva he lost his temper. As the fire was extinguishing he took an axe (hatchet) and went to cut a strong wood. Parsvanatha Kumara tried to prevent him from cutting the wood, saying that there may be some life in the wood and so do not cut it (73:102). But Mahipala cut the wood in two pieces. Two snakes which were inside the wood were cut in four pieces. The Cavundaraya Purana says that these four pieces came out of the wood when it was put to fire (C.P. 356). Mahapurana does not mention the putting of wood in the fire (M.P. 73:103).

When Subhouma prince saw this he addressed, "Oh, sage without aware of giving trouble (Upasarga) to others and by that deed you will have inflow of sin (Papasrava), you are following wrong method. By your false way of practice (Mithyatva) you cannot attain liberation. To justify his argument he gave four examples.

1. By beating (bruising) the husk of rice one cannot get rice.
2. By stirring (Churning) the water one cannot get butter or ghee.
3. By burning ordinary stone one cannot get gold.
4. By running away to rescue oneself and falling in the fire will not help him.

Out of these four examples, Cavundaraya has picked up only two-namely the first and third. He has selected easily convincing examples. Parsvanatha received presents from king Jayasena of Saketapura. He heard the description of Saketapura which reminded him his Ananda Bhava. This resulted in a decision to renunciate the wordly things (M.P. 73:120-122). Cavundaraya has retained the original spirit, condensed the details and expressed that hearing the details of Saketapura Parsvanath recollected the Ananda Bhava, decided renounciation of internal (Antar) and (external) (Bhava) possessions (Parigrihas).

In short Cavundaraya Purana varies from Mahapurana in many respects. He creates new situation, gives human touch to characters and strikes a balance between ascetic and householders life. In many cases he moves away from Mahapurana and shows the influence of some other sources. In short, his interest is in common people and his effort is to convince them and bring to right path.

HISTORICITY OF TIRTHANKARA PARSVANATHA AND HIS WORSHIP

— ***Dr. N. Vasupal****

The traditional belief among the Jains is that their faith is beginningless. The Tirthankaras re-established Dharma-Teertha, the mission of their faith, in various eras. A Tirthankara is one, who is born as a man on this earth, attains spiritual perfection with his own efforts and shows the same path of perfection for others. In the present Avasarpini era, 24 Tirthankaras were born in long intervals of time. Among these Tirthankaras, Bhagvan Rishabha is the first Tirthankara and Bhagvan Vardhamana-Mahavira is the last Tirthankara. Bhagvan Parsvanatha the 23rd Tirthankara is accepted as a historical personage by good number of scholars.

It is surprising that the Jains never made efforts to bring out the ages long historicity of their faith, and as a result, the non-Jains tend to believe that just as the Buddhism was established by Lord Buddha, in the same manner, Lord Mahavira founded Jainism and this view gained currency among the common people also.

But during the last century a healthy trend towards entering into research-oriented study of Jaina scriptural literature gained momentum. The German scholars were first to embark on this venture. Many of them even devoted their entire life in such research works, and Prof. Hermann Jacobi's name is mentioned with great reverence in the matter. He not only studied thoroughly almost all the available scriptures in Ardhamagadhi but also edited and translated some of them in English. His books were published under the title "Sacred Books of the East", years ago by the

* *Professor & Head, Dept. of Jainology, University of Madras, Chennai*

Clarendon Press, Oxford under the editorship of Prof. Maxmuller. Prof. Jacobi chose to study Pitakas in Pali also and through his comparative and analytical study, he declared clearly that it was not lord Mahavira who established Jainism, but he only preached and propagated it which was traditionally available, suiting the age and circumstances. His predecessor and torch-bearer of the Jain tradition was lord Parsvanatha, who was considered as the 23rd Tirthankara of the present descending era[1].

The historicity of Parasvanatha has been generally accepted by the scholars both in India and in the West[2]. According to Zimmer, of the 24th Tirthankaras, the earlier are mythological personalities, and mythology has been abundently poured into their biographies. Nevertheless, it is becoming increasingly evident that there must be some truth in the Jaina tradition of the great antiquity of their religion, at least with respect to Parsva, the Tirthankara just preceding Mahavira. We have grounds for believing that he actually lived and taught, and was a Jaina[3]. Dr. Radhakrishnan says that there is evidenoe to show that so far as the first century B.C., there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. Vardhamana was not so much the founder of a new faith as the reformer of the previously existing creed of Parsvanatha, who is said to have died in 776 B.C.[4].

'Charl Charpentier writes - "We ought also to remember that the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira[5]".

Dr. A.L.Basham writes - "As he (Vardhamana Mahavira) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddhist Chief opponents, his historicity is beyond doubt... Parsva was remembered as 23rd of the 24 great teachers of Tirthankaras of the Jain faith[6]."

LIFE OF PARSVANATHA

The twentythird Tirthankara Parsvanatha was born in Varanasi. He belonged to the Kasyapa Gotra[7]. His father was Asvasena, the king of Varanasi. His mother was queen Varmala also called Vamadevi[8]. Uttara Purana mentions the name of the father of Parsva as Visvasena and the mother as Brahmi[9]. The slight difference in the mention of his birth date in the Svetambara and the Digambara traditions does not materially affect the dates. In the Kalpasutra and Trisastisalaka Purusa his date of birth has been stated to be the midnight of Pousya Krishna Dasami (the 10th day of the dark half of the Pousya month)' while according to the Digambara works like Tiloyapannatti and Uttara Purana the date of birth is Pousya Krisna Ekadasi (the 11th day of the Pousya month).

After Parsva grew into a handsome youth, his parents wanted him to get married. The Svetambara tradition mentions that Parsva was married to Prabhavati the daughter of king Prasenajit, on account of the persuation of his parents for marriage[10]. But in the Digambara texts, like Uttara Purana and Maha Purana there is no mention of his marriage. There is evidence to show that the five Tirthankaras : (1) Vasupujya, (2) Mallinatha, (3) Aristanemi, (4) Parsvanatha and (5) Mahavira did not get married. They took to renunciation in the stage of their bachelorhood[11]. At the age of 30, Parsva decided to renounce the world and take up to Sanyasa. It was Magha Sukla Ekadasi (the 11th day of the brighter half of the Magha month). On that auspicious day Parsva left the outskirts of the city of Varanasi and took the vow of renunciation[12].

After about four months of the practice of severe penance and meditation Parsvanatha attained the state of Kevala Juana (Omniscience). This was in the early hours of the morning of the 4th day (Chaturthi) of Bahula Chaitra.

This auspicious news spread throughout the country. The king Asvasena and Vamadevi, his parents alongwith the princes and subjects, came and offered their respects. According to the Digambara tradition, the first disciple was Svayambhu and the Prathama Aryika was Sulocana[13]. Bhagvan Parsvanatha establishes the Tirtha of the four orders of society. His preachings were effective and various groups called ganas were established. Digambara tradition maintains that there were 10 Ganadharas and 10 Ganas[14]. But according to Svetambara tradition 8 Ganadharas and Ganas were established[15].

In his wanderings from place to place preaching his doctrine Tirthankara Parsvanatha came to the mountain Sammeda Shikhara, with 33 munis. This was the finale and the consummation of his life as a Tirthankara. He took the vow of fasting and sat for meditation on the auspicious day of Sravana sukla astami (8th day of the brighter half of Sravana). In the Vishaka Naksatra, Tirthankara Parsvanatha attained the highest state of Perfection - Moksha[16]

Parsvanatha is supposed to have attained nirvana about 250 years before the nirvana of the 24th Tirthankara Vardhamana Mahavira. He lived for one hundred years. He renounced the world at the age of thirty and practised severe penance on the mount Sammeda Shikhara. It is located in Bihar nearer to West Bengal. The mount is even now called as Parsvanatha Hill. He preached his doctrines to the people for seventy years, and after attaining the age of one hundred years in 777 B.C. attained the supreme state of Nirvana.

WORSHIP OF PARSVANATHA

Parsvanatha worship finds prominence among the Jains since very ancient times, and the same affirmed by the very large number of images of this Tirthankara. There are evidences to say that

Parsvanatha is worshipped since the time of his attainment of Kevala Jnana, if not earlier. Acarya Samantabhadra in his Parsvanatha stotra (Svayambhu stotra) says that soon after the attainment of Kevala Jnana by Parsvanatha, those forest dwelling recluces realised their path of penance to be useless and looking at the glory of Parsvanatha, immediately approached him and took refuge at his feet.

"वनौकसः स्वश्रम वंध्यबुद्धयः ।
समोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ।।" **etc.**

This piece of statement confirms that Bhagvan Parsvanatha was considered as a worshipful person by the people of his own time.

In Karakanda cariu of Muni Kanakumara, we find another earliest reference to the worship of Bhagvan Parsvanatha. Karakanda after his consecration as king at Champapura desires to conquer over all those kings who did not care to pay homage to him. Learning that the Chola, Chera and Pandya kings of the south refused to pay homage, he marched out with a vast army and reached Terapura and halted at its vicinity. There he learnt that on a near by hill, there was a cave temple of thousand pillars and on the top of the hill, there was a huge ant hill which was worshipped by an elephant. So out of curiosity, Karakanda mounted the hill, on the slopes of which he found the cave containing a Jina image. Climbing further to the top he saw the anthill, and in his very presence an elephant came which fetched water and lotuses from the neighbouring lake and worshipped the anthill. Immediately Karakanda ordered the anthill to be excavated and as he had anticipated an image of Parsvanatha flashed forth from the anthill. The king conveyed it to the cave, where on the lion seat he noticed a patch. On enquiry from an old artisan of the town, he learnt that it was the mouth of a fountain of water. He caused the patch to be scraped off and there on water gushed

forth with great force, and filled the whole cave. The king became repentent fearing the destruction of the cave temple. However, the guardian Vidhyadhara of the cave appeared and consoled the king.

Historians opine that when Karakanda was encamping at Terapura, he learnt the existence of a large cave containing a Jina image at the foot of a hill in deep forest, and he visited the cave and worshipped the Jina, and also renewed the temple, installed in it another image of Parsvanath, which he discovered on the top of the mountain burried in an anthill and built two more caves on the upperside of the existing cave. This piece of information serves as an evidence to say that during the days of Karakanda, who is considered as a historical person and who lived somewher about 7th century B.C. or about hundred years earlier to Bhagvan Mahavira, worshippied Bhagvan Parsvanatha's image.

It may be noted that both in Jaina and Buddhist traditions Karakanda is considered as one of the four Svayambuddhas.

Here it may also be noted that according to Jaina tradition the parents of Bhagavan Mahavira, namely, Siddhartha and Trisala were ordaint followers and worshippers of Bhagvan Parsvanatha, and this is suggested by the episode of the samvada found in Uttaradhyayana Sutra between Gautama Ganadhara and Kesi Kumara Sramana, the latter being the follower of Parsvanatha order.

According to some of the historians and also according to a piece of traditional information, Gautama Buddha himself in his early years of monkhood was a follower of Parsvanatha order. Gautama the Buddha is said to have practised the ascetic practices of the Sramana tradition like pulling the hair (Kesalocana) and fasting. He begged for food in the tradition of the Jaina practices of asceticism prevailing at the time of Parsva. The practices that

the Buddha followed in the early stages of his ascetic career were the Sramanic practices, prevailing in the Jaina codes of ascetic life from the pre-Mahavira times at least from the times of Parsva. Some scholars are of the opinion that for sometime in the early stage of the self-denying career, the Buddha followed the tradition of Parsvanatha. Buddha was influenced in his ascetic career by the teaching and the methods of Parsvanatha. In Anguttara Nikaya, it is said that Buddha's uncle Bappa Sakya was a Nigganta Sravaka following the tradition of Parsva's teachings. It is therefore clear that Parsva tradition was known and was followed at the time of Buddha and Mahavira.

There is an episode related to Acarya Bhadrabahu, wherein once again we find an instance of the continuity of Parsvanatha Worship. According to tradition Varahamihira the famous astronomer was the younger brother of Bhadrabahu. This younger brother, as time advanced, developed Jealousy to his elder brother, namely, Bhadrabahu. In his life time, the younger brother tried to claim superiority over his elder brother. However, he was not successful. After certain time the younger brother died and took birth as Vyantaradeva. Now recalling the incidents of his earlier birth, he desired to take revenge against Bhadrabahu. So he inflicted injury to the entire Sangha of Bhadrabahu. This being formented by Vyantara, Muni's approached the acarya Bhadrabahu and beg him to see that the troubles caused by Vyantara were halted. Now acarya Bhadrabahu composed Upasargahara stotra, comprising nine stanzas praising Bhagavan Parsvanatha. It is stated that this stotra had a miraculous power. As days advanced acarya Bhadrabahu learnt that the miraculous power of this stotra was being misused. Therefore, he removed from it last two stanzas to prevent the misuse of the same, and as a result it is stated that now only seven stanzas of Upasargahara stotra are remaining.

There are many episodes that have come down from tradition, revealing the mysterious and miraculous power of the worship of Bhagavan Parsvanatha. In this regard it may be stated as examples, a life incident of Siddhasena Divakara, the author of Kalyana mandira stotra, Dhananjaya the author of Visapahara stotra, Vadiraja Suri, the author of Parsvanatha charita and so on.

A legend has it that by means of the Kalyana mandira stotra, Siddhasena Divakara split the linga of god Rudra in the Mahakala temple at Ujjayini, whereupon the image of Parsvanatha stepped forth out of the middle of it.

It is according to the traditional statement, one day Dhananjaya was worshipping Parsvanatha image in a temple. While he was in the act of worshipping, some one came and told him that his son was bitten by a poisonous serpent. After hearing this information, Dhananjaya was not at all moved or disturbed, and continued to worship. After the completion of worshipping he took prasadam, went to his house and sprinkled the same on the body of his son. As a result of which his son got cured of poison and revived of his life.

It is also stated that Vadirajasuri had leprosy, and got himself cured by composing a hymn on Parsvanatha. Even to the present day Parsvanatha worship, particularly in Karnataka, is very prominent.

Note: The Tera Pura mentioned in this paper is identifiable with Tera, a village in the Osmanabad district of Maharashtra, situated on the banks of Tirna river, 12 miles north-east of Osmanabad.

REFERENCES :

1. The Sacred books of the East, XLV, Introduction.
2. Jaina Dharm ka Maulika Itihas (Hindi) pp 333, and Bhagavan Mahavir ek Anushilan (Hindi) by Devendra Muni Shastri Ji, pp. 39.
3. Zimmer (H) : Philosophy of India (Edt. Joseph Campbell) Kegan Paul, 1951, pp. 181.

4. Radhakrishnan (S), Indian Philosophy, Allen Unwin 1929, pp. 287.
5. Charl Charpentier : The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, p. 21.
6. Dr. A.L. Basham : The Wonder that was India, 1956, p. 287-288.
7. Uttaradhyayana Sutra, 73-75.
8. Samavayanga - 175
9. Uttaradhyayana Sutra, 73-75
10. Trisasthi - 2,3.
11. Avasyakaniryukti, 221-222,
    Panmacariyam, Padmapurana, 20, 67,
    Harivamsapurana, 60, 214,
    Tiloyapannatti-Adhikara-4, gatha 670.
12. Uttarapurana, 73, 129,
    Tiloyapannatti, 4, 966
13. (a) Tiloyapannatti, 4, 966
    (b) Pasanabacajiu, 10, 12, 138
14. Siripasanaha Chariyam, 4, 202
15. Kalpasutra, 156 (Edt. Devendra Muni Shastry, pp. 223).
16. (a) Kalpasutra, 159 (Edt. Devendra Muni Shastry, pp. 220).
    (b) Uttarapurana, 73, 156.

Books Consulted

1. Comparative History of Jainism (upto 1000 AD) - Asim Kumar Chatterjee, Firm Klm Private Limited, Calcutta, 1978.
2. Jaina Sects and Schools - Muni Uttam Kamal Jain, Concept Publishing Company, Delhi - 1975.
3. Religion and Culture of the Jains - Dr. Jyoti Prasad Jain. Bharatiya Gyanpitha Publication, Delhi - 1983.
4. Tirthankara Parsvanatha - A study. Edt. Dr. T.G. Kalghatgi, Mysore University, Mysore, 1977.
5. Study of Jainism, - Dr. T.G. Kalghatgi, Prakrit Bharati Academy, Jaipur, 1988.
6. Compendium of Jainism - T.K. Tukol, Karnataka University, Dharwad, 1980.
7. Karakanda Chariu of Muni Kanakumara, Editer -Dr. Hiralal Jain.
8. History of Indian Literature, Vol. II - M. Winteruity
9. Kalpasutra of Bhadrabahu Swamy, Tr. Kasturchand Lalvani
10. Sanmati Sri Vihara - Dr. M.D. Vasantha Raj.

मराठी साहित्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ

– डॉ. पद्मजा पाटिल*

प्रस्तावना

आजतक बहुत से पाश्चात्य व भारतीय संशोधकों का संशोधन क्षेत्र उत्तर भारत और राजस्थान में 'जैनधर्म व साहित्य' तक ही सीमित रहा है। तामिलनाडु, आंध्र, कर्नाटक में भी 'जैन धर्म व प्रादेशिक जैन साहित्य' पर खोज जारी है। कुल मिलाकर जैन लोकसंख्या केंद्रित है दक्षिण महाराष्ट्र में। किंतु दक्षिण व उत्तर महाराष्ट्र में "जैन परंपराएँ और मराठी जैन साहित्य" जैसे विषय उपेक्षित हैं। महावीर और गौतम बुद्ध ने लोकभाषा के माध्यम से बहुजन समाज से सामीप्य बनाया। जैनों की अर्धमागधी का दूसरा नाम है महाराष्ट्री। जैन साहित्य का महाराष्ट्र से कितना निकट संबंध है इसका पता इससे चलता है। मराठी के बनाव-सिंगार में प्राकृत जितना ही महाराष्ट्री का महत्वपूर्ण सहयोग है।

१५वी सदी के पूर्व का मराठी जैन साहित्य उपलब्ध नहीं है किंतु बाद में अनेक पुराण, काव्य व दूसरे वाङ्मय का जैनों ने धर्मप्रसार के लिए निर्माण किया। फिर भी भ. पार्श्वनाथ पर मराठी साहित्य बहुत ही कम है। मेरी कोशिश से जो साहित्य प्राप्त हुआ उसके सहारे "मराठी साहित्य में पार्श्वनाथ तीर्थंकर" यह शोध पत्र आपके सामने सादर प्रस्तुत कर रही हूं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रसार

दक्षिण भारत में जैन ऐतिहासिक परम्पराऐं अत्यन्त प्राचीन व महत्वपूर्ण हैं। इनका आरंभ श्रवणबेळगोळ शिलालेखों से पता चलता है जो

* *अधिव्याख्याता, इतिहास विभाग शिवाजी विद्यापीठ, कोल्हापुर*

पहले सम्राट चंद्रगुप्त (ई.पूर्व ३री सदी) के काल का माना जाता है। इससे भी पहले जैन धर्म व जैन श्रमणों का अस्तित्व श्रीलंका में माना गया है। जैनों के प्रसिद्ध आचार्य भद्रबाहुजी के आगमन से दक्षिण भारत में जैन धर्मप्रसार को बढ़ावा मिला। १३वी-१४वी सदी से दक्षिण में मुसलमानों का आना शुरू हुआ। १६वी सदी में मराठी सत्ता की स्थापना, प्रसार और १८१८ में अंत हुआ। अंग्रेजों की सार्वभौम सत्ता प्रस्थापित हुई। १४वीं सदी तक जैन धर्म प्रसार को प्राप्त उदार राजाश्रय, बाद में नहीं मिला। शायद इसी स्थित्यंतर में प्राचीन जैन साहित्य नष्ट हो गया हो। फिर भी दक्षिण भारत के सांस्कृतिक इतिहास में जैनों का काम अविस्मरणीय और गौरवास्पद भी है। वैदिक परम्पराओं की कर्मठता का विरोध कर जैन धर्म ने अंतःकरण शुद्धि व आत्मविकास को अग्रस्थान दिया।

जैन मराठी वाड्.मय का आरंभ

मराठी के जन्म से ही जैनों का महाराष्ट्र से पारिवारिक संबंध है। ८वी व ९वी सदी में 'श्री चामुंडराय करवियले गंगराजे सुत्ताले करवियले' ये मराठी अक्षर श्रवणबेळगोळ के गोमटेश्वर की मूर्ति के पैरों तले खुदे मराठी भाषा का पहला लिखित सबूत माना जाता है। चामुंडराजा व गंगराजा जैन थे तथा उन्हें मराठी भी आती थी यह भी सिद्ध होता है। लेकिन कुंदकुंदादि समन्तभद्र जी के अनेक प्राकृत ग्रंथों में मराठी शब्दों का प्रयोग कम ही पाया जाता है।

यद्यपि मराठी को जैन साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान है तब भी जैन साहित्य के अस्तित्व की शुभवार्ता १०० साल पहले वर्धा से जिनदास चवडे व जयचंद्र श्रावण ने कुछ जैन ग्रंथ प्रकाशित करके ही दी। किंतु उनके लेखन में संशोधन दृष्टि का अभाव था। जनवरी १९२४ में 'विविध ज्ञान विस्तार' मासिक पत्रिका ने जैन ग्रंथों के अस्तित्व की प्रथम जानकारी दी। तदनंतर कुछ समय तक यह साहित्य उपेक्षित ही रहा। १९५६ में प्राचीन मराठी के जैन अभ्यासक प्रा. विद्याधर जोहरापूरकर जी ने बाहुबली (कोल्हापुर) से प्रकाशित "सन्मती" मासिक पत्रिका में मराठी जैन ग्रंथों की

जानकारी प्रकाशित की। १९६४ में डॉ. सुभाषचंद्र अक्कोले जी ने 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' पर संशोधन कर पूना विश्वविद्यालय की पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की। सोलापुर के जीवराज ग्रंथमाला द्वारा जैनों के प्राचीन मराठी ग्रंथ प्रकाशित होने लगे। यह डॉ. अक्कोले की कोशिशों का फल था।'मराठी सारस्वतों का नया दालन खुला' इन शब्दों में जैनेतर प्राचीन मराठी अभ्यासकों ने भी इन प्रयत्नों का स्वागत किया।[५]

जैन समाज व मराठी भाषा

उत्तर महाराष्ट्र का जैन समाज मुख्यत: व्यापारी होने से गुजराती व हिन्दी का प्रभाव दिखाई देता है। द. महाराष्ट्र का जैन समाज किसान और कन्नड भाषिक होने के बावजूद महाराष्ट्र से एकरूप है। महाराष्ट्र की राजधानी मुंबई व दूसरे प्रमुख शहरों में बसा जैन-गुजराती-मारवाड़ी व्यापारी वर्ग पूरा व्यवहार मराठी में ही करता है। महाराष्ट्र के मराठवाड़ा विदर्भ, कोंकण व खानदेश विभागों में बसे शेतवाल, बघेरवाल, कासार, बोगार, पल्लीवाले, नेवा, धाकड़, क़ंबोज, चतुर्थ व पंचम आदि जैन समाज की उपजातियां मराठी भाषिक हैं। इनकी मराठी अस्मिता को पूर्वसूरीयों के साहित्य का आधार प्राप्त है।[६]

प्राचीन व मध्य युगीन मराठी जैन साहित्य

प्राचीन काल में प्राकृत व संस्कृत भाषा में जैन आचार्यों ने विपुल ग्रंथ निर्मित किये। बाद में पुरानी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, तमिल, कन्नड आदि सब भाषाओं में जैन साहित्यिकों ने अमूल्य योगदान दिया। पांचवी, छठी सदी से 'महाराष्ट्री' से मराठी क्रमश: खिलने लगी। व्यवहार भाषा के रूप में उसका प्रयोग होने लगा। डॉ. केतकर कहते हैं - ग्रामीण महाराष्ट्री संस्कृति में जैन समाज ने अपना निश्चित स्थान बनाया है। स्थानिक देवताओं की सूची में जैन देव, जैन महालक्ष्मी ये नाम सम्मिलित हैं।[७]

यादव कालीन महानुभाव पंथ पर जैन वाड्.मय अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। वास्तव में ज्ञानेश्वर जी का मराठी वाड् मय मध्ययुगीन मानना चाहिए। १४५० से १८५० तक के कालखंड में जैन ग्रंथकारों की संख्या ५० से अधिक और छोटे बड़े ग्रंथ १५० से अधिक गिनने चाहिएं। इस कालखंड में भट्टारकों के पीठ तैयार हुए। कालगति पहचानकर मठाधिपतियों ने धर्म प्रसार के लिए मराठी साहित्य निर्मिती को विशेष प्रोत्साहन दिया। नागपुर, कारंजा, पैठण देवगिरी, लातुर, वाशिम, अमरावती, शिरड शहापुर, अंजनगांव-सुरजी, कोल्हापुर, कोगनोळी, नांदणी, महिगांव जैसे खास गांवों में सामाजिक आश्रय से मराठी जैन साहित्य का निर्माण हुआ। इसमें पोथियों व पुराणों का समावेश होता है। इस काल में जैन धर्म शिक्षा धर्मपीठ से ही संभव थी। पुराण, व्रतकथा, रास, खंडकाव्य, स्तोत्र, भारूड, आरती, पद, पोवाडा, लावणी जैसे सभी प्रकार जैन साहित्य में उपलब्ध है। मुख्यत: लोगों को भानेवाले व पसंद आने वाले वाड्.मय ही इस कालखंड में तैयार हुए।[८]

मराठी जैन साहित्य की प्रेरणा गुजरात के "इडर" के भट्टारक पीठ द्वारा मिली। इडर के भट्टारक भुवनकीर्ति जी के शिष्य ब्रम्हजीनदास जी ने १४५१ के आसपास ग्रंथनिर्मिती से मराठी साहित्य निर्मिती के लिए अपना शिष्यवृंद तैयार किया। इनमें शांतिदास, मेघराज, कामराज आदि समाविष्ट हैं। उपलब्ध मराठी जैन वाड् मय १५वी सदी से है। १८ से २० तक कृतियों की जानकारी होने पर भी महज ८ से १० तक कृतियां ही आज प्राप्त हैं।[९]

१६वी सदी के मराठी जैन वाड्.मय में पंडित मेघराज का यशोधर चरित्र महत्वपूर्ण है। इसी कालखंड में पंडित सुरीजन, सुदर्शन व कामराज जैसे महत्वपूर्ण कवि और चरित्रकार भी हुए। १७वीं सदी में चितामणी, गुणनंदी, पुण्यनंदी, अभयकीर्ति, महाकीर्ति, महिचंद गंगादास आदि अनेक ग्रंथकार हुए। १८वीं सदी में 'जिनसागर' विशेष आकर्षित करता है। मानतुंग आचार्य के सुविख्यात 'भक्तांबर' स्तोत्र का जिनसागर कृत मराठी भाषांतर सरस होने से उनकी तुलना पंडित कवियों में की जाती है।[१०]

भ. पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता और लेखन

भ. महावीर के पूर्व भ. पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुये यह सर्वमान्य बात है। केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात आर्यखंड में तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी ने समवशरण विहार किया। कोशलपुर, पांचालदेश, महरत देश (महाराष्ट्र), मारवाड, मगध, मालवा, अवन्ती, उज्जैनी आदि अनेक देशों में मंगल विहार के साथ धर्मोपदेश व जैन धर्म प्रसार किया।[११] डॉ. ए. एम. घाटगे (कोल्हापुर), डॉ. माधव रणदिवे (सातारा)[१२], इतिहास संशोधक धर्मानंद कोसंबी आदि ने "पार्श्वनाथ जी का चातुर्याम धर्म"[१३] इस प्रकार के जैन व जैनेतर संशोधकों के लेख पार्श्वनाथ जी के चातुर्याम धर्म के बारे में बीसवी सदी में मराठी में लिखे।

भ. पार्श्वनाथ के ऊपर मराठी साहित्य

उपलब्ध मराठी साहित्य में भ. पार्श्वनाथ व पद्मावती संबंधी साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

(अ) मेघा उर्फ मेघराज नामक कवि १६वीं सदी के प्रारंभ में ही हुये। उन्होंने 'पार्श्वनाथ भवांतर' नामक ४७ पदों का गीत लिखा। आरंभ में और अंत में अंतरिक्ष पार्श्वनाथ जी की शिरपुर अधर मूर्ति का उल्लेख है। वह मूर्ति देखकर ही उन्होंने यह रचना की होगी। पार्श्वनाथ जी को उनकी माता वामादेवी विवाह का आग्रह करती है तभी सांसारिक भोगोपभोगों का निरुपयोगित्व पढ़ाने के लिए उन्होने अपनी माता से अपने पिछले भवों की जानकारी दी, यही है 'पार्श्वनाथ भवांतर'।[१४]

(ब) तीर्थंकर स्तुति, आदि काव्य प्रकारों की तरह जैन कवियों ने 'भारुड', डफगीत मतलब शाहिरी भेदक मोड के काव्य और 'लावणीयों' की भी रचना की। १७वीं सदी के अंत में गंगाराम नामक जैन कवि ने ४७ पदों का "पार्श्वनाथ भवांतर" नामक डफकाव्य रचा। उसमें पार्श्वनाथ के पिछले ९ भवों का वर्णन किया है। असल में गुजराती होकर भी कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द जी के वे अनुयायी थे। गंगादास जी इसे 'कीर्तन'

कहते हैं। पौष मास के धार्मिक महोत्सवों में यह कीर्तन उन्होंने डफ के ताल पर किया होगा।[१५]

(स) 'पार्श्वाभ्युदय' यह जिनसेनजी का पार्श्वनाथ तीर्थंकर पर रचा काव्य है। १९६८ में ज. ने. क्षीरसागर जी ने (मुंबई) इसका मराठी अनुवाद किया। यह मूल ग्रंथ प्राकृत में है जिसकी रचना जिनसेन स्वामी जी ने ८वी सदी में की थी। 'श्री भ. पार्श्वनाथ दीक्षा कल्याण के बाद योग धारण करते हैं, यहां से लेकर उनके पूर्वभव में कमठ का जीव संबर नामक ज्योतिष्क देव होता है और अवधि ज्ञान से उन्हें दुश्मन समझकर बहुत तकलीफें देता है। इस मध्यवर्ती कल्पना पर आधारित यह काव्य है। इसमें कवि कुलगुरु कालिदास जी के मशहूर 'मेघदूत' की भी समस्यापूर्ति की है। यहाँ मेघदूत का अन्तिम चरण व स्वयं के तीन इस क्रम से पवनदूत, हंसदूत, नेमिदूत काव्य रचनाएँ की। लेकिन जिनसेन जी ने मेघदूत के सभी श्लोक समस्यापूर्ति स्वरूप आत्मसात किए और पार्श्वनाथ चरित्र पर आधारित 'पार्श्वाभ्युदय' नामक सुरस काव्य की रचना की। आखिर में जिनसेन जी का व्यक्तित्व व काल निर्णय इन विषयों की छान-बीन की है।[१६]

इसके अतिरिक्त जीवराज ग्रंथमाला सोलापुर से सन १९८३ में भ. पार्श्वनाथ की छोटी पर महत्वपूर्ण जानकारीयुक्त पुस्तक प्रकाशित की गयी। इसके लेखक पं. नरेन्द्र कुमार जयवंतसा भिसीकर है। इस पुस्तक का उद्देश्य प्रथमानुयोग शास्त्र के महत्वपूर्ण ग्रंथ व संत पुरुषों के आदर्श समाज के सामने रखना था।[१७] इस ग्रंथ के अतिरिक्त जैन साहित्य का इतिहास खंड-३, जैन ज्ञानकोश खंड-३, जिनसेन आचार्य का उत्तर पुराण, सुमती शहा सोलापुर से २४ तीर्थंकर स्तुति व पूर्णाध्य अनंत बोपलकरजी का पार्श्वनाथ पुराण, सन्मती, जैनबोधक, प्रगती व जयविजय आदि अनेक जैन मराठी मासिक व साप्ताहिक पत्रिकाओं में प्रासंगिक लेख छपे जिनसे तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी की जानकारी मिलती है।

भ. पार्श्वनाथ जी की रक्षक देवी पद्मावती महाराष्ट्र के जनमानस में गहरी बैठी है। एक भी जैन मन्दिर ऐसा नहीं है जहां पद्मावती की मूर्ति

न हो। इसी वजह से सारे साहित्य में पद्मावती के अनुषंगिक पार्श्वनाथ की स्तुति है।

१८वीं सदी का जिनसागरजी का "कैको" नामक भारूड जैन कवियों के मराठीपन पर विशेष प्रकाश डालता है। "कैको" का मतलब है भविष्य बताने वाली व केशवस्वामी जी के भारूड से परिचित "कैकाई"। इस भारूड में कर्नाटक के "हुमच्य" गांव की पद्मावती नामक देवी भविष्यवाणी करती दिखती है। (१२वी सदी)

पार्श्वनाथ देव आम्हां, हुमंस माणा गांव।
दुरील माझा देस, माझ पद्मावती नाव।
सगुण सांगावया-आली दादा, ऐक माझा भाव।
जुगुलांची सृष्टी दादा, नव्हत ठाव गांव।

देवी धार्मिक लोक गायिका का रूप ले यह संकेत महाराष्ट्र के जोग-जोगणीयों के गीतों में मिलता है। जिनसागरजी की "कैको" भी धर्मप्रसार के लिए बहुत आगे निकल गयी है।

जैन कासार समाज की अस्मिता है "कालिका पुराण"। लातूर के भट्टारक महिचंद्र जी के शिष्य देवेंद्र कीर्तिजी ने तत्कालीन धार्मिक सामाजिक व राजकीय परिवर्तन का वर्णन करने वाला अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ १८वी सदी के प्रारंभ में ही लिखा। कालिका का मतलब है पद्मावती, जो आज भी कासार जैन समाज की रक्षक देवता के रूप में महाराष्ट्र में वंदनीय है। इस ग्रंथ में ४८ अध्याय हैं। ओवी संख्या ८ हजार से ऊपर है। शिरहाडपुर जैन के मल्लीनाथ जैन मंदिर में इसकी हस्तलिखित प्रति है। मुसलमानों के आक्रमण से कर्नाटक व महाराष्ट्र राज्यों में कैसी उथल-पुथल मची और जैन धर्म पर इसका कैसे विपरीत असर हुआ यह इस ग्रंथ से जाना जा सकता है। जैन-लिंगायत झगड़े व उनका न्यायदान मुस्लिम सुल्तान करते थे यह भी जानकारी मिलती है।[१९]

भ. पार्श्वनाथ संबंधी मराठी हस्तलिखित प्रतियाँ

	ग्रंथ	कर्ता	गांव	हस्तलि. क्र.
१.	पद्मावती आरती	रामकिर्ती	नागपुर	५
२.	पद्मावती पाळणा	देवेंद्रकिर्ती (शिष्य)	जिंतुर	५
३.	पार्श्वनाथ आरती	तानु पंडित	शिरड	३
४.	पार्श्वनाथ आरती	पद्मकिर्ती	सोलापूर	४
५.	पार्श्वनाथ आरती	राया	शिरड	१
६.	पार्श्वनाथ भवांतर	गंगादास	नागपुर	५
७.	पार्श्वनाथ भवांतर	मेघराज	शिरड	३

इसके अलावा जैनेतरों का मराठी साहित्य का अध्ययन करने पर उपरोल्लेखित लेखकों के सिवा पार्श्वनाथ जी पर विशेष साहित्य नहीं पाया जाता। पूना के डेक्कन इन्स्टिटयूट व कुछ और जगहों के प्राचीन इतिहास संशोधन में पार्श्वनाथ जी का उल्लेख पाया जाता है। मराठी अभ्यासक्रम में पार्श्वनाथ २३ वे तीर्थंकर थे, वे महावीर के पूर्व हुए और उनका "चातुर्याम धर्म" इतना ही उल्लेख मिलता है।

मूर्ति व भ. पार्श्वनाथ की लोकप्रियता

विपुल मूर्तिकला यह जैनों की एक और विशेषता है। पाषाण मूर्तियों की भग्नता की आशंका से प्राचीन काल से ही जैनों ने धातु की मूर्तियाँ बनायीं। यही मूर्तियां आज महाराष्ट्र में पार्श्वनाथ जी का स्थान व लोकप्रियता, ऐतिहासिक दृष्टि से साबित कर रही हैं। कलाशैली की दृष्टि से इन मूर्तियों पर द्रविड कला की छाप दिखाई पड़ती है। मूर्ति पर का नाग फण व दूसरे तीर्थंकरों से अलगता में पार्श्वनाथ जी की मूर्तियां संख्या में अधिक पायी जाती हैं। इसमें पद्मावती की लाकप्रियता का हिस्सा भी अधिक है।

१. मुंबई वस्तु संग्रहालय की पार्श्वनाथ जी की धातु मूर्ति मौर्य कालीन मानी जाती है।

२. एलोरा की गुफाओं में पार्श्वनाथ जी की मनोरम मूर्ति है।

३. नासिक, तेरापुर, ऐहोळ, अंकाई-टंकाई आदि अनेक प्राचीन गुफाओं, लेणों में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की मूर्तियां दिखती हैं।

४. सोलापूर से कुंथलगिरी मार्ग पर उस्मानाबाद के पास धाराशिव है जिसके नजदीक ही तेरागांव है जहाँ प्राचीन जिन मंदिरों में भ. पार्श्वनाथ जी की मूर्ति है। कुल चार गुफाओं में पार्श्व प्रतिमाएं हैं। हाल ही में कुंथलगिरि में पार्श्वनाथ की विशालकाय मूर्ति स्थापित की गयी है।

५. कुंडल (सांगली) में कलीकुंड पार्श्वनाथ मूर्ति है जिस पर तीर्थराज कुंडल नामक पुस्तक बाबूराव भरमा मगदूम ने मराठी में प्रकाशित की है।

६. शिरपुर (जि. अकोला) अंतरिक्ष पार्श्वनाथ अधर पार्श्व मूर्ति पद्मासनस्थ है। हाथ का तलवा नीचे से सहज में जाता है।

७. चिंतामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति कचनेर में है।

८. वशी स्थान की वशी पार्श्वनाथ मूर्ति (इस्लामपुर- महाराष्ट्र) के पास है।

इनके अतिरिक्त अनेकानेक मंदिरों में पार्श्वनाथ की मूर्तियां पायी जाती हैं।

निष्कर्ष :

उत्तर से दक्षिण आने वाले व्यापारी मार्गों पर प्रमुखत: विख्यात पार्श्वनाथ की मूतियां पायी जाती हैं। इससे यह मालूम होता है कि दक्षिण में यवनों के आक्रमण से पहले उ. महाराष्ट्र में बड़े पैमाने पर जैन धर्म प्रसार और पार्श्वनाथ का महत्व रहा। कालिका पुराण से भी इस बात का

पता चलता है। महाराष्ट्र व कर्नाटक में प्राचीन काल से पार्श्वनाथ की मूर्तियां गुफाओं में और मंदिरों में पायी जाती हैं।

मध्ययुगीन स्थित्यंतर में साहित्य नष्ट होने की संभावना नकारी नहीं जा सकती है। इसीलिए पार्श्वनाथ पर अत्याधिक अधूरा-आधा साहित्य मिलता है। महाराष्ट्र में पार्श्वनाथ जी की लोकप्रियता का एक और कारण भी कहा जा सकता है वह है स्त्री देवताओं की आदिशक्ति के रूप में की जानेवाली पूजा। भवानी, अंबाबाई, यल्लम्मा आदि देबियों का समाज पर पड़े प्रभाव से जैन महिलाओं में देवी के रूप में पद्‌मावती की घर घर की जानेवाली अर्चना, पद्‌मावती की आरती और स्तुतिस्तोत्र सारे जैन उपविभागों में लोकप्रिय है। मध्ययुगीन जैन आचार्यों ने धर्मप्रसार व लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए "कैको" भारूड और डफ काव्यों की रचना की होगी।

आज तक उत्तर के जैनों के मूल स्थानों पर अधिक संशोधन व साहित्य मिला है। दाक्षिणात्य भाषाओं में यह प्रमाण प्रादेशिक भाषा तक ही सीमित रहा है। महाराष्ट्र में जैन संस्कृति का प्रगल्भ स्वरूप प्रकट करने वाली वास्तुकला, शिल्पकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि कलाओं का संशोधनात्मक व शास्त्रीय स्तर पर अध्ययन होना आवश्यक है। ऐसा लगता है कि तब तक शायद प्रादेशिक जैन साहित्य को प्रतिष्ठा नहीं मिल पायेगी।

अंबाबाई, भवानी, यल्लम्मा, रेणुका देवियों के मंदिर शायद पहले पद्‌मावती देवी के ही होंगे ऐसा विश्वास जैनधर्मी रखते हैं। कराड (सातारा जिला) में उत्खनन में पायी गयी मूर्ति पर पद्‌मावती के चिन्ह दिखाई देते हैं। इस पर संशोधन द्वारा अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

संदर्भ

१. दांडेकर गो.नि., "जैन तत्वज्ञान व ज्ञानेश्वर", भा. प. भंगुडकर संपादित महाराष्ट्र व जैन संस्कृति में प्रकाशित, मई १९८८, पृष्ठ ९.

२. पंडिता सुमतिबाई शहा - (संपादक) - पूर्णार्घ्य, सोलापुर वीर निर्वाण संवत २५०४, पृष्ठ ३३०.

३. डॉ. संगवे विलास, दक्षिण भारत जैन सभेचा इतिहास, १९७६, पृष्ठ २ से १०.

४. सरदार ग.बा., संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति, पृष्ठ २३.

५. डॉ. ढेरे रा.चि., जैनांचे मराठी वाङ्मय, मंगुडकर मा.प., उपरोक्त, पृष्ठ १९२.

६. प्रा. आकोळे सुभाष चंद्र - प्राचीन व मध्ययुगीन जैन साहित्य मंगुडकर (संपा) उपरोक्त, पृष्ठ ९.

७. डॉ. केतकर, प्राचीन महाराष्ट्र खंड १९२, पृष्ठ २५४-५५

८. प्रा. अक्कोळे, उपरोक्त, पृठ ९-१०.

९. वही.

१०. प्रा. अक्कोळे, प्राचीन मराठी जैन साहित्य, सुविचार प्रकाशन, नागपुर, १९६८, पृष्ठ १५ से ११७.

११. पं. भीसीकर नरेंद्र कुमार जयवंतसा, भगवान पार्श्वनाथ, सोलापुर, १९०३, पृष्ठ ११७.

१२. डॉ. एम.एम. घाटगे यांनी भगवान पार्श्वनाथ यांची शिकवण व ऐतिहासिक महत्व असा लेख अर्धमागधीमध्ये लिहिला त्याचे मराठी भाषांतर, डॉ. माधव रणदिवे, सातारा यांनी 'सुप्रभात', सितंबर १९५१.

१३. कोसंबी, धर्मानन्द, धर्मानंद स्मारक ट्रस्ट, मुंबई, १९४९.

१४. डॉ. प्रा. आक्कोळे, उपरोक्त पृष्ठ २९-३०.

१५. डॉ. ढेरे र.चि., उपरोक्त, पृष्ठ ४, डॉ. आक्कोळे उपरोक्त पृष्ठ ६७-६८.

१६. क्षीरसागर जे.एन. - पार्श्वाभ्युदय, अनुवादित मराठी पुस्तक, वित्तचंद माणिकचंद गांधी, उस्मानाबाद १९६८.

१७. पंडित-भिसीकर, न.ज., उपरोक्त.

१८. ढेरे न.चि. उपरोक्त, पृष्ठ ४.

१९. डॉ. आक्कोळे सुभाषचन्द्र, उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ २६८

२०. वही, पृष्ठ क्र. २९१ से २९६

२१. साधना दिवाली अंक १९७४, मंगुडकर (संपा) महाराष्ट्र आणि जैन संस्कृति, १९८८, पृष्ठ २५.

२२. पंडित सुमतिबाई शहा, पूर्णार्घ्य, उपरोक्त, पृष्ठ ६००.

अपभ्रंश साहित्य में पार्श्वनाथ

– प्रो. डॉ. लालचन्द जैन*

भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हैं[1]। भारतीय दार्शनिकों, विशेषकर डॉ. राधाकृष्णन, एस.एन. दास गुप्ता, एम. हिरिमन्ना, डॉ. एन. के. देवराज, चक्रधर शर्मा, पारसनाथ द्विवेदी, ने सार्वभौमिक और त्रिकालिक सत्तावान महापुरुष मानकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इनमें से कतिपय मनीषियों के विचार प्रस्तुत हैं।

डॉ. राधाकृष्णन की मान्यता है कि 'पार्श्वनाथ ईसा से ७७६ वर्ष पूर्व निर्वाण को प्राप्त हुए थे'[2]। एस.एन. दास गुप्ता ने भारतीय दर्शन के इतिहास[3] में लिखा है कि 'भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती पार्श्व, जो अंतिम से पहले तीर्थंकर थे, महावीर से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए कहे जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र से सूचित होता है कि पार्श्व सम्भवतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।' एस. हिरियन्ना[4] ने पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि 'इनमें से पार्श्वनाथ को, जो वर्धमान से पहले हुए थे और जिन्हें आठवीं शताब्दी ई. पू. का माना जाता है, एक ऐतिहासिक पुरुष माना जा सकता है। इस बात के प्रमाण हैं कि उनके अनुयायी वर्धमान के समकालीन थे।' चक्रधर शर्मा[5] के विचार हैं कि 'तेइसवें तीर्थंकर पारसनाथ निःसंदेह ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो आठवीं या नौवी शती ई. पू. हुए थे।' पारसनाथ द्विवेदी ने भारतीय दर्शन[6] में लिखा है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। इनका जन्म महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व ईसवी सन् के आठ सौ वर्ष पूर्व वाराणसी के राजा अश्वपति के यहां हुआ था। ३० वर्ष की अवस्था में राजसी वैभव का परित्याग कर सन्यास ले लिया और घोर तपस्या की। ७० वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार किया। चार महाव्रत अहिंसा, सत्य, अनस्तेय और अपरिग्रह पर विशेष जोर दिया।'

* प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के उपर्युक्त उद्गारों से सिद्ध है कि भगवान् पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इनको ऐतिहासिक महापुरुष मानने का कारण यह भी है कि हमारे शास्त्रों में भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की तरह इनके जन्मादि का कल्पनातीत संख्या में वर्णन नहीं किया गया है। आचार्य यतिवृषभ, गुणभद्र प्रभृति ने बुद्धिग्राह्य संख्या में पार्श्वनाथ के संबंध में कथन किया है। जैसे यतिवृषभ ने कहा है कि भगवान् नेमिनाथ के जन्म के ८४६५० वर्ष बीतने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था[७], और पार्श्वनाथ के उत्पन्न होने के २७८ वर्ष बीतने के बाद भगवान् महावीर का जन्म हुआ था[८] एवं इनकी आयु १०० वर्ष की थी और ये ९ हाथ प्रमाण शरीर वाले थे।[९]

भारतीय विद्वानों की तरह पाश्चात्य मनीषियों ने भी भगवान् पार्श्वनाथ को महापुरुष मानकर उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की है। इस सम्बन्ध में प्रो. प्रफुल्ल कुमार मोदी का कथन है कि 'पार्श्वनाथ के जीवन की इन्हीं घटनाओं को सामने रखकर विद्वानों ने पार्श्वनाथ के संबंध में अन्वेषण कार्य किया है। जिसके फलस्वरूप अब यह निश्चित है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यह सिद्ध करने का श्रेय जेकोबी को है। उन्हों ने एस.बी. इ. के ४५वें ग्रन्थ की भूमिका के ३१ से ३५वें पृष्ठों पर इस संबंध में कुछ सबल प्रमाण दिये हैं, जिनके कारण इस संबंध में अब किसी विद्वान को शंका नहीं रह गई है। डॉ. जेकोबी के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी इस विषय में खोजबीन की है और अपना मत प्रस्तुत किया है। इन विद्वानों में से प्रमुख हैं कौलबुक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड टामस, डॉ. बेलवेकर, दास गुप्ता, डॉ. राधा कृष्णन, शार्पेन्टियर, गेरीनोट, मजूमदार, ईलियट तथा पुसिन[१०]।'

इस प्रकार इतिहास प्रसिद्ध और विराट व्यक्तित्व के महार्णव भगवान् पार्श्वनाथ की जीवनगाथा विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं में रच कर मनीषी चिन्तकों ने अपनी श्रद्धा प्रकट की है। पार्श्वनाथ के जीवन से आकर्षित होकर अपभ्रंश भाषा में विक्रम की दसवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक पुराण, काव्य, स्तोत्र आदि लिखे जाते रहे हैं। इनके

लेखकों में से आचार्य पुष्पदन्त, देवदत्त, सागरदत्त, आ. पद्मकीर्ति, विवुध श्रीधर देवचन्द्र, रइधु, असवाल, तेजपाल और सागरदत्तसूरि के नाम उल्लेखनीय हैं। पार्श्वनाथ के संबंध में इनकी कृतियों में महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया गया है जिससे उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इसलिए उक्त ग्रंथकारों के ग्रन्थों का संक्षिप्त आलोडन करना आवश्यक है।

१. आचार्य पुष्पदन्त कृत महापुराण

वि. सं. १०वी शताब्दी के आचार्य पुष्पदन्त ने १०२ संधियों में अपभ्रंश भाषा में महापुराण की रचना की। इस की ९३ और ९४वी संधि में भगवान् पार्श्वनाथ के विगत और वर्तमान भवों का वर्णन किया गया है[११]। यह वर्णन गुणसेन आचार्य के उत्तर पुराण के आधार पर किया हुआ प्रतीत होता है। अत: इसकी कथावस्तु परम्परागत है।

इसकी ९३वी संधि में बतलाया गया है कि पोदनपुर के राजा अरविन्द के मंत्री विश्वभूति की पत्नी के गर्भ से कमठ और मरुभूति नामक दो पुत्र हुए थे। अपने छोटे भाई विश्वभूति की पत्नी वसुन्धरा के साथ गुप्त संबंध स्थापित करने के कारण मरुभूति द्वारा शिकायत किये जाने पर राजा ने उसे सिर मुडवा कर और गधे पर चढ़ा कर नगर में घुमवा कर अपने राज्य से निर्वासित करने का दंड दिया था। कमठ ने वन में जाकर शैवधर्म के अनुयायियों से दीक्षा ले ली। मरुभूति को अपने बड़े भाई के निर्वासन का दु:ख हुआ। राजा के मना करने पर भी अपने बड़े भाई से क्षमा मांगने और घर वापिस लाने के लिए मरुभूति कमठ के पास गया। कमठ ने क्रोधित होकर उसके सिर पर चट्टान से आघात कर उसे मार डाला। मरुभूति मर कर वज्रघोष हाथी हुआ। इस पहले भव से घटी घटना के कारण कमठ मरुभूति के प्रति वैर-बंध कर दस भवों तक कमठ के जीव ने कुक्कुट सर्प, अजगर, कुरंग भील, सिंह, महिपाल और ज्योतिष देव के रूप में, मरुभूति के जीव हाथी, रश्मिवेग मुनि, वज्रनाभि मुनि, आनन्द मुनि और पार्श्वनाथ पर क्रूरता पूर्वक घात और उपसर्ग किये। परिणामस्वरूप कमठ के जीव को तीन बार नरक जाना पड़ा। मरुभूति ने क्रमश: आत्मोत्थान

किया। इसलिए सहस्रार, अच्युत, मध्यग्रैवेयक और प्राणत स्वर्गों में उत्पन्न होकर स्वर्गों के सुखों को भोगते हुए वे तीर्थंकर हुए और अन्त में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उक्त भवों का वर्णन पुष्पदन्त ने ९४वी संधि में किया है।

पुष्पदन्त ने उक्त कथा के प्रसंग में पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और निर्वाण सम्बन्धी महत्वपूर्ण तिथियों का उल्लेख किया जिनकी चर्चा यथा स्थान की जायेगी।

२. देवदत्त कृत पासणाहचरिउ

डॉ. देवेन्द्र कुमार ने अपने ग्रंथ 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ'[१२] में उल्लेख किया है कि अपभ्रंश भाषा के ख्याति प्राप्त देवदत्त ने 'पासणाह चरिउ' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जो अब अनुपलब्ध है। जंबूस्वामी चरिउ से ज्ञात होता है कि देवदत्त 'वीर कवि' के पिता और लावर्ड गोत्री थे। इन्हों ने 'वरंगचरिउ' का उद्धार किया था[१३]। लेकिन जंबूस्वामि चरिउ में 'पासणाहचरिउ' का उल्लेख नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि वीर कवि के पिता देवदत्त ने पासणाहचरिउ की रचना नहीं की। यदि उन्होंने 'पासणाहचरिउ' की रचना की होती तो उसका भी उल्लेख अवश्य हुआ होता। इस से सिद्ध होता है कि 'पासणाह चरिउ' के प्रणेता 'वरंगचरिउ' के उद्धारक देवदत्त से भिन्न हैं।

३. सागरदत्त सूरि कृत पास पुराण

वि.सं. १०७६ में सागरदत्त सूरि ने ग्यारह संधियों में पास पुराण की रचना की थी, जो अद्यतन अनुपलब्ध है।[१४]

४. आचार्य पद्मकीर्ति कृत पासणाहचरिउ

वि.स. ११३४ (शक सं. ९९९) में पद्मकीर्ति ने 'पासणाहचरिउ' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके संबंध में केवल इतना ही ज्ञात है

कि ये एक मुनि थे और इनके गुरू का नाम जिणसेन (जिनसेन) था। डॉ. प्रफुल्ल कुमार मोदी ने इन्हें सप्रमाण दक्षिण का माना है।[१५]

पदम्कीर्ति ने अपनी इस कृति में भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र का वर्णन विविध घटनाओं सहित १८ संधियों, ३१० कड़वकों और ३३२३ से कुछ अधिक पंक्तियों में किया, ऐसा उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है।[१६] पहली संधि से सातवी संधि तक भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ के विगत भवों के वर्णन के पश्चात् पार्श्वनाथ के वर्तमान भव का विशद विवेचन, शेष सन्धियों में किया गया है। आठवीं संधि में पद्मकीर्ति ने लिखा है कि वैजयन्त स्वर्ग से च्युत होकर कनक प्रभदेव वाराणसी के राजा हयसेन की रानी वामा के गर्भ में अवतरित हुआ। नौवीं संधि में १६ वर्ष की आयु तक की गई भगवान् पार्श्वनाथ की बाल क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है। जब पार्श्व को मालूम हुआ उनके मामा रविकीर्ति के सहायतार्थ यवनराज से युद्ध करने के लिए उनके पिता जा रहे हैं तो उन्हें रोक कर पार्श्वनाथ पिताश्री से आदेश लेकर युद्ध करने चल पड़ते हैं। भयंकर युद्ध कर पार्श्वनाथ यवनराज को बन्दी बना लेते हैं। इसका वर्णन पद्मकीर्ति ने ११वी और १२वी संधि में विस्तार से किया, जो इनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य के पार्श्व संबंधी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। तेरहवीं संधि में रविकीर्ति के द्वारा रखे गये इस प्रस्ताव को पार्श्वनाथ स्वीकार कर लेते हैं कि प्रभावती नामक राजकुमारी के साथ विवाह कर लेंगे। इसके पश्चात् तापसों द्वारा जलाये जाने वाली लकड़ी में से अधजले सर्प को पार्श्वनाथ द्वारा मंत्र सुनाने, मंत्र के प्रभाव से मरे उस नाग को पाताल में वन्दीवर देव होने, सर्प की मृत्यु के दृश्य को देखकर पार्श्व को वैराग्य होने और जिन दीक्षा आदि का वर्णन किया गया है।

भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा तप, संयम और ध्यान करने, कमठ के जीव असुरेन्द्र द्वारा उनपर भयंकर उपसर्ग करने, धरणेन्द्र द्वारा उन उपसर्गों को दूर करने, पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान उत्पन्न होने आदि का वर्णन इस ग्रंथ की १४वीं संधि में हुआ है। १५वीं संधि में इन्द्र द्वारा समवशरण की रचना करने, हस्तिनापुर के राजा स्वयंभू का जिन दीक्षा लेकर प्रथम गणधर होने,

स्वयंभू की राजकुमारी प्रभावती (जो पूर्व भव के मरुभूति की वसुन्धरी नामक पत्नी थी) द्वारा आर्यिका दीक्षा लेकर संघ की प्रधान आर्यिका होने आदि का उल्लेख हुआ है। शेष संधियों में भगवान् पार्श्वनाथ के विहार, उपदेश आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है।

५. विबुध श्रीधर कृत पासणाहचरिउ

विक्रम की १२वी शताब्दी में उत्पन्न विबुध श्रीधर (प्रथम) ने अपभ्रंश भाषा में वि.सं. ११८९ में अगहन माह के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को दिल्ली में 'पासणाहचरिउं' की रचना की थी, ऐसा उन्होंने अपने 'वड्ढमाणचरिउ' और 'पासणाहचरिउ' में उल्लेख किया है।[१७] यह ग्रन्थ २५०० गाथा प्रमाण है, जो १२ संधियों और २३८ कड़वकों में समाप्त हुआ है।[१८] बुध गोल्ह और वील्हा देवी के पुत्र तथा 'पासणाहचरिउ' के अलावा 'वड्ढमाण चरिउ' और चंदप्पह चरिउ' के सृजक[१९] कवि विबुध श्रीधर ने इस ग्रन्थ की रचना परम्परा से प्राप्त पार्श्वनाथ के कथानक के आधार पर की है। इसमें भ. पार्श्व के वर्तमान भव का वर्णन प्रारम्भ में और विगत भवों का वर्णन अंतिम संधियों में किया गया है। विबुध श्रीधर का यह ग्रन्थ आजतक अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित पाण्डुलिपियां[२०] निम्नांकित ग्रन्थ भंडारों में सुरक्षित है :

१. आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर
२. अग्रवाल दि. जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा

६. देवचन्द्र कृत पासणाहचरिउ

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार कवि देवचन्द्र वि. सं. १२वी शताब्दी के कवि, मूल संघ गच्छ के विद्वान और वासवचन्द्र के शिष्य थे।[२१] गुदिज्ज नगर के पार्श्वनाथ मंदिर में रचित महाकाव्य में भगवान् पार्श्वनाथ के वर्तमान और पूर्व भवों को ११ सन्धियों और २०२ कड़वकों में विभाजित किया है।[२२]

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है[२३]। वि.सं. १५४९ में लिखित इस ग्रन्थ की एक प्रति पं. परमानन्द शास्त्री के निजि संग्रह में और वि. सं. १५२० में लिखित एक प्रति 'पासपुराण' के नाम से सरस्वति भवन, नागौर में सुरक्षित है[२४]।

७. महाकवि रइधु कृत पासणाहचरिउ

प्रो. डॉ. राजा राम जैन के अनुसार हरिसिंह और विजय श्री के तीसरे पुत्र तथा वि. सं. १४५७ से १५३६ के महाकवि और गोपचल (ग्वालियर) को अपने जन्म से पवित्र करने वाले रइधु ने ३७ ग्रन्थों की रचना की थी[२५]। इन्होंने अपभ्रंश भाषा में 'पासणाहचरिउ' नामक ग्रन्थ भी रचा। सात संधियों और १३८ कड़वकों वाले इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में भगवान् पार्श्वनाथ के वर्तमान भव का और अन्त में पूर्व भवों का वर्णन उत्तरपुराण के आधार पर किया है।[२६]

प्रथम संधि में वाराणसी के राजा अश्व और रानी वामा देवी के वैभव का वर्णन करने के पश्चात् दूसरी संधि में भगवान् पार्श्वनाथ के गर्भ और जन्म कल्याणक का विवेचन करते हुए कहा गया है कि बैशाख कृष्ण द्वितिया को भ. पार्श्वनाथ वामा देवी के गर्भ में अवतरित हुए थे और पौष कृष्ण एकादशी के शुभ नक्षत्र में उनका जन्म हुआ था। इन्द्र ने इनका नाम पार्श्वनाथ रखा था। इसके पश्चात् बतलाया गया है कि भ. पार्श्वनाथ ने ३० वर्ष तक बाल क्रीड़ायें की। तीसरी संधि में कुश-स्थल के राजा अर्ककीर्ति की ओर से पार्श्व द्वारा यवनराजा से जीते गये युद्ध, प्रभावती के साथ विवाह कराने संबंधी अर्ककीर्ति के प्रस्ताव का पार्श्व द्वारा स्वीकार किये जाने, तापसों द्वारा जलाये जाने वाले वृक्ष के कोटर के मध्य से निकले अधजले सर्पयुगल[२७] को उनके द्वारा मंत्र दिये जाने, उनकी मृत्यु से पार्श्वनाथ को वैराग्य होने का वर्णन किया गया है[२८]। इस प्रसंग में अनुप्रेक्षाओं का जैसा विशद् वर्णन किया गया है वैसा इनके पूर्ववर्ती किसी 'पासाणाहचरिउ' में उपलब्ध नहीं है। चौथी संधि में प्रमुख रूप से पार्श्वनाथ द्वारा ली गई जिन दीक्षा, संवर देव द्वारा किये गये घोर उपसर्गों को धरणेन्द्र और पद्मावती द्वारा दूर करने, चैत्र माह के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी और शुभ

नक्षत्र में भ. पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान प्राप्त होने[२९], संवरदेव द्वारा क्षमा मांगने[३०] आदि का वर्णन किया गया है। शेष संधियों में पार्श्वनाथ के विहार, उपदेश, पूर्व भवान्तरों, सम्मेद शिखर पर श्रावण् शुक्ला सप्तमी को निर्वाण होने का विवेचन उपलब्ध है।[३१]

८. कवि असवाल कृत पासणाहचरिउ

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने ऊहापोह द्वारा इनका समय वि. की १५वीं शताब्दी सुनिश्चित किया है। गोलाराड वंश में लक्ष्मण के पुत्र के रूप में उत्पन्न बुध असवाल ने लोणासाहु के अनुरोध से अपने ज्येष्ठ भाई सोणिक के लिए अपभ्रंश भाषा में भ. पार्श्वनाथ के विगत और वर्तमान भव संबंधी घटनाओं को काव्य के रूप में निबद्ध किया था।[३२] बुध असवाल ने अपने 'पासणाहचरिउ' को १३ संधियों में विभंक्त किया है। इसकी कथावस्तु परम्परागत है। यह ग्रन्थ अद्यतन अप्रकाशित है। डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री के उल्लेखानुसार इस ग्रंथ की १५० पत्रों वाली अपूर्ण पाण्डुलिपि की एक प्रति श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा में विद्यमान है।[३३]

९. तेजपाल कृत पासपुराण

वि.सं. १५०६ से सं. १५१६ के मध्य जन्म लेने वाले और ताल्हडम साहु के पुत्र कवि तेजपाल ने संभवणाह चरिउ और वरंग चरिउ के अलावा पासणाह पुराण की रचना की थी।[३४] यह एक खण्डकाव्य है, जिसकी रचना पद्धड़िया छन्द में हुई है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस संबंध में विशेष परिचय दिया है। यह ग्रंथ आजतक अप्रकाशित है। डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री के अनुसार इसकी एक प्रति आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर और एक प्रति बड़े धड़े का दिगम्बर जैन मंदिर, अजमेर में सुरक्षित है।[३५]

१० पासजिण जंमकलसु

इसके रचयिता अज्ञात हैं। इस अप्रकाशित ग्रन्थ की ३५०-३५१ पत्र वाली पांडुलिपि खेतरवसी भण्डार, पाटन में उपलब्ध है।[३६]

११. पार्श्वनाथ भवान्तर

जयकीर्ति द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।[३७]

१२. सागरदत्त सूरि कृत पासपुराण

सागरदत्त सूरि के पासणाह ग्रंथ का उल्लेख डॉ. देवेन्द्र कु. शास्त्री ने किया है[३८]। न तो यह रचना उपलब्ध है और न रचनाकार के संबंध में कोई जानकारी प्राप्त है।

उपलब्ध पासणाहचरिउ के आधार पर उन महत्वपूर्ण घटनाओं का विवेचन करना आवश्यक है जो उन्हें एक ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध करती हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ के पूर्व भव

भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ के दस भवों का वर्णन पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति और रइधु ने विस्तार से किया है। उनके पूर्व भवों में उनके नामों के संबंध में उनमें मतवैषम्य भी है। पहले भव में पार्श्वनाथ के जीव को विश्वभूति और कमठ के जीव को कमठ कह कर अपभ्रंश के उक्त महाकवियों ने उत्तरपुराण का अनुकरण किया है। दूसरे भव में पार्श्वनाथ के जीव को पुष्पदन्त ने वज्रघोष हस्ति, आ. पद्मकीर्ति ने अशनिघोष हस्ति तथा रइधु ने पविघोष करि और इस भव में कमठ के जीव को एक स्वर से उन्होंने कुक्कुट सर्प होने का उल्लेख किया है। तीसरे भव में पार्श्वनाथ के जीव को एक सहस्रार कल्प का देव और कमठ को धूमप्रभ नरक का जीव लिख कर आचार्य गुणभद्र का पुष्पदन्त आदि ने अनुकरण किया। केवल पद्मकीर्ति ने कमठ के जीव को नरक गया लिखा है, नरक का नाम नहीं दिया। चौथे भव में भगवान् पार्श्वनाथ के जीव को पुष्पदन्त ने विद्युतवेग और तडिन्माला का पुत्र रश्मिवेग, पद्मकीर्ति ने विद्युतगति और मदनावली का पुत्र किरणवेग एवं रइधु ने अशनिगति और तडितवेग का पुत्र

भव में पुष्पदन्त आदि ने पार्श्व के जीव को अच्युत कल्प का इन्द्र और कमठ के जीव को पुष्पदन्त ने तमभ्रम नरक में, पद्मकीर्ति ने रौद्र नरक में और रइधु ने पंचम नरक में जन्म लेने का उल्लेख किया। छठे भव में पार्श्वनाथ पुष्पदन्त के अनुसार वज्रवीर्य राजा और विजया रानी के वज्रबाहु चक्रवर्ती पुत्र थे। पद्मकीर्ति ने वज्रवीर्य और लक्ष्मीमति तथा रइधु ने वज्रवीर्य और विजया का पुत्र वज्रनाभ होना बतलाया है। कमठ के इस भव के जीव का नाम पुष्पदन्तानुसार भील कुरंगक और शेष कवियों के अनुसार शबर कुरंशक था। सातवें भव में पार्श्वनाथ के जीव को पुष्पदन्त ने मध्यम ग्रैवेयक का एवं पद्मकीर्ति तथा रइधु ने ग्रैवेयक का देव कहा है। पुष्पदन्त और पद्मकीर्ति ने इस भव में कमठ के जीव को नरक जाने का उल्लेख किया जबकि रइधु ने अंतिम नरक में जाना माना है। आठवें भव में पार्श्व को पुष्पदन्त ने गुणभद्र की तरह वज्रबाहु और प्रभंकरी का पुत्र आनन्द मण्डलेश्वर, पद्मकीर्ति ने कनकप्रभ चक्रवर्ती और रइधु ने आनन्द चक्रवर्ती कहा है। इस भव में कमठ के जीव को सिंह होना लिखा है। पुष्पदन्त इसके अपवाद हैं। नौवें भव में पार्श्वनाथ को पुष्पदन्त ने प्राणत कल्प का, पद्मकीर्ति ने वैजयंत का और रइधु ने चौदहवें कल्प का देव कहा है जबकि कमठ के जीव को नरक गामी, पद्मकीर्ति ने रौद्र नरक और रइधु ने धूम प्रभ नरक गामी बतलाया है। दसवें भव में कमठ को पुष्पदन्त ने महिपाल नामक राजा और पार्श्व का नाना कहा है। पद्मकीर्ति ने उसे तापस और रइधु ने कमठ कहा है।

पार्श्व के माता–पिता

भगवान् पार्श्वनाथ के माता-पिता के नाम के संबंध में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। महाकवि पुष्पदन्त[३९] ने गुणभद्र[४०] की तरह पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। आ. पद्मकीर्ति ने उनके पिता का नाम हयसेन कह कर आ. यतिवृषभ का अनुकरण किया है।[४१] किन्तु रइधु ने उनके पिता का नाम अश्वसेन लिखा है[४२]। उनकी माता को पद्मकीर्ति और रइधु ने न तो पुष्पदन्त की तरह ब्राहमी और न यतिवृषभ

की तरह वर्मिला नाम दिया। इन दोनों ने उनका नाम वामा देवी लिखा है।[४२]

पार्श्व की जन्म भूमि

पुष्पदन्त आदि सभी आचार्यों ने पार्श्वनाथ की जन्म भूमि वाराणसी मानी है। जैन धर्म की दोनों परम्पराऐं आज भी भेलूपुर, वाराणसी को उनकी जन्मभूमि मानती हैं।

पार्श्व की जन्म तिथि

भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मतिथि के संबंध में आचार्यों में मतभेद नहीं है। आचार्य पद्मकीर्ति ने यद्यपि तिथि का उल्लेख नहीं किया, किन्तु आ. गुणभद्र[४४] की तरह माना है कि भ. नेमिनाथ के ८३७५० वर्षों बाद शुभ नक्षत्र योग में पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था।[४५] उल्लेखनीय है कि यतिवृषभ[४६] ने८४६५० वर्ष का अन्तराल भ. नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के मध्य माना है। आ. पुष्पदन्त और रइधु[४७] ने यतिवृषभ और गुणभद्र[४९] का अनुकरण करते हुए पौष कृष्ण एकादशी को शुभ नक्षत्र में प्रातःकाल भ. पार्श्व का जन्म होना माना है। किन्तु यतिवृषभ की तरह विशाखा नक्षत्र में उनके जन्म होने का किसी भी पासणाहचरिउ में उल्लेख नहीं हुआ है।

पार्श्व का वंश और गोत्र

आ. पद्मकीर्ति ओर रइधु को छोड़कर आ. पुष्पदन्त[५०] ने भ. पार्श्व को उग्रवंशी कहकर गुणभद्र और यतिवृषभ का अनुकरण किया है[५१]। किन्तु उन्होंने उत्तरपुराण[५२] की तरह पार्श्वनाथ के पिता को काश्यप गोत्री होने का उल्लेख नहीं किया।

पार्श्व का नामकरण

अपभ्रंश भाषा के सभी आचार्यों ने आ. गुणभद्र की तरह निर्देश किया है कि भ. पार्श्वनाथ का नामकरण इन्द्र ने अभिषेक के बाद किया था[५३]।

किसी ने ऐसा नहीं कहा है कि जब वे अपने माता के गर्भ में थे तब उनकी माता ने पार्श्व अर्थात् बगल में काला सर्प देखा था, इसलिए उनका नाम पार्श्व या पार्श्वनाथ हुआ।

विवाह कराने का प्रस्ताव

आ. पद्मकीर्ति और रइधु ने पार्श्वनाथ और पवनराज के मध्य घमासान युद्ध[५४] होने का विस्तार से वर्णन करने बाद में उल्लेख किया है कि जब उनके मामा रविकीर्ति (अर्ककीर्ति) ने अपनी बेटी प्रभावती के साथ विवाह कराने का उनके समक्ष प्रस्ताव रखा तो पार्श्वनाथ ने उसे स्वीकार कर लिया[५५]। किन्तु उनके विवाह होने का किसी भी पासणाहचरिउ में उल्लेख नहीं हुआ है। इसलिए मजूमदार का यह कथन सत्य नहीं है कि पार्श्वनाथ का विवाह हुआ था।[५६]

वैराग्य का कारण

भ. पार्श्वनाथ के वैराग्य होने के कारणों का उल्लेख सभी 'पासणहचरिउ' साहित्य में उपलब्ध है। आ. पुष्पदन्त ने इसका कारण आचार्य गुणसेन की तरह[५७] जातिस्मरण माना है[५८] जब कि आ. पद्मकीर्ति[५९] और रइधु[६०] ने लकड़ी के मध्य से निकले अर्धजले सर्प की मुत्यु के दृश्य को उनके वैराग्य का कारण माना है।[६१]

दीक्षा

भ. पार्श्वनाथ की दीक्षा कब और कहां हुई यह भी विचारणीय है। आचार्य पुष्पदन्त[६२] ने तिलोयपण्णत्ति[६३] और उत्तरपुराण[६४] का अनुकरण करते हुए लिखा है कि विमला नामक पालकी पर बैठ कर अश्वस्थ वन में पौष शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न में तीन सौ राजाओं के साथ भ. पार्श्वनाथ ने जिन दीक्षा ग्रहण की थी। आ. यतिवृषभ के अनुसार यह दीक्षा विशाखा नक्षत्र में हुई थी। पुष्पदन्त और गुणभद्र में अन्तर यह है कि गुणभद्र ने पौष

कृष्ण एकादशी को प्रातःकाल दीक्षित होने का उल्लेख किया है। आ. पद्मकीर्ति ने उनकी दीक्षा तिथि, पालकी, दीक्षित वन का उल्लेख नहीं किया। केवल आठ उपवास का निश्चय कर जिन दीक्षा लेना लिखा है। महाकवि रइधु ने कहा है कि पौष शुक्ला दशमी को भ. पार्श्वनाथ ने दीक्षा ग्रहण की थी।[६५] पालकी का नामोल्लेख रइधु ने भी नहीं किया। किन्तु एक ऐसे यान का उल्लेख किया जो सूर्य के रथ के समान था। उसी पर बैठ कर पार्श्वनाथ ने अहिच्छत्र नगर के वन में जाकर दीक्षा ली थी।[६६]

प्रथम पारणा

भ. पार्श्वनाथ की प्रथम पारणा कब-कहां हुई और किसको इस पारणा कराने का सौभाग्य मिला? यह भी चिन्तनीय है। इस संबंध में 'पासणाहचरिउ' के प्रणेताओं में एकरूपता नहीं है। आ. पुष्पदन्त ने आचार्य गुणभद्र का अनुकरण करते हुए मत प्रकट किया है कि भ. पार्श्वनाथ की प्रथम पारणा अष्टोपवास के बाद गुल्मखेट के राजा ब्रह्म के यहां हुई थी[६७] । पुष्पदन्त ने राजा के नाम का उल्लेख नहीं किया जब कि उत्तरपुराण में राजा का नाम श्याम वर्णवाला धन्य लिखा है[६८]। पद्मकीर्ति[६९] और रइधु[७०] इस बात से तो सहमत हैं कि उनकी प्रथम पारणा गजपुर के राजा वरदत्त के यहां अष्टोपवास के बाद हुई थी। केवल यतिवृषभ ने ही अष्टोपवास के बाद प्रथम पारणा का उल्लेख किया है।

उपसर्ग निवारण

जब दीक्षा ले कर पार्श्वनाथ घोर तप कर रहे थे, उसी समय कमठ के जीव ने, जो उनके जन्मान्तरों का वैरी था, सात दिनों तक भयानक उपसर्ग कर उन्हें जान से मारने का प्रयास किया। इसका वर्णन पुष्पदन्त आदि सभी अपभ्रंश के महाकवियों ने किया है।[७१] यहां प्रश्न यह है कि उपसर्ग करने वाला देव कौन था? जिस तापस ने नाग के जोड़े को मरणासन्न कर दिया था उसने अभिमान पूर्वक अनशन तप कर और जीव हिंसा तथा परिग्रह का त्याग कर देव योनि प्राप्त की थी। पुष्पदन्त और

रइधु ने उस देव का नाम संवर बतला कर आचार्य गुणभद्र का अनुकरण किया है[७२] किन्तु पद्मकीर्ति ने उसे मेघमल्ल (मेघमाली) और कमठ कहा है।[७३]

उस संवर देव या मेघमाली देव कृत भयंकर उपसर्गों का निवारण कैसे हुआ? इस संबंध में पुष्पदन्त[७४] ने आचार्य गुणभद्र[७५] का अनुकरण करते हुए कहा है कि पूर्वजन्म में मंत्र सुनाने से उपकृत हुए धरणेन्द्र और पद्मावती पृथ्वी से बाहर आये। धरणेन्द्र ने भगवान् पार्श्वनाथ को चारों ओर से घेर कर अपनी गोदी में उठा लिया। पद्मावती वज्रमय छत्र तान वहां खड़ी हो गई। इस प्रकार उस भयानक महावृष्टि रूप उपसर्ग को उन्होंने विनष्ट किया। पद्मकीर्ति[७६] ने उपसर्ग निवारण की चर्चा करते हुए पुष्पदन्त का अनुकरण किया है। रइधु के उक्त कथन में कुछ अंतर है। उन्होंने लिखा है कि फणीश्वर और पद्मावती ने प्रदक्षिणा दे स्तुति आदि करने के पश्चात् उपसर्ग दूर करने वाला कमलासन बनाया और उस पर पारसनाथ को विराजमान कर उसे अपने मस्तक पर रख कर उनके ऊपर होने वाले उपसर्गों को दूर किया।[७७]

केवल ज्ञान की प्राप्ति

भगवान् पार्श्वनाथ को कब और कहां केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई? इस संबंध में उक्त आचार्यों में मतैक्य नहीं है। आचार्य यतिवृषभ[७८] और गुणभद्र[७९] का अनुकरण करते हुए पुष्पदन्त[८०] और रइधु[८१] ने चैत्रमाह के कृष्ण पक्ष में उन्हें केवल ज्ञान होने का उल्लेख किया है। किन्तु उक्त ज्ञान प्रकट होने की तिथि पुष्पदन्त ने प्रतिपदा, रइधु ने यतिवृषभ की तरह चतुर्थी और गुणभद्र ने चतुर्दशी लिखी है। आ. पद्मकीर्ति इस संबंध में मौन हैं। रइधु को छोड़ कर पुष्पदन्त ने यतिवृषभ और गुणभद्र की तरह माना है कि उन्हें यह ज्ञान विशाखा नक्षत्र में प्राप्त हुआ था। किन्तु किसी भी पासणाहचरिउ में न तो यतिवृषभ की तरह उक्त ज्ञान पूर्वाह्न में होने का निर्देश है और न गुणभद्र की तरह प्रातःकाल में होने का निर्देश है। यह केवलज्ञान पार्श्वनाथ को दीक्षा-वन में होने का उल्लेख पुष्पदन्त ने किया

है। पद्मकीर्ति ने भीमाटवी[८२] वन में और यतिवृषभ ने शक्रपुर में उक्त ज्ञान प्राप्त होने का उल्लेख किया है।

छद्मावस्था

यहां यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि कितने समय तक तप करने के पश्चात् भ. पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। पद्मकीर्ति और रइधु इस सम्बन्ध में मौन हैं। आ. पुष्पदन्त ने यतिवृषभ और गुणभद्र की तरह उल्लेख किया है कि चार माह तक तप करने के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान मिला था।[८३]

कमठ का भयभीत होना और पार्श्व की शरण में जाना

जब कमठ को ज्ञात हुआ कि भ. पार्श्वनाथ को केवलज्ञान मिल गया है तो उसके मन में भयमिश्रित चिन्ता हुई।[८४] पद्मकीर्ति और रइधु[८५] ने कहा है कि जब कमठासुर की इन्द्र के वज्र से कहीं भी रक्षा न हुई तो वह भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में गया। उन्हें प्रणाम कर वह भय मुक्त हो गया। उसने क्षमा याचना करते हुए अनेक प्रकार से अपनी गर्हा की और हर्षित मन से सम्यक्त्व ग्रहण कर समस्त पाप-दोषों से मुक्त हो गया। उसका कुमति ज्ञान भी नष्ट हो गया।

श्रमण संघ

भगवान् पार्श्वनाथ का संघ विशाल होने का उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम हस्तिनापुर के राजा स्वयंभू दीक्षा ले कर प्रथम गणधर बना और उसकी पुत्री प्रभावती (मरुभूति की वसुन्धरी पत्नी) जिन दीक्षा ले कर आर्यिका संघ की प्रधान आर्यिका हुई।[८६] यद्यपि इस सम्बन्ध में यतिवृषभ और गुणभद्र से मतभिन्नता प्रकट है। क्योंकि यतिवृषभ सुलोका[८७] को और गुणभद्र ने सुलोचना[८८] को प्रधान आर्यिका माना है। उनके चतुर्विध संघ में श्रमण, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं की संख्या[८९] निम्नांकित है :

	पुष्पदन्त	रइधु	तिलोयपण्णति	उत्तरपुराण
१. गणधर	१०	१०		
२. पूर्वमाता	३५०	४००	३५०	३५०
३. मुनि (मोक्षगामी)	१६०००	१८००	१६०००	१६०००
४. शिक्षक	१०९५०	१०९००	१०९५०	
५. अवधिज्ञानी	१४००	१५००	१४००	१४००
६. केवलज्ञानी	१०००	१५००	१०००	१०००
७. विक्रियाधारी	१०००	१५००	१०००	१०००
८. मनःपर्ययज्ञानी (विपुलमती)	७५०	९००	७५०	७५०
९. वादी	६००	६००	६००	
१०. श्रुतज्ञानी	८००			
११. आर्यिका	३६०००	३८०००	३६००	३६०००
१२. श्रावक	एक लाख	एक लाख	एक लाख	एक लाख
१३. श्राविकाऐं	तीन लाख सत्ताइस हजार	तीन लाख	तीन लाख	तीन लाख
१४. स्त्रीमुंक्ति स्थान वाले		१९००		
१५. देव-देवियाँ	संख्यातीत	असंख्यात	...	असंख्यात
१६. तिर्यञ्च	संख्यात	अप्रमाण	...	संख्यात

धर्मोपदेश और विहार

पुष्पदन्त के अनुसार ७० वर्षों तक किन्तु आ. गुणभद्रानुसार ५ माह कम ७० वर्षों विहार करते हुए भगवान् पार्श्वनाथ ने धर्मोपदेश देकर जीवों का कल्याण किया था।[९०]

निर्वाण

पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति और रइधु ने प्राचीन परम्परा का अनुकरण करते हुए माना है कि, भगवान् पार्श्वनाथ चतुर्विध संघ को ज्ञान प्रदान

करते हुए जब उनकी आयु मात्र एक माह शेष रह गई थी ३६ मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये और वहीं पर १०० वर्ष की आयु में उक्त मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था[९१]। पद्मकीर्ति के अलावा पुष्पदन्त और रइधु ने तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण की तरह अपने ग्रन्थों में निर्वाण प्राप्त करने की तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी और विशाखा नक्षत्र का निर्देश किया है। अन्तर केवल इतना है कि तिलोयपण्णत्ति में उन्हें प्रदोषकाल में और उत्तरपुराण में प्रातःकाल में मोक्ष होने का उल्लेख उपलब्ध है, जबकि अन्य आलोच्य ग्रन्थों में उक्त काल का कथन नहीं हुआ है। जनसामान्य आज भी विहार में स्थित भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण स्थल सम्मेद शिखर को पारसनाथ हिल के नाम से जानते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ का तीर्थ २५० वर्षों और यतिवृषभ के अनुसार २७८ वर्षों तक प्रवर्तित रहा।[९२]

उपर्युक्त गहन विवेचन से निम्नांकित बिन्दु प्रकट होते हैं :

१. भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन में घटित महत्वपूर्ण घटनाऐं उन्हें ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध करने में स्वतः प्रमाण हैं।

२. भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन में उत्तरोत्तर आत्म विकास की परम्परा उपलब्ध है। इसके विपरीत कमठ का जीवन अशुभ क्रियाजन्म उत्तरोत्तर पतन का प्रतीक है। अतः सम्यक्त्व और आत्मालोचन ही आत्मोत्थान का साधन है।

३. विक्रम संवत् १०वी शताब्दी से १६वी शताब्दी तक के जैन आचार्यों को भगवान् पार्श्वनाथ का आकर्षक व्यक्तित्व बहुत भाया। यही कारण है कि अपभ्रंश भाषा में भगवान् पार्श्वनाथ विषयक स्वतंत्र महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की रचना कर आचार्यों ने उनके प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा प्रकट की है। इन्हें भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति अर्चना और प्रेमसमर्पण का प्रतीक कहा जा सकता है।

४. पार्श्व विषयक उपर्युक्त साहित्य के तुलनात्मक आलोडन से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश भाषा में निबद्ध पार्श्व विषयक साहित्य का आधार

आचार्य यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति और आचार्य गुणभद्र रचित उत्तरपुराण रहा। इनमें आगत घटनाओं को संकोच और विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

५. अपभ्रंश भाषा में सृजित ग्रन्थों के सर्वेक्षण से जिन बारह ग्रन्थों का उल्लेख हुआ, उनमें से तीन महाकाव्य प्रकाशित, छह अप्रकाशित और तीन अनुपलब्ध हैं।

६. ये ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति, भूगोल और इतिहास के धरोहर हैं।

७. उपयुक्त विषयक ग्रन्थों की विभिन्न भण्डारों में विद्यमान पाण्डुलिपियों को पश्यतो हरा चूहों, दीमक आदि द्वारा हजम कर जाने का भय है, इसलिए अनुपलब्ध और अप्रकाशित उपयुक्त ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को खोजने और प्रकाशित कराने का निर्णय इस गोष्ठी की महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में करना चाहिए।

संदर्भ :

१. (क) धर्ता धरणनिर्धूत पर्वतोद्धरणासुरः ।
त्रयो विंशस्य तीर्थस्य पार्श्वो विजयतां विभुः ।।
आचार्य जिनसेन : हरिवंश पुराण, १/२५

(ख) .... ।
तेवीसमु जिणु तित्थंकरु पाव खयंकरु पासणाह जगसामिउ ।।
आ. पद्मकीर्ति : पासणाहचरिउ, १५/८/१२

२. डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन (हिन्दी) भाग १, पृ. २६४.

३. हिन्दी अनुवाद, भाग १, अध्याय ६, पृ. १७८.

४ भारतीय दर्शन की रूप रेखा, पृ. १५६.

५. भारतीय दर्शन, पृ. ३०.

६. भारतीय दर्शन, पृ. ९६.

७. (क) आ. यतिवृषभ, तिलोय पण्णत्ति, ४/५७६.

(ख) आ. गुणभद्र ने उत्तरपुराण, ७३/९३ में और आ. पद्मकीर्ति ने पासणाहचरिउ में १७/१८/४ में यह संख्या ८३५० बतलाई है।

८. तिलोयपण्णत्ति, ४/५७७.

९. वही, ४/६७८.

और भी देखें - उत्तरपुराण,७३/९४, पदमकीर्ति कृत पासणाहचरिउ,१७/१५/९२.

१०. पासणाहचरिउ (संपादक प्रफुल्ल कुमार मोदी, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, सन् १९६५)प्रस्तावना, पृ. ४२.

११. महाकवि पुष्पदन्त महापुराण (सं. पी. एल. वैद्य, मणिक्य चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, १९४१) भाग ३.

१२. पृ. ३५.

१३. सिरिलाडवग्गु तहिं विमलजसु, कइदेवयत्तु निव्वूढकसु।
बहुभावहिं जे वरंगचरिउ, पद्धडियाबंधे उद्धरिउ। १/४ /२-३.

१४. देखें अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ. १८७.

१५. पासणाहचरिउ, प्रस्तावना,
(प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी ५, सन् १९६५) पृ. २०-२५

१६. अठरह संधिउ एँहु पुराणु तेसट्ठि पुराणे महापुराणु ।
सय तिण्णि दहोत्तर कडवायहं णाणाविह छंदसुहावयाहं।
तेतीस समइं तेवीसयाइं अक्खर किं पि सविसेसयाइं।
पद्मकीर्ति : पासणाहचरिउ, १८/२०/१-३.

१७ (क) डॉ. नेमिचन्द शास्त्री : भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. १३७-१४४

(ख) सिरि पासचरितं रइयं बुह सिरिहरेण गुणमीरयं।
वड्ढमाण चरिउ (संपादक, डॉ. राजा राम जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् १९७५) परिशष्ट १ (क) पृ. २८६

(ग) सणवासी एयारह सरहिं कसणट्ठमीहिं
आगहणमासि, रविवारि समाणिऊं सिसिर भासि।
(पासणाहचरिउ, १२/१८/१०-१४) वही पृ. २८६

१८. सिरि पासणाह णिम्मल चरित्तु....।
पड़वीस सयइँ गंथ हो पमाणु....।। वही, पृ. २८६

१९. (क) वड्ढमाणचरिउ, १/३/२, १०/४१/५

(ख) पासणाहचरिउ (विबुधश्रीधर, वड्ढमाणचरिउ, सं डॉ. राजाराम जैन, परिशिष्ट) १(क) पृ. २८०

२०. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ. १४६.

२१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ. १८०-१८४.

२२. वही, पृ. १८१-१८२

२३. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ. १४७

२४. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ. १४७

२५. महाकवि रइधु के साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (प्राकृत जैन शास्त्र अहिंसा शोध संस्थान वैशाली, सन् १९७३) पृ. १२०

२६. देखें रइधु ग्रन्थावली (श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सन् १९७५) भाग १, भूमिका पृ. ६-७

२७. ता तिक्खकुहारें कोहिएण, कट्टु वियारिउ तेण थिरु।
अद्धद्धुअद्धु तहं उरयजुय दिट्ठउ तत्थ धुणंतु सिरु।। ३/१२/३७

२८. ३/१३/८ एवं ३/१४ - ३/३६ ।

२९. ४/१४/४

३०. सक्कहु भएण पुणु कमठ सुरु, जिणसणि पइट्ठउ णविय सिरु।
भो णिच्च णिरंजण पास जिण महु रक्खि सव्व हियमणं ।।
४/२०/७ - ८।

३१. ७/३/७८

३२. डॉ. नेमिचन्द शास्त्री तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. २२८-२२९

३३. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ. १४६.

३४. (क) वही, पृ. १९० एवं पृ. १४६
(ख) तीर्थंकर म. आ. प. भाग ४, पृ. २०९-२११।

३५. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृतियां, पृ. ३७, १७९, १८१,

३६. वही, पृ. २०७

३७. वही, पृ. २१५

३८. वही, पृ. १८७

३९. तहिं अत्थि णरिंद विस्ससेणु गुणकंडिउ।
बंभादेवीए भुयलयाहिं अवरुंडिउ ।। पुष्पदन्त: महापुराण, ९४/१२.

४०. वाराणस्यामभूद्विश्वसेन: कश्यप गोत्रज: ।
ब्रह्मभस्य देव...... .... ।। गुणभद्र उत्तरपुराण ७३/७५.

४१. हयसेन वसइ तहिं णरवरिंदु...। पद्मकीर्ति पासणाहचरिउ, १/३.

४२. अस्सेण णामे तहिं णरवरा....। रइधु: पासणाहचरिउ, १/१०/१.

४३. (क) हयसेन वम्मिलाहि जादो हि .... पासजिणो। तिलोयपण्णत्ति, ४/५४८.

(ख) तहा वम्मदेवि णामेण .... । पद्मकीर्ति: पासणाहचरिउ, ८/२/१.

(ग) तह तिय वम्मएवि ...। रइधु पासणाहचरिउ, १/१०/६.

४४. देखें - उत्तरपुराण, ७३/७४-९५

४५. (क) तेयासी सहसइं सत्तु णेमि-तित्थु पंचास वुत्तु। पा. प., १७/१८/३.

(ख) ८/११.

४६. ४/५७६.

४७. (क) पुष्पदन्त: महापुराण, ७४/१५/४०.११.

(ख) रइधु: पासणाहचरिउ, २/५/११.

४८. पूसस्स बहुत एक्कारसिए रिक्खे विसाहीए । तिलीय पण्णति, ४/५४८

४९. ...... पौषे मास्यसिते सुत: ।
...... प्रादुरासीदेकादशी तिथौ।। उत्तरपुराण, ७३/९०

५०. महापुराण, ९४/२२/३ ।

५१. (क) उत्तरपुराण, ७३/१६६

(ख) तिलोयपण्णत्ति, ४/५५०

५२. उत्तरपुराण, ७३/७५

५३. (क) अट्ठंगु...., सइं सुरवइ पासु ण्वेवि णाउ।पद्मकीर्ति पा.च., १८/२३/३

(ख) पुष्पदन्त: महापुराण, ७४/१६

(ग) रइधु: पा.च. २/१४/५ एवं ११

५४. (क) पद्मकीर्ति: पासणाह चरिउ, १७/६ - १३/८

(ख) रइधु: पा. च., ३/१ - ११/४

५५. (क) कर लेवि णरिंदे वुत्तु देउ, मह कण्णु परिणिकरि दवणु एउ। पडिवण्णु कुमारें एउ होउ .... ।। पद्मकीर्ति पा. च. १३/९/३-४

(ख) रइधु पा. च. ३/११/३ और भी देखें ३/११/१-२।

५६. प्रो. प्रफुल्ल कुमार मोदी, पासणाहचरिउ (पद्मकीर्तिकृत) प्रस्तावना, ३९.

५७. उत्तरपुराण, ७३/१२० - १२४

५८. महापुराण, ९४/२२/१-७

५९. पासणाहचरिउ, १३/११-१२

६०. पा. च. ३/१३/८

६१. पद्मकीर्ति: पासणाहचरिउ, १३/१२/१-७

६२. विमलहि सिवियहि आरुढ देउ.....।
सिय पक्खि पूसि एयारसीहि पुव्वणहइ...।
आसत्थ वणंतरि लइय दिक्ख... ।। महापुराण ७४/२२-१०-१३

६३. माघस्सिदएक्कारसि पुव्वण्हे गेण्हदे विसाहासु।
पव्वज्जं पासजिणो अस्सत्थ वणम्मि छट्ठ भत्तेण।।
तिलोयपण्णत्ति, ४/६६६

६४. आरुह्य शिविकां रूढां विमलाभिधया विभुः।
विधाष्टममाहारत्यागवने महा।
उत्तराभिमुखे मासे पक्षे सितेतरे।
एकादश्यां सुपूर्वाह्णे, समं तिशतभूभुजैः।।
उत्तपुराण, ७३/१२७-१२९

६५. हिमपडलपयासहिं पूसहिं मासहिं दहमिहिं।
सिरिपासकुमार...धरिउ तें णिक्खमण भरु।।
रइधुः पासणाहचरिउ, ४/२/५३

६६. वही, ४/१

६७. पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२२/१४-१५ एवं ९४/२३/१

६८. उत्तरपुराण, ७३/१३२-१३३

६९. अट्ठोपवासु जगगुरु करेवि परिहारसुहि संजउ धरेवि।
...... गउ गयउर पुर वरदत्त गेहु।
पारणा तित्थु किज्जइ जिणेण...।
पद्मकीर्ति पासणाह चरिउ, १३/१४/५-७

७०. अट्ठोवससि जिणु पासु पुणु....।
हत्थिणाउरि वरदत्तहु जि गिहि....।
रइधुः पासणाहचरिउ, ४/३/३-६

७१. (क) पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२३

(ख) पद्मकीर्ति पा. च. १४/६-२३

(ग) रइधुः पासणाह चरिउ, ४/७-११

७२. (क) .... गयणंगणे संवरे जोइयं तत्थ।

.... संभरिउ चिरजम्मु वइराणुबंध।

पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२३/५-१३

(ख) ता संवर देउ ... । रइधुः पासणाहचरिउ, ४/५७ एवं ४/७-८

(ग) देखें उत्तर पुराण, ७३/१३६-१३८

७३ (क) .... मेहमल्लि भडु कुद्धउ। पासणाहचरिउ, १४/५/५

(ख) जं जं मेल्लइ भासुर कमढु महासुरु.... । वही १४/२७/५

७४. थरंहरिय महिसयल धरणिंदु णीसरिउ,
.... परमेट्ठि परिवरिउ।
पोमावइयाइ देवीइ मणिविप्फुरियउं,
ससि बिंबसमाणु कुलिसछत्तु तह धरिउं।।
महापुराण ९४/२३/१६-२०

७५. देखें उत्तरपुराण, ७३/१३९-१४१

७६. पासणाहचरिउ, १४/२६-२८

७७. रइधुः पासणाहचरिउ, ४/९-११

७८. चित्ते बहुल चउत्थी विसाहरिक्खम्मि पासणाहस्स।
सक्कपुरे पुव्वण्हे केवलणाणं समुप्पण्णं।।
तिलोयपण्णत्ति, ४/७

७९. उत्तरपुराण, ७३/१४३-१४४

८०. आउरिउ देवें सुक्कझाणु उप्पाइउ केवल दिव्वणाणु।
पढमिल्लमासतमकसणा पक्खि पडिवयदिणि पवर विसाहरिक्खि।
महापुराण९४/२३/३, २३ एवं २४/१ एवं ३.

८१. चइत्त पवित्तइ किण्हहं पक्खि चउत्थिहि जायउ शोभण रिक्ख।
पासणाह चरिउ, ४/१४/४.

८२. पद्मकीर्तिः पासणाह चरिउ १४/३०.

८३. (क) तिलोय पण्णत्ति, ४/६७८.
(ख) उत्तरपुराण, ७३/१३४.
(ग) पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२३/२.

८४. पद्मकीर्ति पासणाहचरिउ, १५/२, १५/५, १६/१८.

८५. रइधुः पासणाहचरिउ, ४/२०/७-१२.

८६. पद्मकीर्तिः पा.च., १५/१८.

८७. तिलोयपण्णत्ति, ४/११८।

८८. उत्तरपुराण, ७३/१५३.

८९. (क) पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२४/७ - ११० एवं ९४/२५/१-५
(ख) रइधुः पा. च., ७/२.
(ग) तिलोयपण्णत्ति, ४/११५८, ११७६, १०९७.

९०. (क) पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२५/५.
(ख) उत्तरपुराण, ७३/१५५.

९१. (क) सिदसत्तमी पदोसे सावणमासम्मि उ जम्मणक्खत्ते।
सम्मेदे पासजिणो छेत्तीसजुदो गदो मोक्खं।।
आचार्य यतिवृषभः तिलोय पण्णत्ति, ४/१२०७

(ख) .... मासं स संहृत्य विहतिक्रियाम्।।
षट्त्रिंशन्मुमिभिः सार्धं प्रतिमायोगमास्थितः।
श्रावणे मासि सप्तम्यां सितपक्षे दिनादिमे।।
भागे विशाखा नक्षत्रे.... । .... सम्मेदाचलमस्तके।।
.... । निःशेषकर्मनिर्णाशान्निवाणे निश्चलं स्थितः।

आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण, ७३/१५५-१५७

(ग) सावणसत्तामिदिणिकाल वक्खि, गउ मोक्खहु पासु विसाहरिक्खि।।
पुष्पदन्तः महापुराण, ९४/२५/८

(घ) पद्मकीर्तिः पासणाहचरिउ, १८/१९/६-१०
(ङ) रइधुः पासणाहचरिउ, ७/२ छत्ता १२७ एवं ७/३/१-१०

९२. (क) उत्तरपुराण ७४/२७९
(ख) पद्मकीर्तिः पासणाहचरिउ, १७/१८/४
(ग) तिलोयपण्णत्ति, ४/५७७

भट्टारक सकलकीर्ति और उनका पार्श्वनाथचरितम्

– डॉ. कमलेशकुमार जैन*

पार्श्वो विघ्नविनाशको वृषजुषां पार्श्वंश्रिता धार्मिकाः,
पार्श्वेणाशु विलभ्यतेऽखिलसुखं पार्श्वाय तस्मै नमः।
पार्श्वान्नास्त्यपरो हितार्थजनकः पार्श्वस्य मुक्तिः प्रिया,
पार्श्वे चित्तमहं दधे जिनप मां शीघ्रं स्वपार्श्वे नय।।

भगवान महावीर स्वामी की परम्परा में दीक्षित दिगम्बर जैन मुनियों की कठोर साधना का सम्यक् निर्वाह न कर पाने तथा कालदोष के कारण भट्टारक-परम्परा का जन्म हुआ।

भट्टारक–परम्परा

यह भट्टारक-परम्परा दिगम्बर मुनियों की तुलना में अपनी आचारगत शिथिलता के कारण अपने उत्पत्ति काल में बहुप्रतिष्ठित न हो सकी, किन्तु परवर्ती काल में इसके द्वारा की गई जैनधर्म एवं जैन संस्कृति की प्रभावना तथा प्राचीन जैन साहित्य की सुरक्षा और नवीन तथा लोक कल्याणकारी साहित्य की संरचना के कारण अत्यधिक समादृत हुई है।

भट्टारक सकलकीर्ति

भट्टारक-परम्परा में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम बहुत ही आदर के साथ लिया जाता है। इनका वैदुष्य एवं लोक प्रभाव इनकी साहित्य-सेवा से स्वतः प्रमाणित है। भट्टारक सकलकीर्ति वि. सं. १४४४ में ईडर की

* *प्राध्यापक, जैनदर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

गद्दी पर बैठे थे और उनकी मृत्यु गुजरात के महसाना नामक स्थान पर वि.सं. १४९९ में हुई। उनका समाधिस्थल महसाना में बना हुआ है।[१]

भट्टारक सकलकीर्ति संस्कृत भाषा के प्रौढ़ और प्रतिष्ठित विद्वान् थे। उनके द्वारा संस्कृत भाषा में लिखित उनतीस रचनाओं का उल्लेख मिलता है।[२] साथ ही राजस्थानी भाषा में निबद्ध लगभग पन्द्रह रचनाएं[३] उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दस्तावेज हैं।

तिरेसठ शलाका–पुरुष

जैनधर्म में बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रति-नारायण, नौ बलभद्र और चौबीस तीर्थंकरों की गणना तिरेसठ शलाका पुरुषों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के रूप में की गई है और इन्हीं का जीवन-चरित लोक मंगल स्वरूप स्वीकार किया गया है। अतः इन्हीं महापुरुषों का चरित्र-चित्रण जैन पुराणों अथवा जैन काव्यों में सामान्य रूप से आदर्श मानकर चित्रित किया है। उक्त तिरेसठ शलाका-पुरुषों के अतिरिक्त अन्य जिन महापुरुषों को जैन चरित-काव्यों में प्रमुख स्थान मिला है उनमें चौबीस कामदेवों का नाम उल्लेखनीय है[४]। इन महापुरुषों के जीवन से ही हमें यह शिक्षा मिलती है कि 'रामवद् वर्तिव्यं, न रावणादिवत्' - अर्थात् राम की तरह आचरण करना चाहिये, रावण आदि की तरह नहीं।

पार्श्वनाथ–चरितम्

भट्टारक सकलकीर्ति ने अपने चरित काव्यों में जिन महापुरुषों के आदर्शमयी जीवन की झांकी प्रस्तुत की है, उनमें भगवान् पार्श्वनाथ का लोक मंगलकारी जीवन-चरित 'पार्श्वनाथ-चरितम्' के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ

चौबीस तीर्थंकरों में भगवान् पार्श्वनाथ, तेइसवें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये ऐतिहासिक महापुरुष हैं। पुराणों एवं काव्यों के माध्यम से

ज्ञात होता है कि इनके पूर्व भवों का जीवन बहुत ही संघर्षमय रहा है। किन्तु भगवान् पार्श्वनाथ की सहनशीलता और इनके जन्म-जन्मान्तर के बैरी कमठ के जीव द्वारा छाया की तरह इनका प्रतिपल विरोध – दोनों ही आश्चर्यकारी हैं। कमठ का जीव बदले की भावना से निरन्तर उपसर्ग करता है और भगवान् पार्श्वनाथ का जीव अपने पूर्वकृत कर्मों को उदय में आया जानकर उन उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहता है। पूर्वकृत अच्छे या बुरे कर्मों की फल व्यवस्था का भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व भवों में और तीर्थंकर पर्याय में भी जैसा परिपाक हुआ है वह अत्यन्त विरल है। इस कथानक से जैनदर्शन के कर्म-सिद्धांत की समन्तात् पुष्टि होती है।

अहिंसा और हिंसा का संघर्ष

इस कथानक में एक साथ एक ओर अहिंसा और दूसरी ओर हिंसा, एक ओर क्षमा और दूसरी ओर क्रोध, एक ओर भावों की सरलता और दूसरी ओर भावों की कुटिलता, एक ओर शान्ति का लहराता हुआ सिन्धु और दूसरी ओर ज्वार-भाटा से संतप्त समुद्र का विकराल रूप आदि ऐसे कार्य हैं, जो नदी के दो तटों की भांति एक दूसरे से सर्वथा प्रतिकूल हैं। मरुभूति का जीव अहिंसा आदि संस्कृतियों का प्रतीक है और कमठ का जीव हिंसा का नग्न ताण्डव करता हुआ राक्षसी संस्कृति का मूर्तिमान् पिण्ड है।

श्रमण और वैदिक संस्कृति

यह वह संघर्षपूर्ण काल था जब एक ओर वैदिक संस्कृति के पुरोधा यज्ञ-यागादि में धर्म के नाम पर पशुओं की बलि का न केवल समर्थन करते थे, अपितु निरीह पशुओं की बलि चढ़ा कर स्वर्ग के दरवाजे खोलना चाहते थे और दूसरी ओर श्रमण संस्कृति के उन्नायक महापुरुष सर्वस्व त्यागकर प्राणिमात्र की रक्षा के लिये कृतसंकल्प थे। वस्तुतः कमठ का जीव और भगवान् पार्श्वनाथ का जीव उपर्युक्त वैदिक और श्रमण – इन दोनों संस्कृतियों के तत्कालीन संघर्ष के प्रतीक हैं, जिन्हें भट्टारक सकलकीर्ति ने 'पार्श्वनाथ-चरितम्' में वर्णित भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ के जीव

के संघर्षमय जीवन के माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

अनन्तानुबन्धी कषाय का परिपाक

जैनदर्शन में प्रतिपादित अनन्तानुबन्धी कषाय किस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक बदला लेने को प्रेरित करती है, यह कमठ के जीव के पूर्वभवों एवं वर्तमान भव के क्रिया-कलापों से स्पष्ट होता है।

कमठ और मरुभूति

भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा रचित 'पार्श्वनाथ-चरितम्' भगवान् पार्श्वनाथ के इतःपूर्व नौ भवों एवं वर्तमान तीर्थंकर पर्याय की जीती-जागती कथा है।

यह कथा पोदनपुर के महाराजा अरविन्द के न्यायपूर्ण शासन एवं उनके मन्त्री बिश्वभूति नामक ब्राह्मण के उदात्त गुणों से प्रारम्भ होती है। विश्वभूति और उसकी पत्नी अनुन्धरी से दो पुत्र हुये - कमठ और मरुभूति। कमठ विष के समान और मरुभूति अमृतोपम था। एक दिन विश्वभूति अपने मस्तक पर उगे हुये एक सफेद बाल को देखकर संसार से भयभीत हो गये और उन्होंने पुण्य के संयोग से उस सफेद केश के छल से धर्म का श्रेष्ठ अंकुर उत्पन्न हुआ माना, जो कालक्रम से चारित्र को उत्पन्न करने वाला है –

अथैकदा विलोक्याशु मस्तके पलितं कचम्।
राजमन्त्री ससंवेगं प्राप्येदं चिन्तयेद् हृदि्।।
अहो मे पुण्ययोगेन केऽभूद् धर्मांकुरो महान्।
पलितच्छद्मना केशोऽयं चारित्रविधायकः।।[१]

अपने चारित्र रूप संयम के द्वारा विश्वभूति का जीव कालक्रम से मुक्ति को प्राप्त हुआ।

कमठ द्वारा कुशील सेवन एवं उसका दुष्परिणाम

उधर राजा अरविन्द और मरुभूति के युद्ध में चले जाने के पश्चात् कमठ के जीव ने काम-वासना से प्रेरित हो जब अपने अनुज की पत्नी का सेवन करना चाहा तो कवि ने उसके मित्र कलहंस के माध्यम से अनुज-वधु के सेवन रूप निकृष्ट कार्य की निन्दा की है और उसके दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुये अधोगति का भय दिखलाया है कि परस्त्री के लम्पट वे पापी मूर्ख राजा वध-बन्धन आदि प्राप्त कर दुर्गति रूपी समुद्र में निमग्न होते हैं। जो मनुष्य इस लोक में अन्य स्त्रियों का आलिंगन करते हैं, वे नरक में तपाये हुये लोहे की पुतलियों के आलिंगन को प्राप्त होते हैं और इस लोक में राजा के द्वारा सर्वस्व हरण और प्राणदण्ड आदि प्राप्त करते हैं।[७]

कवि ने रावण आदि के उदाहरण देकर कुशील सेवन की अभिलाषा करने वाले को महापाप का भागी एवं नरकगामी बतलाया है।[८] किन्तु जिस प्रकार अन्ध पुरुष के सामने नृत्य, क्षीण आयु वाले पुरुष को प्रदत्त औषधि और रागी पुरुष को दिया गया हितकारी धर्म का उपदेश व्यर्थ होता है, उसी प्रकार पाप को नष्ट करने वाले धर्म के सूचक और अनाचार को नष्ट करने वाले कलहंस नामक मित्र के सारपूर्ण समस्त वचन कमठ के पाप से व्यर्थ हो गये।[९]

यहां कवि ने कमठ के द्वारा सेवित कुशील और उसके परिणाम स्वरूप अनेक कुगतियों को प्राप्त होने वाले कमठ के जीव का क्रमशः अनेक सर्गों में विवेचन किया है और स्पष्ट किया है कि कुशील ही वह मूलाधार है जिस पर कमठ के जीव का आगामी भवों का निकृष्ट एवं पापमय जीवन का ढांचा खड़ा हुआ है।

भगवान् पार्श्वनाथ के दश भव

तेइस सर्गों में विभक्त यह 'पार्श्वनाथ-चरितम्' एक उत्कृष्ट महाकाव्य है, जो पुराण एवं काव्य – इन दोनों शैलियों में गुम्फित किया गया है। इसके प्रारम्भिक नौ सर्गों में भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम नौ भवों -

मरुभूति, वज्रघोष हाथी, सहस्रार स्वर्ग का देव शशिप्रभ, अग्निवेग विद्याधर, अच्युत स्वर्ग का देव विद्युत्प्रभ, वज्रनाभि चक्रवर्ती, मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र, आनन्द राजा और आनत स्वर्ग के देव रूप का विवेचन किया गया है। तदनन्तर दशम स्वर्ग में काशी के महाराज विश्वसेन और उनकी प्राणप्रिया ब्राह्मी से कुमार पार्श्व के जन्म होने से पूर्व देवों द्वारा रत्नवृष्टि आदि और ग्यारहवें सर्ग से तेइसवें सर्ग तक भगवान् के गर्भ-जन्म, जन्माभिषेक, कुमार द्वारा आभूषणों को धारण करना और आनन्द नामक नाटक खेलना, बालक्रीडा एवं वैराग्योत्पत्ति, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन, दीक्षा वर्णन, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवसरण रचना, गणधरों द्वारा विविधप्रश्न, भगवान् द्वारा तत्त्वोपदेश एवं विविध कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों के विवेचन, भगवान् पार्श्व का विहार और अन्त में मोक्ष-गमन का क्रमशः वर्णन किया गया है।

धर्म का सेवन हितकारी

भट्टारक सकलकीर्तिकृत प्रस्तुत 'पार्श्वनाथचरितम्' पर समग्र दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने भगवान् पार्श्वनाथ के समग्र जीवन[१०] और मुनिधर्म[११] का विवेचन किया है। कवि का मानना है कि जिस प्रकार जगत् में चतुर मनुष्यों के द्वारा कार्य की सिद्धि के लिये सेवक का पालन किया जाता है उसी प्रकार ग्रास मात्र के दान से राग के बिना शरीर का पालन करना चाहिये।[१२] शरीर का चाहे पोषण किया जाये अथवा शोषण वह अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः मुक्ति प्राप्ति के लिये उसका सम्यक् प्रकार से शोषण करना अर्थात् अन्त समय में सल्लेखना आदि धारण करना ही श्रेष्ठ है।[१३] क्योंकि संसार में दुःख की ही प्रबलता है, कोई सुखी नहीं है।[१४] अतः धर्म का सेवन करना ही हितकारी है। धर्म विविध प्रकार से पापों को हरने वाला है, मुक्ति रूपी स्त्री को देने वाला है, अनन्त सुख का सागर है, अत्यन्त निर्मल है, अभिलषित पदार्थों का दाता है, समस्त लक्ष्मियों का पिता है, अनन्त गुणों को देनेवाला है, तीर्थंकर की विभूति का दायक है और चक्रवर्ती तथा इन्द्र के पद आदि को प्रदान करने वाला है।[१५]

अचेतन जिन–प्रतिमा की पूजा से पुण्य–प्राप्ति

अनेक प्रश्नों का समाधान भी इस ग्रन्थ में किया गया है। अचेतन जिन-प्रतिमा की पूजा पुण्य का कारण कैसे होती है? इसका समाधान करते हुये कवि का कहना है कि – जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा तथा मन्दिर आदि भव्य जीवों के पुण्य का कारण नियम से हैं, इसमें संशय नहीं। जिनेन्द्र भगवान् के उत्तम बिम्ब आदि का दर्शन करने वाले धर्माभिलाषी भव्य जीवों के परिणाम तत्काल शुभ-श्रेष्ठ होते हैं। जिनेन्द्र भगवान् का सादृश्य रखने वाली महाप्रतिमाओं के दर्शन से साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण होता है, निरन्तर उनका साक्षात् ध्यान होता है और उसके फल स्वरूप पापों का निरोध होता है। शस्त्र, आभरण, वस्त्रादि, विकार पूर्ण आकार, रागादिक महान् दोष और क्रूरता आदि अवगुणों का समूह जिस प्रकार पृथिवी तल पर जिन प्रतिमाओं में नहीं है उसी प्रकार धर्मतीर्थ प्रवृत्ति करने वाले श्री जिनेन्द्र देव में नहीं है।[१९]

साम्यता आदि गुण तथा कीर्ति, कान्ति और शान्ति आदि विशेषतायें जिस प्रकार जिनबिम्ब में दिखलाई देती हैं उसी प्रकार श्री जिनेन्द्र देव में विद्यमान हैं। जिस प्रकार जिन प्रतिमाओं में मुक्ति का साधनभूत स्थिर वज्रासन और नासाग्रदृष्टि देखी जाती है उसी प्रकार धर्म के प्रवर्तक जिनेन्द्र देव में वे सब विद्यमान हैं। इस प्रकार तीर्थंकर प्रतिमाओं के लक्षण देखने से उनकी भक्ति करने वाले पुरुषों को तीर्थंकर भगवान् का परम निश्चय होता है। अर्थात् वस्त्राभूषण तथा रागद्वेष सूचक अन्य चिन्हों से रहित जिन-प्रतिमाओं के दर्शन से वीतराग सर्वज्ञ देव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिये उन जैसे परिणाम होने से तथा उनका ध्यान और स्मरण आने से तथा उनका निश्चय होने से धर्मात्मा जनों को महान् पुण्य होता है। पुण्योदय सें इस लोक में पुण्यशाली जनों की इस भव तथा परभव में त्रिलोक सम्बन्धी सभी अभिलाषित पदार्थों की सिद्धियां सम्पन्न होती हैं। अत: तीर्थंकर प्रतिमाओं की भक्तिपूर्वक पूजा करने से सत्पुरुषों को समस्त मनोवाञ्छित फल पृथिवी तल पर तथा स्वर्ग लोक में प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार दशांग कल्पवृक्ष दान चाहने वाले पुरुषों को संकल्पित महान् भोग देते

हैं उसी प्रकार पूजी हुई जिन प्रतिमाएं पूजा करने वाले पुरुषों को महान् भोग देती हैं। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न सत्पुरुषों को मन से चिन्तित पदार्थ देता है उसी प्रकार अचेतन प्रतिमा भी भक्ति करने वालों को मन से चिन्तित पदार्थ देती है। जिस प्रकार अचेतन मणि, मन्त्र, औषधि आदि विष तथा रोगादिक को नष्ट करते हैं उसी प्रकार अचेतन प्रतिमाएं भी पूजा-भक्ति करने वाले पुरुषों के विष तथा रोगादिक को नष्ट करती हैं।[१७]

अन्य विविध वर्णन

उपर्युक्त के अतिरिक्त कवि ने अन्य अनेक विषयों का समायोजन अपने इस ग्रन्थ में किया है। कवि का कहना है कि - गृहस्थ धर्म का ठीक-ठीक पालन करने से प्राणियों को सोलह स्वर्ग तक की प्राप्ति होती है और क्रम से सुख के सागर स्वरूप निर्वाण को प्राप्त होते हैं।[१८] धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और क्रम से मोक्ष प्राप्त होता है।[१९]

प्रसंग प्राप्त होने पर कवि ने अन्य जिन विषयों का विवेचन किया है, उनमें दश धर्म[२०] सम्यग्दर्शन के आठ अंग[२१], षोडश कारण भावनाएँ[२२], सोलह स्वप्न[२३], स्वप्नों का फल[२४], देवियों द्वारा तीर्थंकर की माता से अनेक प्रश्न और माता द्वारा उनके उत्तर[२५], प्रहेलिका[२६], क्रिया गुप्ति[२७], और निरोष्ठ्य काव्य[२८] की रचना, मेरु पर्वत एवं पाण्डुक शिला[२९] का वर्णन, आनन्द नाटक[३०], पार्श्वनाथ भगवान् के शरीर के एक सौ आठ लक्षण[३१], द्वादशानुप्रेक्षा[३२], पञ्च महाव्रत[३३], पञ्च महाव्रतों की पांच-पांच भावनायें[३४], ऐरावत हाथी[३५], समवसरण[३६], कौन कर्म से जीव क्या प्राप्त करता है, इसका विस्तार से विवेचन[३७] और भगवान् के १०८ सार्थक नामों[३८] की सूची विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इन विषयों के विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि कवि ने इस 'पार्श्वनाथचरितम्' में यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ के दश भवों का विशेष रूप से वर्णन किया है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रसंगों में जैनधर्म एवं दर्शन के अनेक गूढ़ सिद्धान्तों तथा आचार सम्बन्धी विषयों का सांगोपांग वर्णन

करने से पाठक मात्र इसी ग्रन्थ के अध्ययन से संक्षेप में जैनधर्म के विविध पक्षों को हृदयंगम कर सकता है।

कमठ के बैर का अन्त और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

कवि ने अन्त में भगवान् के दिव्य उपदेश के प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि-कमठ के जीव उस ज्योतिष्क देव ने भगवान् की दिव्य-ध्वनि रूपी अमृत को पीकर अनन्त भव से उत्पन्न मिथ्या बैर रूपी विष को नष्ट कर दिया तथा जगत् के स्वामी श्री पार्श्व जिनेन्द्र को नमस्कार कर चन्द्रमा के समान निर्मल, शंकादि दोषों से रहित मुक्ति के उत्कृष्ट बीज स्वरूप सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया ।[३९] इससे स्पष्ट है कि महापापी जीव भी जिनेन्द्र वाणी के प्रभाव से आत्म-कल्याण करने में समर्थ है।

भगवान् पार्श्वनाथ का लोक व्यापी प्रभाव

लोक में पूजा और प्रतिष्ठा वही व्यक्ति प्राप्त करता है जो जन-जन के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लोकमंगल के कार्य करता है। यतः भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् कुरु, कौशल, काशी, सह्य, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्रदेश तथा दशार्ण आदि अनेक स्थानों में विहार करके जीवों को सन्मार्ग का उपदेश दिया था[४०], अतः वे जन-जन के प्रिय बन गये। उनका प्रभाव लोकव्यापी हो गया। वे लोक पूजित हो गये। भगवान् पार्श्वनाथ के लोकव्यापी प्रभाव का उल्लेख करते हुये श्री बलभद्र जैन ने लिखा है कि - भगवान् पार्श्वनाथ का सर्वसाधारण पर कितना प्रभाव था, यह आज भी बंगाल, बिहार, उड़ीसा में फैले हुए लाखों सराकों, बंगाल के मेदिनीपुर जिले के सद्गोपों, उड़ीसा के रंगिया जाति के लोगों, अलक बाबा आदि के जीवन-व्यवहार को देखने से चलता है। यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ को लगभग पौने तीन हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और ये जातियां किन्हीं बाध्यताओं के कारण जैनधर्म का परित्याग कर चुकी हैं, किन्तु आज भी ये जातियां पार्श्वनाथ को अपना आद्य

कुलदेवता मानती हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश परम्परागत रूप से इन जातियों के जीवन में अब तक चले आ रहे हैं। पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों के संस्कार इनके जीवन में गहरी जड़ जमा चुके हैं। इसलिये ये लोग अहिंसा में पूर्ण विश्वास करते हैं, मांस भक्षण नहीं करते, जल छान कर पीते हैं, जैन तीर्थों की यात्रा करते हैं, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर की उपासना करते हैं।'[४१] आगे वे लिखते हैं कि उनके लोक-व्यापी प्रभाव का ही यह परिणाम है कि तीर्थंकर मूर्तियों में सर्वाधिक मूर्तियां पार्श्वनाथ की ही उपलब्ध होती हैं और उनके कारण पद्मावती देवी की भी इतनी ख्याति हुई कि आज भी शासन-देवियों में सबसे अधिक मूर्तियां पद्मावती की ही मिलती हैं।[४२]

इसी प्रसंग में दिल्ली के दिगम्बर जैन लाल मन्दिर और वाराणसी के भेलूपुर स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर में स्थापित पद्मावती देवी की मूर्तियों की पूजा-प्रतिष्ठा भी उल्लेखनीय है। साथ ही अन्य अनेक नगरों के जैन मन्दिरों में पद्मावती देवी की स्थापना के मूल में भी भगवान् पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव ही कारण है।

'पद्मावती कल्प' आदि ग्रन्थों की रचना और उनके माध्यम से तन्त्र-मन्त्रों की सिद्धि द्वारा लौकिक सम्पत्ति की प्राप्ति आदि के मूल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की ही भक्ति कारण कही जा सकती है।

ऐसे लोक पूजित भगवान् पार्श्वनाथ की शतशः वन्दना करता हुआ मैं अपनी बात समाप्त करता हूं।

संदर्भ-

१. जैन साहित्य का इतिहास (सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भाग १, पृष्ठ ४५२.

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृष्ठ ३२९-३३०

३. द्रष्टव्य, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (परमानन्द शास्त्री), भाग २, पृष्ठ ४९२-९३

४. वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन (डॉ. जयकुमार जैन), पृष्ठ २

५. पार्श्वनाथचरितम् १/६८ (हिन्दी अनु. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. श्री महावीर जी)
६. वही, १/७१-७२
७. वही, १/८६-८९
८. वही, १/९०
९. वही, १/९३-९४
१०. वही, २/२८-३८, ५/९
११. वही,, ३/३७-५९, ५/१०-११, १७/२८-३२
१२. वही, ५/५०
१३. वही, ५/५३
१४. वही, ५/६१
१५. वही, ६/१०५
१६. वही, ७/५६-६०
१७. वही, ७/६१-६९
१८. वही, ७/४९-५०
१९. वही, ७/९६
२०. वही, ८/३३-४३
२१. वही, ८/६३-७०
२२. वही, ८/७३-९७
२३. वही, १०/९१-१०९
२४. वही, ११/२८-३७
२५. वही, ११/७२-१०३
२६. वही, ११/१०४-१०५
२७. वही, ११/१०६
२८ वही, ११/१०८
२९. वही, १२/५६-६५
३०. वही, १३/६७-१००

३१. वही, १४/४५-५२

३२. वही, १५/२-१३६

३३. वही, १७/२८-३२

३४. वही, १७/३३-४१

३५. वही, १८/११-२१

३६. वही, १८/४५-१५५

३७. वही, २१/४२-१११

३८. वही, २२/४९-६३

३९. वही, २२/१५-१६

४०. वही, २३/१८-१९,

४१. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३६०

४२. वही, भाग १, पृष्ठ ३६१.

जैन स्तोत्र और भगवान पार्श्वनाथ

– डॉ. कपूरचंद जैन*

भारतीय धर्मों/दर्शनों में जैन-धर्म/दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही एक दर्शन है जो पूर्णत: व्यक्ति स्वातन्त्र्य की घोषणा करता है। जैन धर्म/ दर्शन की प्राचीन भाषा प्राकृत रही है। प्राकृत भाषा में स्तोत्र के लिए 'थुई' और 'थुदि' इन दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। संस्कृत में स्तोत्र के लिए 'स्तुति', 'स्तव', स्तवन', 'स्तोत्र' आदि शब्द व्यंवहृत है। प्रारम्भ में 'स्तुति' और 'स्तव' में अन्तर था। यथा "एक: श्लोक: दौ श्लोकौ, त्रिश्लोका: वा स्तुतिर्भवति परतश्चंतु: श्लोकादि: स्तव: । अन्येषामाचार्याणां मतेन एक श्लोकादि: सप्तश्लोकपर्यन्ता स्तुति: ततः परमष्टश्लोकादिका: स्तवा:"[1]

इसी प्रकार 'स्तव' तथा 'स्तोत्र' में भेद बताते हुए कहा गया है कि 'स्तव' गंम्भीर अर्थ वाला और संस्कृत भाषा में निबद्ध होता है तथा 'स्तोत्र' विविध छन्दों वाला और प्राकृत भाषा में निबद्ध होता है।[2] आजकल यह अन्तर समाप्त प्राय: है और 'स्तुति', 'स्तव', 'स्तवन', 'स्तोत्र' आदि शब्द समानार्थी हो गये हैं।

स्तोत्र पाठ से चित्त में निर्मलता आती है, कर्म बन्ध सकता है और पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में एक रोचक संवाद मिलता है -

'थवथुइंमंगलेण भन्ते! जीवे किं जणयइ' थवथुइमंगलेण नाणदंसण चरित्र बोहिलाभ जणयइ। नाण दसणचत्रि बोहिलाभ - सम्पन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पाविमाणेव वत्तिगं आराहणं आराहेइ'[3]

---

* अध्यक्ष संस्कृत विभाग, श्री कुन्दकुन्द जैन पी.जी. कालेज, खतौली

अर्थात् जीव 'स्तव' और 'स्तुति' रूप मंगल से ज्ञान, दर्शन, चरित्र की बोधि का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान दर्शन चरित्र के बोधिलाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है या वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्तुति को प्रशस्त परिणाम उत्पादिका कहा है - 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल परिणामाय स तदा'[४]। विद्वानों ने 'पूजाकोटिसमं स्तोत्रम्' कहकर एक स्तोत्र के फल को एक करोड़ पूजा के फल के समान बताया है।

स्तोत्र माठ से पुण्य का अर्जन केवल मुनष्य ही नहीं देवता भी करते हैं। नन्दीश्वर द्वीप के बावन मिनालयों में देव सदैव पूजा अर्चना किया करते हैं। ऐसे में स्तोत्रादि का पाठ स्वभाविक ही है। पं. जुगल किशोर मुख्तार ने भावपूजा को स्तुति ही कहा है[५]। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ा प्रमाण आ. मानतुंग का है। वे भक्तामर में कहते हैं - मैं उस जिनेन्द्र की स्तुति करता हूं, जो देवताओं द्वारा चित्त को हरण करने वाले स्तोत्रों के द्वारा संस्तुत हैं।

यः संस्तुतः सकल वाङ्मय तत्त्वबोधा -
दुदभूत बुद्धिः पटुभिः सुरलोकनाथैः।[६]

आचार्य समन्तभद्र ने स्तोत्र का उद्देश्य पापों को जीतना बताया है -

श्रीमज्जिनपदाभ्यासं प्रतिपद्याऽऽगसां जये।
कामस्थान प्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये।[७]

आचार्य मानतुंग ने भी स्तुति को पापनाशक बताया है -

त्वत्संस्तवेन भव सन्तति सार्त्रबद्वं।।[८]
पापं क्षणत् क्षयमुपैति शरीर भाजाम्[८]

इतना ही नहीं भक्ति या स्तोत्र पाठादि से तीर्थंकर प्रकृति का भी बन्ध होता है। जैन साहित्य में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के जो १६ कारण बताये गये हैं, उनमें एक कारण अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भी है। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगलक्षण करते हुए लिखा गया है-

"काले पाठः स्तवो ध्यानं शास्त्रे चिन्ता गुरौ नतिः
यत्रोपदेशना लोके शास्त्रज्ञानोपयोगता।।"

अर्थात् योग्य काल में पाठ स्तवन और ध्यान करना, शास्त्रों का मनन करना, गुरू को नमन करना और उपदेश देना इन्हें लोक में अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं।

ये सभी स्तुति या स्तोत्र के पारलौकिक फल हैं। स्तोत्र या स्तुति का इहलौकिक फल भी चिन्तय है। अधिकांश व्यक्ति किसी इहलौकिक फल की इच्छा करते हुए भी स्तोत्र पाठ करते देखे जाते हैं। शास्त्रों में स्तोत्र पाठ से इहलौकिक फल प्राप्ति का भी कथाओं के माध्यम से उल्लेख है। 'उवसग्गहर स्तोत्र' जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, उपसर्ग निवारणार्थ रचा गया है। 'विषापहार' विषहरण के लिए, 'एकीभाव' कुष्टनिवारणार्थ, 'भक्तामर' बन्दीग्रह से मुक्ति के लिए, 'कल्याण मंदिर' कल्याण प्राप्ति के लिए रचा गया है। इस तरह हर स्तोत्र की अलौकिक महिमा का वर्णन तत्-तत् स्थानो पर किया गया है। एक-एक पद्य की महिमा का भी वर्णन उपलब्ध होता है। भक्तामर के ४८ काव्यों में प्रत्येक के अलग-अलग प्रयोजन बताये गये हैं।

जैन तीर्थंकर या भगवान तो वीतरागी होते हैं वे प्रशंसा करने पर कुछ देते नहीं और आलोचना करने पर कुछ लेते नहीं हैं। वे किसी के पापों का नाश नहीं करते और न किसी को मुक्ति वधू का वरण कराते हैं। फिर उनसे ऐसी प्रार्थनायें क्यों की जाती हैं, उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व का आरोप क्यों किया जाता है। इसका उत्तर कल्याण मंदिर स्तोत्रकार ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में दिया है। यथा -

'हृद्वार्तिनि त्वार्य विभो' शियलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निविडा आर्य कर्मबन्धाः।
सघः भुजगंममया इव मध्यभाग
मम्यागते वनशिखाण्डेनि चन्दनस्य।[१]

अर्थात् प्रभो! हृदयमंदिर में आपके विराजमान रहने पर निविड भी कर्मबंन्ध शिथिल हो जाते हैं, जैसे चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने पर, उससे लिपटे हुए सर्प ढीले पड़ जाते हैं। कारण यह है कि स्तोत्रों में जिन तीर्थंकरों या पुण्यात्मा पुरुषों की स्तुति की जाती है, वे सभी कर्मजेता हुए हैं। उन्होंने अज्ञान काम-क्रोधादि प्रवृत्तियों पर पूर्णतः विजय प्राप्त की है, उनके हृदय -मंदिर में विराजमान रहने पर पाप खड़े नहीं रह सकते। यह भी कह सकते हैं कि इन पुण्य पुरुषों के ध्यान से अत्मा का शुद्धात्म स्वरूप सामने आता है और स्तोता उसे प्राप्त करने को बेचैन हो उठता है। पाप परिणति नष्ट हो जाती है और वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। मुक्त हो जाता है।

जैन स्तोत्रकारों के उपास्य यद्यपि सभी तीर्थंकर पुण्य पुरुष समान रूप से हैं तथापि ऋषभदेव और पार्श्वनाथ को आधार बनाकर अधिकांश स्तोत्र रचे गये हैं। इनमें भी पार्श्वनाथ परक स्तोत्र ही अधिक हैं। जिन स्तुति/स्तोत्रों में चौबीसों तीर्थंकरों या महापुरुषों की स्तुति की गई है उनमें भी पार्श्वनाथ की स्तुतिपरक पद्यों की संख्या अन्य की अपेक्षा अधिक रहती है। इसका कारण क्या है। हमारी अल्प बुद्धि में तो यही कारण समझ में आता है कि जैसा कि आज भी लोक में यह धारणा प्रचलित है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ विघ्नों का नाश करने वाले हैं। लोक में आज भी पार्श्वनाथ की छवि विघ्नविनाशक के रूप में प्रख्यात है यही कारण है कि पार्श्वनाथ के साथ - 'विघ्नविनाशक', 'विघ्न हर' जैसी उपाधियां लग गई हैं। वीतरागी देव पार्श्वनाथ के साथ ऐसी उपाधियां कब और कैसे जुड़ गईं यह अनुसन्धान का विषय है।

प्राचीनतम जैन स्तोत्रों में कुन्दकुन्द कृत 'तित्थया शुद्धि' तथा 'सिद्ध भक्ति' की गणना की जाती है। भद्रबाहु[१०] के नाम से प्रचलित 'उवसग्ग हर स्तोत्र' भी अति प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। संस्कृत स्तोत्रकारों में आचार्य समन्त भद्र अग्रगण्य हैं। इनके 'स्वयम्भू स्तोत्र' 'देवागम स्तोत्र', 'मुक्त्यनुशासन', जिन स्तुति शतक' अति प्रसिद्ध हैं।

आचार्य मातुंग कृत 'भक्तामर स्तोत्र' समाज में बहुप्रचलित स्तोत्र हैं। इसके बाद प्रसिद्धि की दृष्टि से जिस स्तोत्र का नाम आता है वह है - 'कुमुद चन्द्र' कृत कल्याणमंदिर स्तोत्र। इसके ४४ पद्यों में अन्तिम पद्य को छोड़कर शेष सभी पद्य वसन्ततिलका छन्द में हैं। कुमुदचंद्र का समय बारहवीं शताब्दी माना गया है। अन्य स्तोत्रों के अधिकांश पद्यों की रचना ऐसे शब्दों में होती है जिन्हें किसी भी तीर्थंकर की स्तुति में घटाया जा सकता है। पर कल्याण मंदिर में अधिकांश पद्य ऐसे हैं, जो ती. पार्श्वनाथ पर ही घटते हैं। दूसरे ही पद्य में कवि कहता है कि -

तीर्थेश्वरस्य कमठस्मण धूमकेतौ:
तस्यामेव किल संस्तवन करिष्ये

मैं उस तीर्थंकर की स्तुति कर रहा हूं जो कमठ के मान का मर्दन करने वाले हैं।

कल्याणमंदिर की शैली समास रहित और प्रसाद गुण मण्डित है। आरम्भ में कवि अपनी विनय प्रकट करते हुए कहता है हे स्वामी! मेरे जैसे मनुष्य सामान्य रूप से भी आपके स्वरूप का वर्णन करने के लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं? ढीठ भी उल्लू का बच्चा जो दिन में अन्धा रहता है, क्या सूर्य-रूपे-वर्णन में समर्थ हो सकता है।

सामान्यतो ऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप
मस्मादृश। कथमधीश! भवन्त्यधीशा।।
घृष्टोऽपि कौशिक-शिशुर्यदि वा दिवान्धो
रूपं प्ररूपयति किं किल धर्म रश्मे।।"

आराधना किसी की भी हो एकाग्रता के बिना कभी सफल नहीं होती। इस कथन के आलोक में कवि का कहना है कि हे जनबन्धु! मैं आज तक मोक्ष लक्ष्मी का भर्ता नहीं बना हूं इसका कारण यही है कि आपका नाम सुनने पर भी, आपकी पूजा करने परी भी और आपको देखने पर भी मैंने भक्तिपूर्वक आपको धारण नहीं किया। क्रिया के फलदायक न होने में भाव हीनता ही मुख्य कारण है -

आकर्णितो ऽपि मार्हतो ऽपि निरीक्षतो ऽपि
नूनं न चेतासि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातो ऽस्मि तेन जन बान्धव दु:ख पात्रं
यस्मा त्क्रिया प्रति फलन्ति न भावशून्या:।।[12]

पार्श्वनाथ विषयक अन्य स्तोत्रों में प्रमुख हैं :

१. विद्यानन्द (आठवीं शती) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र
२. इन्द्रनन्दि (लगभग १०५० ई.) पार्श्वनाथ स्तोत्र
३. राजसेन (ल. ११५० ई.) पार्श्वनाथाष्टक
४. पदमप्रभ मलधारी (११६७-१२१७ ई.) पार्श्वनाथ (लक्ष्मी) स्तोत्र
५. विद्यानन्दि (११८१ ई.) पार्श्वनाथ स्तोत्र
६. धर्मवर्धन (ल. १२०० ई.) षडभाषा निर्मित पार्श्वजिन स्तवन
७. महेन्द्रसूरी (१२३७ ई.) जीरावतली पार्श्वनाथ स्तोत्र
८. पद्मप्रभ (१२३७ ई.) पार्श्वस्तव
९. जिनप्रभ सूरि (१२९५-१३३३ ई.) पार्श्वनाथ स्तव
१०. नयचन्द्र सूरि (ल. १४वी शती) स्तम्भ पार्श्वस्तव
११. पद्मनन्दि भट्टारक (१३६०-९५ ई.) रावण पार्श्वनाथ स्तोत्र जीरावतली पार्श्वनाथ स्तवन

कल्याण मंदिर की पादपूर्ति में रचित पार्श्वनाथ विषयक स्तोत्र हैं :

अज्ञात कर्तृक - पार्श्वनाथ स्तोत्र

अज्ञात कर्तृक - वीर स्तुति

अज्ञात कर्तृक - विजयानन्द सूरीश्वर स्तवन

इस प्रकार हम देखते हैं कि भ. पार्श्वनाथ को आधार बनाकर सर्वाधिक स्तोत्रों की रचना हुई है और लगभग सभी स्तोत्रों में उनकी स्तुति

की गई है। पार्श्वनाथ को जैन लोक देवता के रूप में पहले भी माना जाता था और आज भी माना जा रहा है।

संदर्भ

१. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, पृ. ५५१

२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, पृ. ५५१

३. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २९ सूत्र १४ अनु. मुनि नथमल, प्रका. जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, कलकत्ता

४. स्वयम्भू स्तोत्र २१/१

५. स्तुति विद्या, भूमिका, पृष्ठ १०

६. भक्तामर स्तोत्र, ३

७. स्तुति विद्या, १

८. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ०७

९. कल्याण मंदिर स्तोत्र, पद्य संख्या ८

१०. ये भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न माने गयें हैं।

११. कल्याण मंदिर, पद्य ३.

१२. कल्याण मंदिर, पद्य ३८.

अपभ्रंश भाषा के पार्श्वनाथचरित - एक विमर्श

*- श्रीमति सरोज जैन**

अपभ्रंश भाषा में २४ तीर्थंकरों की स्तुति एवं धर्मोपदेश के वर्णनों के अतिरिक्त उनके जीवन चरित भी लिखे गये हैं । भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन पर अपभ्रंश भाषा में अब तक ७-८ ग्रन्थों का पता चला है। उनमें से प्रकाशित बहुत कम हुएं हैं। इन सब अपभ्रंश के पार्श्वनाथ चरितों में उपलब्ध सामग्री कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रसतुत आलेख में निम्नांकित अपभ्रंश भाषा के पार्श्वनाथचरितों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है, जो आगामी शोधकार्य के लिए उपयोगी हो सकता है -

१. पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), प्रकाशित, १०वीं शती
२. पासणाहचरिउ (देवदत्त), अप्रकाशित, ११वीं शती
३. पासणाहचरिउ (विवुधश्रीधर), अप्रकाशित, १२वीं सदी
४. पासणाहचरिउ (देवचन्द्र), अप्रकाशित, १५वीं सदी
५. पासणाहचरिउ (रइधु), अप्रकाशित, १५वीं सदी
६. पासणाहचरिउ (असवाल कवि), अप्रकाशित, १५वी सदी
७. पासपुराण (तिजपाल), अप्रकाशित, १५वीं सदी

इन महत्वपूर्ण ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में अभी उपलब्ध हैं।[१] उनकी सुरक्षा एवं कम्प्यूटर प्रणाली से प्रतियां कराना समाज का प्रथम दायित्व है और इनका सम्पादन कर मूल्यांकन करना विद्वानों का परम कर्तव्य है।

* उदयपुर

१. पासणाहचरिउ – पद्मकीर्ति

अपभ्रंश भाषा में लिखित यह पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित) १८ सन्धियों में विभक्त है।[1] इसमें विविध छन्दों में लिखित ३१० कड़बक तथा लगभग ३३२३ पंक्तियां हैं।[2] ग्रन्थ में कवि ने परम्परा प्राप्त कथानक को ही अपनाया है। इसकी प्रथम सन्धि में मगधदेशस्थ पोदनपुर नगर के राजमन्त्री विश्वभूति के कमठ और मरुभूति नामक पुत्रों, कमठ द्वारा मरुभूति की पत्नी के साथ अनुचित व्यवहार, राजा द्वारा कमठ का नगर से निर्वासन, मरुभूति का कमठ द्वारा मार डालना तथा मरणानन्तर मरुभूति का अषनिघोष (वज्रघोष) नामक हाथी होने का वर्णन किया गया है। द्वितीय सन्धि में राजा अरविन्द को मुनि दीक्षा धारण करने का वर्णन है। तृतीय सन्धि में राजा की तपश्चर्या, विहार तथा अषनिघोष हाथी को उपदेश देना आदि वर्णित किया गया है। चतुर्थ सन्धि में अषनिघोष को कुक्कट सर्प द्वारा काटा जाना मरणानन्तर स्वर्ग प्राप्ति और कुक्कट सर्प को नरक प्राप्ति होने का चित्रण किया गया है। पंचम संधि में मरुभूति के जीव का स्वर्ग से चयकर अपर विदेह में राजा होना, कमठ के जीव का नरक से निकलकर भील होना तथा भील द्वारा तपस्या में लीन राजा को मार दिये जाने का वर्णन है। राजा का जीव मरणानन्तर ग्रेवेयक मे और भील मरकर नरक जाता है। षष्ट सन्धि में मरुभूति का जीव ग्रेवेयक से चयकर विदेह क्षेत्र के विजयदेश का राजा कनकप्रभ होना वर्णित है। सप्तम सन्धि में कनकप्रभ राजा द्वारा धारण की गई मुनिदीक्षा की प्रशंसा, उनका ध्यानास्थ होना, नरक से चयकर सिंह पर्याय में उत्पन्न कमठ के जीव द्वारा कनकप्रभ पर आक्रमण, फलस्वरूप कनकप्रभ का मरण आदि का वर्णन किया गया है।

यहां तक तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का वर्णन किया गया है। अष्टम संधि से पार्श्वनाथ का वर्णन प्रारंभ होता है।

अष्टम से अष्टादश सन्धि तक हयसेन और वामा के गर्भ से पार्श्वकुमार की उत्पत्ति, यवनराज का छोड़ा जाना, कुमार पार्श्व द्वारा

कमठ के जीव ब्राह्मण कुलोत्पन्न मिथ्या तापसी मिथ्या तप से अलग होने की सलाह, तपस्या में लीन पार्श्वकुमार पर असुरेन्द्र कमठ के जीव द्वारा उपसर्ग, नागराज द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा, केवलज्ञान उत्पत्ति, असुरेन्द्र का पार्श्वनाथ की शरण में जाना और समवशरण का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ मे जैन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन हुआ है। कावयत्व की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह सम्वत् शक है या विक्रम। दक्षिण भारत में प्राय: शक सम्वत् का ही प्रयोग होता है। अत: इसे शक सम्वत ही मानना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थ का रचना काल सं. ९९९ (१०७७) ई. ठहरता है। जबकि ग्रन्थकार स्वयं सं. ९९९ का उल्लेख करते हैं। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि यह पासणाहचरिउ, वादिराज सूरि के पार्श्वनाथ चरित्र से पश्चादवर्ती हैं

२. पासणाहचरिउ – देवदत्त

अपभ्रंश के चरित काव्यों में डा. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने देवदत्त के पासणाह चरिउ (पार्श्वनाथ चरित) का उल्लेख किया है। इनकी कृर्ति और इनका अपना परिचय उपलब्ध नहीं होता है। जम्बू स्वामी के रचयिता महाकवि वीर के पिता का नाम देवदत्त था। देवदत्त अपभ्रंश के अच्छे विद्वान थे। महाकवि वीर ने अपभ्रंश साहित्य में अपने को प्रथम, पुष्पदन्त को द्वितीय तथा अपने पिता को देवदत्त को तृतीय स्थान प्रदान किया है संभव है यही देवदत्त पासणाहचरिउ के रचयिता हों।

३. पासणाहचरिउ – विबुध श्रीधर

पासणाहचरिउ अपभ्रंश में लिखित पौराणिक महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु १२ संधियों में विभक्त है। ग्रन्थ २५०० पद्य प्रमाण हैं। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित निबद्ध है। काव्यत्व की दृष्टि से यह उत्तम कोटि की रचना है। नदियों, नगरों आदि का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया गया है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है तथा भाषा आलंकारिक है। कथावस्तु परम्परा प्राप्त है। अपभ्रंश एवं संस्कृत-साहित्य

में ७ श्रीधर विद्वानों का उल्लेख मिलता है कवि श्रीधर विबुध की माता का नाम वील्हा और पिता का नाम बुधगोल्ह था। पार्श्वनाथ चरित (पासणाहचरिउ) में कवि ने ग्रन्थ का रचनाकाल अंकित किया है अत: इनका समय विवादास्पद नहीं है पासणाहचरिउ की रचना वि. सं. ११८९ (११३२ ईस्वी) में मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी रविवार को पूर्ण हुई थी।

४. पासणाहचरिउ – देवचन्द्र

प्रस्तुत पासणाहचरिउ में ९९[11] संधियां और २०२ कडुवक हैं। देवचन्द्र ने अपभ्रंश में लिखित इस कृति में पार्श्वनाथ भगवान के पूर्वभवों के साथ उनके जीवन पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ अद्यावति अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति प. परमानन्द शास्त्री के निज़ि संग्रह में है। इसका लेखन काल वि. सं. १५४९ (१४९२ ई.) है। इसी की एक प्रति पासपुराण नाम से सरस्वती भवन नागौर में भी है। इनका रचना काल वि.स. १५२० (१४६३ ई.) है। प्रतिपूर्ण है[1]

५. पासणाहचरिउ – रइधु

इसकी कथावस्तु ७ सन्धियों में विभक्त है। रइधु की समस्त कृतियों में अपभ्रंश भाषा का यह काव्य श्रेष्ठ सरस एवं रुचिकर है। इसमें संवाद प्रस्तुत करने का ढंग बड़ा ही सुन्दर तथा नाटकीय है। ये संवाद पात्रों के चरित्र चित्रण में प्रर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। रइधु के पासणाहचरिउ की अनेक हस्तलिखित प्रतियां कोटा, ब्यावर, जयपुर, आगरा के ग्रन्थ भण्डारों में भरी पड़ी हैं जिससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और महत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है[2]। डॉ. राजारामजी जैन ने इनका समय वि. सं. १४५७-१५३६ (१४००-१४७९ ई.) माना है[3]।

६. पासणाहचरिउ – असवालकवि

अपभ्रंश भाषा में निबद्ध ग्रन्थ १३ सन्धियों में विभक्त है। कथावस्तु परम्परागत है। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का पूर्व ९ भवों सहित वर्णन किया

गया है। कमठ का जीव मरूभूति के जीव से ९ भवों तक निरन्तर बैर करता रहता है। १०वे भव में मरुभूति का जीव तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में आत्मकल्याण करता है। पार्श्वनाथ ३० वर्ष की आयु में दीक्षा धारण कर लेते हैं और कठिन तपस्या करने के फलस्वरूप सम्मेद शिखर पर निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस ग्रन्थ की एक ही हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है, जो श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर कटरा आगरा में है। इन्होंने मूलसंघ वलात्करगण के आचार्यों का उल्लेख किया है। अतः जान पड़ता है कि वे इसी से संबद्ध थे। ग्रन्थ रचना चौहानवंशी राजा पृथ्वी सिंह के राज्यकाल में वि.सं. १४७९ (१४२२ ई.) में हुई थी[१]।

७. पासपुराण – तेजपाल

पासपुराण पद्धड़िया छन्द में लिखित एक खण्डकाव्य है। ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रतियां भट्टारक हर्षकीर्ति भंडार अजमेर बड़े घड़े का मन्दिर अजमेर तथा आमेरशास्त्र भण्डार जयपुर में है[२]। बड़े घड़े का मन्दिर अजमेर तथा अमेरशास्त्र भण्डार जंयपुर की प्रति का रचनाकाल क्रमशः वि.सं. १५१६ और १५७७ (१४५९ और १५२० ई.) है[३]। कवि तेजपाल मूलसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति, भुवनकीर्ति और विशालकीर्ति की आम्नाय से संबंधित थे। इन्होंने पासपुराण की रचना मुनि पद्मनन्दि के शिष्य शिवनन्दि भट्टारक के संकेत से वि. सं. १५१५ (१४५८ ई.) में की थी।

भगवान पार्श्वनाथ के जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने वाले अपभ्रंश भाषा के ये चरित ग्रन्थ प्रकाश में आने चाहिएं, उससे भ. पार्श्व के जीवन की छवि और अधिक प्रकाशवान होगी। इन ग्रन्थों में अंकित मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के अनेक नये पक्ष भी उजागर हो सकते हैं।

संदर्भ

१ (क) देवेन्द्र कुमार शास्त्री, अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां
(ख) जयकुमार जैन, पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, १९८७

२. पी.के. मोदी (सम्पा.), पासणाहचरिउ, अहमदाबाद, १९६५

३. पासणाहचरिउ संधि १८, कड़वक २०

४. डी०के० शास्त्री, वही, वृ. ३५

५. विमल प्रकाश जैन (सम्पा०) - जंबुसामिचरिउ, संधि १, कड़वक ४-५

६. अग्रवाल दिग. जैन मंदिर, मोतीकटरा, आगरा में पाण्डुलिपि उपलब्ध।

७. नेमीचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ.१३९

८. अपभ्रंश सा. की शो. प्र. पृ. १४७

९. वही, पृ. १४६

१०. महाकवि रइधु के साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ. १२०

११. अनेकान्त, वर्ष १३, किरण १० (१९५५, पृ. २५२

१२. वही, पृ. २११

१३. शास्त्री, डी.के., वही, पृ. २१०।

१४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. २१०।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा - के आलोक में भगवान् पार्श्वनाथ

– *डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन "भारती"**

नगेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीसं। शतेन्द्रं सु पूजै भजैं नाय शीसं।
मुनीन्द्रं गणेन्द्रं नमो जोडि हाथं। नमोदेवदेवं सदा पार्श्वनाथं।।

"तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा" डॉ. प्रेमसागर जैन द्वारा सम्पादित एक ऐसी महनीय कृति है जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की भक्ति में विभिन्न कवियों द्वारा रचित १०२ पद्यों का संकलन किया गया है। भक्ति भावना आधारित होती है कहते हैं "भावना भव नाशिनी, दुर्भावना भव वर्द्धिनी।" अर्थात् सद्भावना संसार का नाश करने वाली एवं दुर्भावना संसार को बढ़ाने वाली होती है। "अभिधान राजेन्द्र कोश" के अनुसार "भक्ति" शब्द "भज" धातु में स्त्री लिंग "क्तन्" प्रत्यय लगाने से बना है।[१] जिसका अर्थ भजना है। "शांडिल्य" के अनुसार - "आत्मरत्वविरोधेति शांडिल्यः" अर्थात् आत्मा में तीव्र रतिभाव होना ही भक्ति है।[२] श्री हेमचन्द्राचार्य ने "प्राकृत व्याकरण" में भक्ति को "श्रद्धा" कहा है।[३] आचार्य पूज्यपाद के अनुसार - "अर्हदाचार्येषु प्रवचने च भाव विशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः" अर्थात् अरहन्त, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन में भाव विशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है[४]।

भक्त और भगवान् को जोड़नेवाली भक्ति है जिसके प्रभाव से विष अमृत में बदल जाता है, बेड़ियों से जकड़ा व्यक्ति बन्धनमुक्त हो जाता है, अंजन निरंजन बन जाता है, कुत्ता देवगति पा लेता है, यहाँ तक कि भक्ति के बल से मनुष्य अष्टकर्मों का नाशकर सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है।

---

* बुरहानपुर

भक्त कवियों के लिए भगवान् पार्श्वनाथ सर्वाधिक इष्ट रहे हैं। उनका विश्वव्यापी प्रभाव, जन कल्याणी छवि, निरीह नाग-नागिन, जिन्हें लोग दुष्ट की संज्ञा देते हैं, उन्हें भी उपकृत करने वाला परोपकारी व्यक्तित्व, कामविजयी, क्षमाशील, घोरोपसर्गजयी, सिद्धपुरुष की छवि, ये सब ऐसे गुणात्मक कारक थे जिनसे भक्त कवियों की लेखनी को नवरूप मिला, फलतः अनेक रचनायें सृजित हुईं जिनमें भगवान् मार्श्वनाथ् का जीवन चरित एवं उनके प्रति भक्तिभावना मूर्तरूप लेकर प्रकट हुई हैं।

इस "तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा" में भगवान् पार्श्वनाथ सम्बन्धी निम्न तथ्य एवं भावनायें प्रकट हुई हैं ।

किसके हरिहर किसके ब्रह्मा किसके दिल में राम।
मोरा दिल में तू वस्यौं साहिब शिव नौ ठांम।।
माता वामा धन्न पिता जसुश्री अश्वसेन नरेश।
जनमपुरी बानारसी धन-धन कासी देस।।[५]

अर्थात् किसी के दिल में हरिहर (विष्णु), किसी के दिल में ब्रह्मा और किसी के दिल में राम रहते हैं, किन्तु मेरे दिल में शिवरूप हे पार्श्वनाथ! आप रहते हैं। आपकी माता वामादेवी और आपके पिता नरेश अश्वसेन धन्य हैं, जिन्होंने ऐसे पुत्र को जन्म दिया। वह नगरी वाराणसी और वह काशी देश भी धन्य है जहाँ आपका जन्म हुआ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ जीवन चरित

भ. पार्श्वनाथ के प्रति मन-वचन-काय से अनुरक्त भक्त कवियों ने भगवान् पार्श्व के जीवन चरित को बड़े ही अनुराग से शब्दों के सांचे में ढाला है।. श्री किशन सिंह ने इस एक ही पद्य में भ. पार्श्वनाथ प्रभु के जीवन चरित को शब्दांकित किया है।-

अश्वसेन नृप पिता देवी वामा सुमाता।
हरितकाय नव हाथ वरषशस्त आयु विख्याता।।

वाराणसी सु जन्म वंश इक्ष्याकु मंझारी।
लछिन सरप जु वन्यों प्रभु उपसर्ग निवारी।।
गणधर जु भये दशज्ञान धर कोस पाँच समवादि मनि।
श्री पार्श्वनाथ मेटौ सदा कमठ मान वनदव अगनि।[६]

अर्थात् पार्श्व प्रभु के पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामा देवी था। उनकी काया हरितवर्ण की और नौ हाथ ऊँची थी। उनकी आयु १०० वर्ष की विख्यात थी। उनका जन्म वाराणसी में प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंश में हुआ था। उनका चिन्ह नाग था, जिसने प्रभु पर आये उपसर्ग को दूर किया था। उनका समवशरण पाँच कोस में फैला हुआ था और उनके गणधर दशज्ञान के धारी थे। हे पार्श्व प्रभु आप कमठ जैसे दुष्टों के मान को और इस संसार रूपी वन में लगी अहंकार रूपी दावाग्नि को सदैव मिटाते रहें।

जब पार्श्वप्रभु का जन्म हुआ तो सब ओर बधाइयां होने लगीं, मंगल गीत गाये जाने लगे। उनके जन्म से तीन लोक में यहाँ तक कि नरक में भी नारकियों ने कुछ समय के लिएँ शान्ति प्राप्त की। दौलतराम जी लिखते हैं कि:-

वामा घर बजत बधाई चलि देख री भाई ।टेक।
सुगुनरास जग-आस भरन तिन, जनै पार्श्व जिनराई।
श्री ह्री धृति कीरति बुद्धिलक्ष्मी, हर्ष अंग न माई।।
बरन-बरन मनि चूर सची सब, पूरत चौक सुहाई।
हा-हा हू-हू नारद तुम्बर, गावत श्रुति सुखदाई।चलि.।२।

तांडव नृत्य नटत हरिनट तिन, नख-नख सुरो न चाई।
किन्नर कर धर बीन बजावत, दृगमनहर छबि छाई।।चलि.।३।

दौल तासु प्रभु की महिमा, सुरगुरू चे कहिय न आई।
जाके जन्म समय नरकन में, नारकि साता पाई।[७] ।चलि.।४।

भ. पार्श्व का वर्ण अधिकांश कवियों ने श्याम वर्ण माना है।[८] उनका वंश उग्रवंश था[९] जब पार्श्वप्रभु का जन्म हुआ तो इन्द्र ने आकर जन्म कल्याणक का उत्सव मनाया तथा उनकी पूजा-अर्चना की।[१०]

भगवान् ने लकड़ी में जलते हुए नागनागिन को बचाकर उन्हें मंत्र सुनाया जिससे वे दोनों स्वर्ग में धरणेन्द्र एवं पद्मावती हुए।[११] कवियों ने वर्णन किया है कि :-

(क) जुगल नाग जिन जरत उबारे,
संकट दाह हरन की। सरन मोहि पास जिनंद सरन की।[१२]

(ख) जुगलनाग जिन जरत उबारे,
मन्त्र सुनायो नवकारी हो
तिन प्रसाद धरणेन्द्र पद्मावती
पायो पट सुभकारी हो।[१३]

(ग) जिन्ह के वचन उर धारत जुगल नाग,
भये धरनिन्द पद्मावती पलक में।[१४]

(घ) तौरि बिजमति करै इकचित्त सुसेवक तै धरणिंदा है।
तै जलती आगि निकाल्या नाग किया वम्भाग सुरन्दा है।[१५]
तौ चरणं आय रहूं लिपटां इकला अति केलि करंदा है।[१५]

(ङ) जुगल नाग जलते नौ दित्ता धरनि
ईस अधिकार, जग तेडा द्वारा कहंबा
प्रभु पारस अब चाह नदी वार।[१६]

(च) नाग इस नागिन कूं दयो नागराज पद
करूणा करि तारे ते कैते नारि नरो है।[१७]

इस प्रकार पार्श्व प्रभु ने नाग-नागिन का उद्धार किया।

जब पार्श्वप्रभु तपस्यारत थे तभी कमठ के जीव शंबर देव ने उन पर घोर उपसर्ग किया जिससे धरणेन्द्र ने आकर भगवान् के सिर पर सर्पफण

आच्छादित कर उपसर्ग निवारण किया उपसर्ग की स्थिति में पार्श्व प्रभु का ध्यान अविचलित रहा। कवि रूपचन्द ने लिखा है कि -

(क) कमठ-कृत उपसर्ग सर्गनि, अचलित योग विचार।।
फणिप पद्मावती पूजित पाद पदम् दयालु।[१८]

(ख) खुशाल चन्द काला ने लिखा है कि
कमठ मान भंजन करि प्रभुजी, राख्या मन अतिभारी हो[१९]

(ग) कवि जगतराम ने लिखा है कि :
हो पारस जिन भविकंज बोधदिन,
उपसर्ग कौं दलन असरन कौं सरन।
कमठ जुं कोप करि रजषेषी तुम पर,
तेरी कहं छाया हू कौ लैसहु न अवरन, जै जै हो।।
अतिघन बरसायो मूसलसी धार छायौ
विकट गरज बीज़ झंझाबात कौ धरन।
प्रेत वज्र कों पठायौ गरे रूंडमाल धायौ
षरे के समुष आगे देषत भयंकरन, जै जै हो।।
तब शेषनाग आयौ फण को सुछत्र छायौ
तुम ध्यान उर लायौ करम गन हरन।
गयान परकास भयौ कमठ निरास थयौ
जगतराम दास नयौ निषि वर चरण, जै जै हो।[२०]

अर्थात् हे पार्श्व प्रभु, भव्यजन रूपी कमलों को खिलाने के लिए तुम सूर्य के समान हो। तुम उपसर्गों को नष्ट करते और अशरण को शरण देते हो। कमठ ने क्रोध करके आप के ऊपर जो धूल फेंकी थी, उससे आपके शरीर की छाया का लेश भी अवर्ण न हो सका। उसने बादल लाकर मूसलाधार वर्षा की, साथ ही भयंकर गर्जन, बिजली की चमक और तूफानी हवा से आफत बरसा कर दी। उसने वज्र नाम के प्रेत को भेजा जो अपने गले में खण्डमाला धारण कर आपकी तरफ दौड़ा, किन्तु उसके सम्मुख पहुँचते ही भयभीत हो उठा, हे प्रभु आपकी जय हो। उसी समय शेषनाग

आ गया और उसने अपने फण का छत्र आपके ऊपर लगा दिया। तब आपने कर्मों के समूह को हरने वाले शुक्ल ध्यान को धारण किया। तत्काल केवलज्ञान का प्रकाश हो उठा और कमठ निराश होकर थक गया। कवि जगतराम का कथन है कि फिर वह असुर आपके श्रेष्ठ चरणों पर दृष्टि आरोपित करता हुआ दास की तरह झुक गया।

अनन्तर समवशरण में दिव्य ध्वनि के माध्यम से जीवों का परमउपकार करते हुए अन्त में पार्श्व प्रभु ने सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त किया। यह तिथि मोक्ष सप्तमी के नाम से प्रसिद्ध है।

भगवान् पार्श्वनाथ के विशेषण

भगवान् पार्श्वनाथ के अनेक विशेषण भक्त कवियों ने उल्लिखित किये हैं जो उनकी चरित्रिक विशेषताओं को प्रकट करते हैं। जैसे -पतितपावन, पतित उद्धारक[२१], तीन लोकपति[२२], आनन्दकंद (आनन्द के जन्मदाता), पूनम-चन्द्र (पूर्णिमा के चंद्र) करम फंद हर्ता (कर्मों के फन्दे को हरनेवाले), भ्रम-निकंद (भ्रम को जड़मूल से नष्ट करने वाले), दुखहर्ता (दुखों का हरन करने वाले), सुख पूरक महाचैन दाता (सुख पूरित कर महाशान्ति देने वाले)[२३], कल्पवृक्ष, कामधेनु, दिव्य चन्तामणि[२४], तारनतरन[२५], कमठ महामद भंजन। (कमठ के महामद को नष्ट करने वाले), भविक रंजन (भव्य जीवों को आनन्दित करने वाले), पाप तमोपह भुवनप्रकाशक, (पाप रूपी अंधकार से ढके संसार को प्रकाशित करने वाले), भुविज-दिविज पति-दनुज-दिनेसर सेवित, नरेन्द्र, देवेन्द्र, दनुज (दानव) और सूर्य से सेवित, वामानन्दन (वामा देवी के पुत्र)[२६]। बनारसी दास जी ने उनकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि

करम-भरम जग तिमिर-हरन-खग,
उरग-लखन-पग-शिव-मग-दरसी।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविक जन सरसी।।

मदन-कदन-जित परम धरम हित,
सुमिरत भगत भगत सब डरसी ।
सजल जलद-तन मुकुट सपत फन,
कमठ-दलन जिन नमद बनरसी ।[२७]

अर्थात् संसार का अन्धकार - कर्मरूपी भ्रम, उसे हरने के लिए जो सूर्य के समान है, जिनके चरणों में शेषनाग झुका रहता है और जिन्होंने मोक्षमार्ग का दर्शन कर लिया है, ऐसे पार्श्व प्रभु की ओर देखते हैं तो आत्मरस बरसता दिखाई देता है, जिस से भव्यजन रूपी तालाब भरकर प्रफुल्लित हो उठता है। भगवान् परम धर्म के हेतु कामदेव को नष्ट कर जीत लेते हैं। भक्तजन जब उनका स्मरण करते हैं तो सब भय दूर भाग जाते हैं। उन प्रभु का शरीर जल भरे बादल के समान कान्तिवान् है, उनके सिर पर सात फण वाले सर्प का मुकुट लगा रहता है। वे कमठ नाम के असुर को दल डालते हैं। कवि बनारसी दास उनके चरणों में नमस्कार करते हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ की विशेषताओं को कवि रूपचन्द ने इस रूप में वर्णित किया है।

सकल विकार रहित बिन अम्बर सुन्दर सुभ करनी।
निराभरण भासुर छवि लाजत कोटि रतन तरनी।।
वसुरस रहित शांत रस राजत बलि यह साधपनी ।
जाति विरोध जंतु जिह देखत तजत प्रकृति अपनी।
दरसन दुरित हरे भव-संकट सुर-नर मर-मोहनी ।
रूपचन्द कहा कहौ महिमा त्रिभुवन मनी।।
प्रभु तेरी मूरति रूप बनी।।[२८]

अर्थात् हे प्रभु तुम सम्पूर्ण विकारों से रहित दिगम्बर हो। तुम्हारे कार्य पवित्र हैं। आभरण रहित तुम्हारी छवि ऐसी चमकती है कि कोटि-कोटि रत्नों की चमक भी फीकी पड़ जाती है। आठ रस रहित केवल शान्त रस ही तुम में विराजता है। मैं तुम्हारे इस साधुपन पर बलिहार होता हूँ।

आपके दर्शन करते ही जन्तु अपना जातिगत विरोध छोड़ देते हैं। आपका दर्शन देव और मनुष्य दोनों के मन को मोहित करता है तथा पाप और संसार की बाधाओं को हरने वाला है।" हे त्रिभुवन के मुकुटमणि अर्थात् तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट रूपचन्द आपकी महिमा का क्या वर्णन करे, वह तो वर्णनातीत है।

ज्ञानपुंज[२९] सुरपति पूज्यपाद (इन्द्रों द्वारा पूजित चरण वाले), जन्म जलधितारन तरंड (जन्म रूपी समुद्र को पार करने में नौका के समान), परमाद्भुत सुख मणि करंड (परम अद्भुत सुखरूपी मणि की मंजुषा), निजानन्द दायक, दुखतिमिर नाशक दिनेश, नष्टमार (कामनाशक)[३०], सामरिया[३१] (श्यामवर्णी), मनमथ-मतंग - हरि[३२] (कामदेवरूपी हाथी के लिए सिंह), बिन स्नान नित्त निर्मल, अंतर-बाहिर सहज पवित्र, स्वयंबुद्ध, जगरक्षक, बिनकारन बन्धु, गुणसागर, अगम, अपार, अशरण-आधार, अतिशय भंडार, शिव संपत्तिकरन, तारनतरन[३३], भवि दधिपार उतारन हार, त्रिभुवणधर्णी[३४], शिवदेन हार, ज्ञानवंत[३५] इत्यादि विशेषण भक्तकवियों के स्फुट पद्यों में मिलते हैं जिनसे भगवान् पार्श्वनाथ के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कृतित्व का पता चलता है। वास्तव में उनका पूरा चरित विशेषणों से आपूरित है संसार का ऐसा कोई विशेषण-विभूषण नहीं है जो उनमें शोभायमान नहीं होता हो।

भ. पार्श्वनाथ की महिमा

भ. पार्श्वनाथ के नाम की महिमा अवर्णनीय है। उनके नाम जाप से उपसर्ग हरण, विषहरण एवं नागों का दमन हो जाता है। नागयोनि के देव सहायक होते हैं, विषपान अमृत में बदल जाता है। आपके नाम धारण से पाप-पंक धुल जाते हैं। यहाँ तक कि पारसमणि से जीव-लोहा कंचन सम बन जाता है। विषापहभस्त्रोत्र में अचलकीर्ति कहते हैं:-

उपसर्ग-हरन तुम नाग अमोल,
मंत्र जंत्र तुमहिं मन फोल।

जैसे वज्र परबत परहार,
तुम नाम मंत्र हो विषापहार।।
नाग-दमण तुम नाग सहाय,
विषधर विष नासन राय।
तुम सुमरै भव जो चित लाय,
विष पीवे अमृत हो जाय।
नाम सुधार सब रषै जहाँ,
पाप पंक मल नासै तहाँ।
जैसे पारस वैसे लोह,
तुम गुनत कंचन-सम होहि ।[३६]

और भी सिद्धियां पार्श्वनाम जपने, स्मरण करने से आती हैं। 'मनराम' कहते हैं कि :

पारस प्रभु तुम नाम जो सुमरे मन-वच-काय ।
बास पित्त कफ रोग सब छिन में जाँय पलाय।।
त्वं नाम मंत्र भूतादिक, व्यंतर नासे।
त्वं नाम मंत्र नहिं संपत्ति संग त्यागे।।
त्वं नाम मंत्र सेवत ही सिधि दासी।
त्वं नाम मंत्र आत्म अनुभव अभ्यासी।।
त्वं नाम मंत्र चिंतामणि रतन स्वामी।
त्वं नाम मंत्र ध्यावत होइ सुर्गगामी।।
त्वं नाम मंत्र प्रभु पासं जगत विष्याता।
त्वं नाम मंत्र प्रभु पार्स मोक्ष दाता।।
भवसागर अति ही गहृर, नाना दुख जल मांहि।
प्रभु तुम नाम जहाज बिन, आनि सरण कोई नाहिं।[३७]

दौलतराम जी कहते हैं कि उनके नाम-मंत्र का जाप करने से पापों का नाश होता है –

नाम-मंत्र जै जपें भव्य तिन, अद्यहित नशत अशेषा हैं।[३८]

जगतराम कहते हैं कि :

जगतराम पास ना जपो यों विचारि काम।
सबे सिद्धि होत पूज्यगुरू जीवतात रे।[३९]

अर्थात् भगवान् पार्श्व के नाम का जो कार्य विचार कर नाम जपता है उसे सर्व सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। पार्श्व प्रभु के नाम की ही महिमा है कि उनका जन्मस्थान आबाद है। निर्वाण स्थल के दर्शन किये बिना भक्तों का जीवन सफल नहीं होता।

तीर्थंकर पार्श्व प्रभु के नाम की महिमा का प्रभाव देखिये कि भक्तिभाव से प्रेरित होकर 'जगराम' कवि उन्हीं पार्श्वनाथ से कह उठते हैं कि - हे प्रभु पार्श्वनाथ इस बात की आस पूरी कर दो। आस (आशा) यही है कि आपके नाममंत्र का जाप करने के लिए मुझे एक जाप (माला) प्राप्त हो जायें। पंक्तियां द्रष्टव्य हैं।

पूरो जगरामदास आस प्रभु पारसनाथ।
पावों नाम मंत्र के जपावन की जाखिनी।[४०]

मिथ्या मान्यताओं का खण्डन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में अनेक मिथ्या मान्यताओं का प्रचलन था जिसका खण्डन करते हुए भक्त कवियों ने पार्श्व प्रभु की शक्ति करने के लिए प्रेरित किया। उनका सोच था कि जब एक पार्श्व प्रभु की शक्ति ही सुब कुछ देने वाली है तब अन्यत्र देवी-देवताओं को पूजने की क्या आवश्यकता है? भैया भगवती दास जी कहते हैं :

काहे को देशा-दिशांतर धावत, काहे रिझावत इंद-नरिंद।
काहे को देवी औ देव मनावत, काहे को शीस नवावत चंद।।
काहे को सूरज सो कर जोरत, काहे निहोरत मूढ़ मुनिन्द?
काहे को शोच करे दिन रैन तू, सेवत क्यों नहिं पार्श्व जिनंद।[४१]

हे प्राणी तू देश-देशान्तर में क्यों दौड़ता फिरता है, क्यों इन्द्र और नरेन्द्र को रिझाने की कोशिश करता है। तू क्यों देवी और देवताओं को मनाता है, क्यों चन्द्र को सिर झुकाता है। तू क्यों सूर्य के हाथ जोड़ता है - नमस्कार करता है क्यों मूर्ख मुनीन्द्रों के निहोरे करता है। तू दिन-रात चिन्ता क्यों करता रहता है। तू पार्श्व जिनेन्द्र की सेवा क्यों नहीं करता अर्थात् एक पार्श्व जिनेन्द्र की सेवा करने से तू सब चिन्ताओं से निर्मुक्त हो सकता है।

कविवर जगजीवन जी कहते हैं कि:

मनवचन मां भवियन श्री पारस चिनंद सुषकारी जी।।
जब प्रभु तेरो नाम जु जान्यौ आनदेव सब टारो जी।[४२]

अर्थात् मन-वचन-कर्म से स्मरण करने वाले भव्य जीवों के पार्श्वजिन अत्यधिक सुखकारी है। हे प्रभु जब आपके नाम की महिमा विदित हुई तब हमने अन्य देवों की पूजा शक्ति त्याग दी।

कुदेवों की पूजा मिथ्या मान्यता है जिसका खण्डन करते हुए कवि हीराचन्द पार्श्व प्रभु की पूजा-भक्ति को ही उचित मानते हैं यथा

अन्यदेव में बहुतहिं सेये, सरयो एक न काज।
जब मैं प्रभु तुम पद पिधायों, इन भव अवर न काज।[४३]

जो प्रभु पार्श्व की भक्ति छोड़कर अन्य की सेवा करता है वह मानो मणि को छोड़कर कांच को ही ग्रहण करता है।

पारस को छांड़ि आंन को सेवत
कांच ग्रहण मणि छोड़त ज्यों रे।[४४]

अमर कवि कहते हैं कि हमने जितने भी देव, देवी और नरनाथ (राज़ा) देखें, सब जन्म-मरण के चक्कर में फंसे हुए हैं और आशा तथा सन्तोष की रीति में बंधे हैं। इसलिए मैं किसी और को नहीं मानता, जिसवर पार्श्व की शरण में आया हूं।

देव देवी जिन देखे, नरनाथ भी विशेषे,
जमै मरै के अलेषे, आस तोष रीति की।
और काह न मनावूं जिन चरण चित्त लावूं,
नितप्रति जस गावूं, मल मैल गीज की।
भव संकट से हरण, अमर तारण तरण,
परयो पारस शरण, और कीजे मो गरीब की।[४५]

उक्त चित्रण को देखते हुए जो जन कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु पूजन-भजन में संलग्न हैं उन्हें सुमार्ग पर आना चाहिए। भला, हम सोचें कि जो कार्य त्रैलोक्य धनी तीर्थंकर पार्श्व प्रभु की भक्ति नहीं दे सकती उसे अकिंचन स्वर्गादिक के देव या नश्वर सम्पदा के धनी पुरुष कैसे दे सकते हैं?

भगवान् पार्श्वनाथ से भक्त की पुकार

कविवर जगतराम कहते हैं - हे प्रभु तुम्हारा नाम पतितपावन है और मुझे कर्मों ने घेर लिया है। मैं पतित हूं तुम पतितों का उद्धार करने वाले हो, यह तुम्हारी प्रतिज्ञा के निर्वाह का समय है। तुमने अनेक पतितों का उद्धार किया है, तुम्हारे आधे नाम ने ही उन्हें भव समुद्र के पार लगा दिया। इसी कारण हे पार्श्व प्रभु मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप साहिब (रक्षक) हैं और मैं आपका दास हूं। यथा:

पतित पावन नाम तेरो
सहो प्रभु कर्म घेरयो तन मेरो।
हों पतिति तुम पतित उधारन
लाज विरद को वेरो।पतित।।
और पतित अनेक उधारे
उर्द्धनाम कियौ जु निवेरो ।
यातैं सरन पारस अब तेरो,
तू साहिब हो चेरा ।पतित।[४६]

कवि कुमुदचन्द्र कहते हैं कि मुझसे भूल हो गयी। मैंने पारस प्रभु के चरणों का यश नहीं गाया, मैंने अपना नरभव व्यर्थ गंवा दिया - कुमुदचन्द्र कहें चूक परी मोही पारस पद जब नहिं गायो।। मैं तो नरभव बादि गंवायों।[४७]

जगजीवन कवि कहते हैं कि :

जीवनराम करे प्रभु विनती दौड़ कर जोरि तुम्हारी जी।
तुमहो तीन लोक के ठाकुर कुमति कुसंग निवारो जी।[४८]

अर्थात् हे प्रभु जगजीवन दोनों हाथ जोड़कर तुम्हारी विनती करते हैं, तुम तीनों लोकों के ठाकुर हो, कुमति और कुसंग का निवारण करो।

कवि रूपचन्द कहते हैं कि :

हां जी मोहि तारो सइयां हो पारस, मोहि. (टेक)
भवदधि भवंणमाहि तैं मोकूं करगहि वेग उबारो।। सइयां।।
विधि वसितें बहुविधि अघकीने, सो सब नाहिं निहारों।। सइयाँ।।
पतित उधारक, पतित रटत हैं, दीजै रूप तिहारों।। सइयां।।[४९]

अर्थात् हे पारस स्वामी मुझे तार दो इस भव-समुद्र की भंवरों से मुझे हाथ पकड़ कर उबार लो। दुर्भाग्यवशात् मैंने अनेक पाप किये हैं, उनकी तरफ मत्त देखो। तुम पतित उद्धारक हो और यह पतित आपकी रट लगाये हुए हैं, अत: अपना रूप देकर अपने समान बना लीजिए।

इसी भाव को सूरदास जी ने भी कहा है।

हमारे प्रभु औगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तुम्हारो, सोई पार करो।[५०]

कवि किजनचन्द भ. पार्श्व से जन्म मरण मिटाने की कामना करते हैं।

अधम उधार जगत के त्राता, तुम बिन और न साथ।
चंद किसन तुम इम जांचत है, जामन मरन मिटाय[५१]।।

पारसदास कवि प्रभु से अपने जैसा बना लेने की कामना करते हैं :

तुम गरीब के निवाज, मैं गरीब तेरो।
तुम समान की जै प्रभु, सुण जे दुख मेरो।[५२]

भक्त की कामना है कि

शक्ति तुम्हारी तब लूं चावूं जब लूं सिवपुर वास न पावूं।
अंत समाधि मरण तुम सेवा द्यो निरविघ्न पार्श्व जिनदेवा।[५३]

हे पार्श्व जिनदेव मैं आपकी भक्ति तब तक चाहता हूँ जब तक मुझे शिवपुर अर्थात् मोक्ष का वास प्राप्त न हो जाये। आपकी सेवा से मेरा अन्त निर्विघ्न समाधिमरणपूर्वक हो।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति का फल

भक्त की भक्ति स्वार्थमय होती है जिसके पीछे उत्तम परिणाम की लालसा रहती है। जो चिंतामणि सदृश्य हैं ऐसे पार्श्वप्रभु की भक्ति से पाप नष्ट होते हैं। जो मनुष्य अष्ट द्रव्यों से, उत्तम मन-वचन-कर्म के साथ, आपकी पूजा करता है वह इन्द्र और चक्रवर्ती की संपदा प्राप्त करता है, मनुष्य योनि में जन्म ले श्रावक कुल में आता है। भव-भव में वह आपकी(पार्श्व की) भक्ति और सत्संगति पाता है। किसनचन्द कवि कहते हैं

स्वामी पास प्रभु थाने पूज्या जी पालिग जाय।।
अष्ट द्रव्य करि जे नर पूरें सुठ मन वच काय।
इन्द्र चक्र चक्री की संपति, तुम पूजै तै पाय। स्वामी।।
तुम पूजन ते मानुष हो है, श्रावण कुल में आय,
सत.संगति अरु भगति तिहारी भव भव में ये पाय।। स्वामी।।

नवल कवि कहते हैं -

दान सील तप भावना इत्यादिक उर लाइ।
नवल प्रीति पारस तें करो त्यों उमरापुर जाइ।[५५]

अर्थात् पार्श्व प्रभु से ऐसा प्रेम दान, शील, तपादि की भावना हृदय में लाकर करो जिससे तुम्हें अमतरपुर (मोक्ष) प्राप्त हो।

कनककीर्ति के अनुसार प्रभुपार्श्व की भक्ति रचे जी।
पदे सुने नर नारि, सुरंगा सुक्ख लहैंजी।।

प्रभु पार्श्व की शरण ग्रहण कर लेने पर मोह पर विजय प्राप्त होती है-

अब तुम सरन गही प्रभु पारस मोह विजय कर लीनां।[५७]

पार्श्व प्रभु के मुख-दर्शन से मिथ्यात्व का नाश होता है-

जाके वदन विलोकते ही, नासो दूर मिथ्यात।
ताहि नमहुं नित भाव सों हो, पास जगत विख्यात।[५८]

कविवर द्यानतराय जी ने पार्श्व प्रभु की शक्ति का फल सब कार्यों में सफलता, धन, संपत्ति, मनोवांछित भोगों का संयोग, घर में कल्पवृक्ष, कामधेनु सेवारत, सुखद संयोग, दुर्लभ कार्य सुलभ, रोग-शोक-दुखों का पलायन, देवों द्वारा सेवा, विघ्नों का मंगलरूप होना, डायन, भूत-पिशाच के छल से मुक्ति, राज्य भय, चोर-भय का अभाव, यश और आदर की प्राप्ति, सौभाग्य, स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति बताया है यथा -

भोर भयौ भज पारस नाथ, सफल होहि तेरे सब काज।
धन सम्पति मन-वांछित भोग, सब विधि आन बने संयोग।।
कल्प वृक्ष ताके घर रहे, कामधेनु नित सेवा बहे।
पारस चिंतामणि समुदाय, हित सों अश मिले सुखदाय।।
दुर्लभ तैं सुलभ्य है जाय, रोग-सोग-दुख दूर पलाय।
सेवा देव करे मन लाय, विघ्न उलट मंगल ठहराय।।
डायन भूत पिशाच न छले, राज चोर को जोर न चले।
जत आदर सौभाग्य प्रकास, द्यानत सुरग मुकति पद वास[५९]।।

मनोहर कवि की दृष्टि में भ. पार्श्व की भक्ति मनोवांछित फल देने वाली है-

चित्त पारस चरन लगाइयौ, तब मन वांछित फल होइ।[६०]

अजयराज की दृष्टि में जिस दिन पार्श्व प्रभु से भेंट हो जाय उस दिन जन्म सफल हो जाता है, जन्म-जन्म के पाप मिट जाते हैं और जब प्रभु अपना मानलें तो समझो कि जन्म कृतार्थ हो गया है और कर्मरूपी कलंक रहित पद जान लिया है, यथा -

जनम सफल भयो आज पार्स प्रभु भेटियो।
जनम-जनम को पाप आज सब मेटियो।।
जनम कृतारथ आज जु अपनौ मानियौ।
कर्म कलंक रहित पद अपनो जानियौ[६१]।।

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति इहलौकिक एवं पारलौकिक फल प्राप्त कराने वाली है। अब यह हम भक्तों पर निर्भर करता है कि हम अपनी भक्ति में किस प्रकार विशेषता, शुचिता, शुभ्रता एवं उच्चता ला सकते हैं। हमारी भक्ति में जितनी प्रखरता होगी हम भी उतनी पवित्रता को प्राप्त कर सकेंगे, यहाँ तक कि सच्चे मन-वचन काय से भक्ति करते-करते एक दिन स्वयं पार्श्वमय पार्श्वसम बन जायेंगे।

भ. पार्श्व की शक्ति के बिना सब क्रियायें निष्फल

सर्वजनों के लिए इष्ट भ. पार्श्वनाथ की भक्ति है जिसके लिए उनके प्रति सच्चा श्रद्धान आवश्यक है। जो भ. पार्श्व की भक्ति छोड़कर अन्यान्य क्रियायें करते हैं उनकी वे सब क्रियायें निष्फल हैं। मनोहर कवि लिखते हैं -

जाप जपो भावे ताप तपो
भावू व्रत करौ जु लहौ सब भेदं।
नगर रहो भानु-धूप सहो
तीरथ जाय करो बहु खेदं।।

मौन करो भावे ध्यान धरो
साँसत सही जु पढो नित वेदं।
एतो कियो तौ कहा भयौ जु
श्री पास बिना जु सबे फल छेदं।।[१२]

अर्थात् हे जीव चाहे जाप जपो, चाहे तपस्या करो, चाहे सब भेद-प्रभेद सहित व्रत कर डालो, चाहे नग्न रहकर सूर्य की कड़ी धूप सहन करो अथवा तीर्थों में जाकर नाना कष्ट झेलो। घर में रहो या वन में जाकर ध्यान धारण करो अथवा वेदाध्ययन का कष्ट सहो, किन्तु इतना सब कुछ भी किया तो क्या किया अर्थात् इन सबके करने में कुछ नहीं होता, श्री पार्श्वनाथ की भक्ति के बिना सब निष्फल है।

इस प्रकार 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा' में संकलित सभी पद विचारणीय एवं भ. पार्श्व के विविध पक्षों को दर्शानेवाले भक्तिभावना से आपूरित हैं। इनका अनुसरण करने वाला जीव निश्चित ही भ. पार्श्व प्रभु के चरणों का अनुगमन कर सकेगा ऐसा विश्वास है।

संदर्भ

१. अभिधान राजेन्द्रकोश, पांचवां भाग, पृ. १३६५
२. नारद भक्ति सूत्र., १८
३. आचार्य हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण २/१५९, १९००
४. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थ सिद्धि, भाष्य - ३३९
५. तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा ४६/२९। सुखदेव: काशी स्तुति।
६. वही, ८९/५६। किशन सिंह: चतुर्विंशतिस्तुति।
७. वही, १९/१२। दौलतराम: दौलतपद संग्रह।
८. वही, २०/१३। कुमुदचन्द्र। वही ४३/२७ (अजयराज), वही, ५७/३५(दौलत राम)
९. वही, ३१/१९, (जगजीवन:पदसंग्रह)
१०. वही, ९०/५६ (पारसदास: पारसविलास), वही ९१/५७ (भूधरदास:पार्श्व पुराण)

११. वही, २७/१७ (जगतराम), ४०/२५ (अचलकीर्ति)
१२. वही, २८/१८, (विनोदीलाल:पदसंग्रह)
१३. वही, ६६/४१ (खुशालचन्द काला, - चौबीस तीर्थंकरों की विनती)
१४. तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा ६०/३७ (बनारसीदास:नाटक समयसार)
१५. वही, ८३/५२ (जिनहर्ष : पार्श्वनाथ नीसाणी)
१६. वही, ९९/६२ (जगतराम : हस्तलिखित पदसंग्रह)
१७. वही,१००/६३ (अमर : अमरविलास)
१८. वही, ५९/३७ (रूपचन्द : पदसंग्रह)
१९. वही, ६६/४१ (खुशालचन्द काला : चौबीस तीर्थंकरों की विनती)
२०. वही, ८५/५३ (जगतराम, पदसंग्रह)
२१. वही, ६/५ (जगतराम, पदसंग्रह)
२२. वही, ७/६
२३. वही, १०/७ (भैया भगवतीदास:अहिक्षिति पार्श्वनाथ स्तुति, ब्रम्हाबावनी)
२४. वही, ११/८ (द्यानतराय : पार्श्वनाथ स्तोत्र)
२५. वही, १६/११ (भूधरदास : पदसंग्रह)
२६. वही, २०/१३ (कुमुदचन्द्र, पदसंग्रह)
२७. वही, २२/१५ (बनारसीदास - .नाटक समयसार)
२८. वही, ३२/२० (रूपचन्द, पदसंग्रह)
२९. वही, ४३/२७ (अजयराज : पदसंग्रह)
३०. वही, ५१/३२ (पारसदास : पारसविलास) पार्श्वजयमाल
३१. वही, ५७/३५ (दौलतराम : दौलत पदसंग्रह)
३२. वही ६१/३८ (भूधरदास : जैनशतक)
३३. तीर्थंकर प्रार्श्वनाथ भक्तिगंगा ७४/४६-४७ भूधरदास : पार्श्वपुराण)
३४. वही, ८८/५५ (कपूरचन्द : पार्श्वनाथ रास)
३५. वही, ९०/५७ (पारसदास : पारसविलास)
३६. वही, ४०/२५ (अचलकीर्ति विषापहारस्तोत्र)
३७. तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा ४२/२६-२७ (मनराम : विनती)

३८. वही, ६२/३९ (दौलतराम : दौलत पदसंग्रह)
३९. वही, ७५/४८ (जगतराम : पदसंग्रह)
४०. वही, २६/१७ (जगराम, पदसंग्रह)
४१. वही, ९/७ (भैया भगवतीदास ब्रम्हाबावनी)
४२. वही, ३१/२० (जगजीवन, पदसंग्रह)
४३. वही, ३७/२३ (हीराचन्द : पदसंग्रह)
४४. वही, ६९/४३ (जगतराम : पदसंग्रह)
४५. वही, ८७/५५ (अमर : अमर विलास)
४६. वही, ६/५ (जगतराम, पदसंग्रह)
४७. वही, ८/६ (कुमुदचन्द्र पदसंग्रह)
४८. वही, ३१/२० (जगजीवन : पदसंग्रह)
४९. वही, ३४/२० (रूपचन्द छावड़ा, पदसंग्रह)
५०. भक्तिकालीन काव्य : सूरदास (पदसंग्रह) - ६, पृ. २४
५१. तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा ३८/२४ (किसनचन्द : पदसंग्रह)
५२. वही, ५४/३४ (पारसदास : पारसविलास)
५३. वही, ७३/४६ (वही)
५४. वही, ३८/२४ (किसनचन्द : पदसंग्रह)
५५. वही, ४४/२८ (नवल : पदसंग्रह)
५६. वही, ४८/३० (कनककीर्ति : पदसंग्रह)
५७. वही, ४५/३५ (पारसदास : पारसविलास)
५८. वही, ५८/३६ (भैया भगवतीदास : ब्रम्हबावनी)
५९. वही, ६५/४०-४१ (द्यानतराय : द्यानतपद संग्रह)
६०. वही, ७८/४९ (मनोहर : धर्मपरीक्षा)
६१. वही, ९६/६० (अजयराज : पदसंग्रह)
६२. वही, ८०/५०-५१ (मनोहर : धर्मपरीक्षा)

प्रथमानुयोग में तीर्थंकर पार्श्वनाथ

– प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन एवं
ब्र. कुमारी मीना जैन

आदिमध्यान्त गम्भीरा : सन्तोऽम्भोनिधि सन्निभाः।
उदाहरणमेतेषां पार्श्वो गण्यः क्षमावताम्।।
उत्तर पुराण ७३.१६०।।

अर्थात् जो समुद्र के समान आदि, मध्य और अन्त में गम्भीर रहते हैं, ऐसे सज्जनों का यदि कोई उदाहरण हो सकता है तो क्षमावानों में गिनती करने के योग्य भगवान् पार्श्वनाथ ही हो सकते हैं।

उत्तर पुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र ने संक्षेप में भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का वर्णन त्रिसप्ततितमं पर्व में किया है। केवल एक ही जीव ने भव भवान्तरों के अकारण बैर और तीव्र क्रोधवश, दूसरे जीव को लगातार मृत्यु कष्ट दिया किन्तु इस दूसरे जीव ने क्षमाभावादि को असीम धैर्य से धारण कर निरन्तर विशुद्धि को बढ़ाते हुए लगातार पुण्य की वृद्धि से नाना प्रकार के उच्च पद प्राप्त कर तीर्थंकर पद को अंततः प्राप्त किया। विशुद्धि की महिमा वचनों से परे है। एक ओर संक्लेश और दूसरी ओर विशुद्धि! कमठ का जीव संक्लेश का प्रतीक और मरुभूति का जीव विशुद्धि का प्रतीक।

भगवान् पार्श्वनाथ की कथा संक्लेशरूपी महाविष और विशुद्धि रूपी अक्षय अमृत की अमर कहानी है। यह मात्र पौराणिक कथा नहीं वरन् तीर्थंकर पार्श्वनाथ को २३वें तीर्थंकर के रूप में देश विदेश के विद्वानों ने ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर सम्प्रदाय में निम्नलिखित उल्लेखनीय सामग्री है :

* जबलपुर

१. प्रथमानुयोग - ५००० मध्यम पद (अर्धमागधी) - अप्राप्य
२. श्री वादिराज सूरी प्रणीत (८६९ ई.) पार्श्वनाथ चरित्
३. श्री सकलकीर्ति आचार्यकृत (संवत् १४९५) पार्श्वनाथ पुराण
४. भट्टारक चन्द्रकीर्ति ग्रंथित पार्श्वनाथ पुराण (सं. १६५४)
५. श्री जिनसेनाचार्य कृत पार्श्वाभ्युदय काव्य (सन् ६५८-६७२)
६. श्री गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण में ७३वां पर्व (सन् ७४२)
७. वादिचंद्र प्रणीत पार्श्व पुराण (सं. १६८३)
८. पुष्पदंत कवि द्वारा प्रणीत उत्तरपुराण (प्राकृत-अपभ्रंश)(९६५ ईस्वी)
९. पद्मकीर्ति विरचित पार्श्वपुराण (समय अज्ञात - प्रति १४७३ सं. कारंजा)
१०. कविवर भूधरदास कृत छंदोबद्ध हिन्दी में पार्श्वनाथ पुराण (सं. १७८९)
११. अज्ञातकवि द्वारा पार्श्व जीवन कवित्त (अपूर्ण)
१२. कवि खुशालचन्द कृत हिन्दी छन्दोबद्ध पार्श्वनाथ पुराण (सं. १७९९)
१३. भगवान् पार्श्वनाथ (हिन्दी) मास्टर छोटे लाल द्वारा अनुवादित
१४. जिनसेनाचार्य के मूल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, हरिवंश पुराण में पार्श्वचरित
१५. पार्श्व पंडित द्वारा ग्रंथित पार्श्वनाथ पुराण (१२०५ ई.) कन्नड़
१६. कवि वादिराज का संस्कृत पार्श्व निर्वाणकाव्य (चारुकीर्ति कृत टीका सहित)
१७. धर्मघोष कृत चिंतामणि पार्श्वनाथ कल्प
१८. बंगला में हरिसत्य भट्टाचार्य द्वारा प्रकाशित पार्श्वनाथ भगवान्
१९. तात्या नेमिनाथ पांगल कृत मराठी में तीर्थंकर चरित्रे
२०. ब्र. नेमिदत्त विरचित नागेन्द्र कथा - पुण्याश्रव कथा कोष

२१. चामुण्डराय पुराण (१०वीं शताब्दी)

२२. अंग्रजी में लार्ड पार्श्वनाथ - हरिसत्य भट्टाचार्य

२३. आचार्य दमनन्दि कृत पुराणसार संग्रह में श्री पार्श्वनाथ चरितम इत्यादि!

इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी कल्पसूत्र, पार्श्वनाथ चरित्र, पार्श्वनाथ काव्य, शत्रुञ्जय माहात्म्य, उत्तराध्ययन कृति आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उपरोक्त के अतिरिक्त दोनों सम्प्रदायों में अनेक स्तोत्र और पूजा ग्रंथ भगवान् पार्श्वनाथ पर प्राप्य हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में कुमुदचन्द्र कृत कल्याणमंदिर स्तोत्र, पद्मप्रभदेव कृत पार्श्वनाथ स्तोत्र, प्राकृत में चिंतामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र, पद्मनंदिकृत पार्श्वनाथ स्तोत्र, विद्यानन्दी स्वामीकृत पार्श्वनाथ स्तोत्र, पार्श्वनाथ अष्टक, कलिकुण्ड पार्श्वनाथ पूजा इत्यादि उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त जैन साहित्य में कहीं अंतर देखा गया है किन्तु इन सभी में केवल एक ही लक्ष्य परिचर्चित है जो विशुद्धि से संबंधित है। नाम और घटनाएं कुछ अंतर के साथ प्राप्त होती हैं जो हो सकता है श्रुति के कारण, स्तोकबुद्धि के कारण अथवा अन्य कारणों से प्रकट हुए। दिगम्बर जैन शास्त्रों में सामान्य अन्तर निम्न प्रकार पाये गये हैं। (कामता प्रसाद जैन, भगवान् पार्श्वनाथ, सूरत)

१. श्री गुणभद्राचार्य, सकलकीर्ति, चन्द्रकीर्ति (१/११५-११७) और भूधरदास (१-१०२) कृत ग्रन्थों में कमठ के भाई मरुभूति को उसकी खबर किसी राह चलते उसे पाने का उल्लेख नहीं है; किन्तु वादिराज सूरि के ग्रंथ में (सर्ग श्लो. ६३-६४) में यह विशेषता है।

२. श्री जिनसेन के 'पार्श्वभ्युदय काव्य' में पूर्वभवों का उल्लेख वर्तमान रूप में है

३. अगाड़ी अरविन्द राजा के मुनि समागम का उल्लेख प्रायः सब में मिलता है। किन्तु वादिराज सूरि के ग्रंथ में उन मुनिराज का नाम

'स्वयंप्रभ' और उनके आगमन की सूचना माली द्वारा राजा के पास पहुंचाने का विशेष उल्लेख हुआ है (स. २ श्लो. १०२)।

४. मरुभूति की मृत्यु उपरांत सल्लकी वन में हाथी उत्पन्न होने का उल्लेख भी सभी में है। किंतु वादिराज सूरि के ग्रन्थ में विशेषरूप से उस हाथी के माता पिता का नाम वर्वरी और पृथ्वीघोष लिखा है (स. ३ श्लो ३८-३९)।

५. राजा अरविंद के मुनि हो जाने पर उन्हें एकदा वैश्य संघ के साथ तीर्थों की वन्दना निमित्त जाते हुए और सल्लकी वन में शशिगुप्त आदि श्रावकों को उपदेश देते इस ग्रन्थ में लिखा है (स. ३ श्लो. ६१-६५), किन्तु सकलकीर्ति (२/१६-१७), गुणभद्र (७३/१४), चन्द्रकीर्ति (२४/२) के ग्रन्थों में उन्हें संघ सहित श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा के लिये जाते लिखा है।

६. उत्तरपुराण (७३/२४), सकल कीर्ति के पार्श्वचरित (२/५३) में वज्र घोष गजराज के सहस्रार स्वर्ग में स्वयंप्रभ देव होते लिखा है, किन्तु वादिराज सूरि ने उसे महाशुक्र स्वर्ग में शशिप्रभ देव लिखा है(३/१०८)।

७. इन्होंने लोकोत्तमपुर के राजा का नाम विद्युद्वेग और उसके पुत्र का नाम रश्मिवेग लिखा है (४/२७), किन्तु उत्तरपुराण (७३/२४-२५), सकलकीर्ति (२/१०), चंद्रकीर्ति (३/१४०) और भूधरदास (२/६९-७१) ने राजा का नाम विद्युत गति और पुत्र का नाम अग्निवेग बताया है। चन्द्रकीर्ति ने पिता की आज्ञानुसार अग्निवेग का किसी विद्याधर से संग्राम का भी उल्लेख किया है (५/४)।

८. वादिराज सूरि के ग्रंथ में विजया रानी के सबको विजय करने वाला दोहला होते लिखा है (४/१२-१४)। किन्तु उत्तरपुराण में न तो दोहला है और न स्वप्नों का उल्लेख है (७३/३१-३२), किन्तु शेष सभी में स्वप्न देखने का उल्लेख है।

९. वादिराज के ग्रंथ में वज्रनाभि चक्रवर्ती को सूखा वृक्ष देखकर विरक्त होते और क्षेमंकर मुनि के पास जाते लिखा है (८/७२-७३) किन्तु उत्तर पुराण (७३-३४), सकलकीर्ति (५/३), चंद्रकीर्ति (५/२-४) और भूधर दास (३/७४) ने उनको क्षेमंकर मुनि का उपदेश सुनकर विरक्त होते बतलाया है।

१०. आगे सकलकीर्ति (५/९४), चंद्रकीर्ति (५/८८-९०) और भूधरदास (३/१०७) ने वज्रनाभि मुनि को वन में रहते हुए कुरंग भील द्वारा उपसर्गीकृत होते लिखा है। किन्तु पार्श्वचरित (८/८०) में उनके स्थान पर विपुलाचल पर्वत बताया है और उत्तरपुराण में (७३/३८) वन और पर्वत किसी का भी उल्लेख नहीं है।

११. वादिराज सूरि राजा आनन्द को जिनयज्ञ करते और मुनि आगमन हुआ बतलाते हैं।(९/१-३)। उन्होंने मंत्री की प्रेरणा का उल्लेख नहीं किया है और न मुनिवर का नाम बतलाया है। किंतु उत्तर पुराण (७३/४४-४५), सकलकीर्ति (७/३९-४१), चन्द्रकीर्ति (६/४५-५०) और भूधरदास (४/१८-२४) ने स्वामीहित मंत्री की प्रेरणा से आनन्द राजा को जिनयज्ञ रचते और विपुलमती मुनिराज को आते लिखा है। किन्तु उत्तर पुराण (७३/५८-६०), सकलकीर्ति और भूधरदास (४/६०) ने राजा आनन्द के समय से सूर्य पूजा का प्रचार हुआ लिखा है। किंतु वादिराज (सं ९) और चंद्रकीर्ति के चरित (६/८१-८८) में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

१२. वादिराज ने राजा आनन्द को सफेद बाल देखकर निधिगुप्त मुनिराज के समीप दीक्षा लेते लिखा है (९/३४-३८) किंतु चंद्रकीर्ति ने यद्यपि सफेद बाल की बात लिखी है किन्तु मुनि का नाम सागरदत्त लिखा है (६/१३-१२४)। वहीं सकलकीर्ति ने मुनि का नाम समुद्रदत्त बतलाया है (८/२६) जो उत्तरपुराण में भी है (७३/६१)। भूधरदास ने सागरदत्त लिखा है।

१३. वादिराज सूरी ने भगवान् के पिता का नाम विश्वसेन (९/६५) और माता ब्रह्मदत्ता (९/७८) कहा है; किंतु कुल वंश का उल्लेख नहीं है। उत्तरपुराण में राजा-रानी का नाम विश्वसेन और ब्रह्मा देवी (७३/७४) लिखा है, तथा उनका वंश उग्र (७३/९५) और गोत्र काश्यप (७३/७४) बतलाया है। सकलकीर्ति, चंद्रकीर्ति और भूधरदास ने काश्यप गोत्र और वंश इक्ष्वाक् लिखा है। राजा का नाम विश्वसेन बतलाया है। भूधरदास ने उन्हें अश्वसेन बतलाया है (५/६०)। हरिवंशपुराण में भी यही नाम है (पृ. ५६७)। सकलकीर्ति, रानी का नाम ब्राह्मी (१०/४१) और चन्द्रकीर्ति, ब्रह्मा (८/५१) बतलाते हैं। हरिवशपुराण में उनका नाम वर्मा है (पृ. ५६७)। भूधरदास उन्हें वामा देवी लिखते है।(५/७१)

१४. पार्श्वाभ्युदय काव्य में उनका उग्र वंश लिखा है (श्लो. २) किंतु आदिपुराण (अ. १६) में आदिवंश इक्ष्वाक् से ही शेष वंशों की उत्पत्ति लिखी है।

१५. वादिराज ने भगवान् की गर्भ तिथि नहीं दी है। शेष सभी ग्रंथों में वैशाख कृष्ण द्वितीया, विशाखा नक्षत्र (निशात्यये) लिखी है।

१६. वादिराज सूरि जन्मादि किसी भी तिथि का उल्लेख नहीं करते हैं, किंतु और सभी ग्रन्थ उनका उल्लेख करते हैं।

१७. वादिराज सूरि के ग्रंथ में 'भगवान् ने आठ वर्ष की अवस्था में अणुव्रत धारण किये थे' उल्लेख नहीं है। ऐसा उत्तरपुराण और हरिवंशपुराण में भी नहीं है।

१८. वादिराज ने भगवान् के पिता द्वारा उनसे विवाह करने के लिये अनुरोध किया था, उसका उल्लेख महीपाल साधु से मिलने के बाद किया है और उससे ही उन्हें वैराग्य की प्राप्ति होते दिखाया है (१९/१-१४) परन्तु उसमें अयोध्या के राजा जयसेन द्वारा भेंट भेजने का उल्लेख नहीं है। उत्तर पुराण में (७३/१२०) जयसेन का

उल्लेख है, परन्तु उसमें भी राजा विश्वसेन का भगवान् से विवाह करने के लिए कहने का उल्लेख नहीं है। शेष हरिवंश पुराण को छोड़कर सब ग्रन्थों में यह उल्लेख है।

१९. वादिराज सूरि के चरित्र में ज्योतिषी देव का नाम भूतानंद और शेष ग्रंथों में शम्बर है। इस ग्रंथ में भगवान् के दीक्षा वृक्ष का भी नाम नहीं लिखा है। हरिवंश पुराण में उसका नाम धव है। (पृ. ५६७)। सकलकीर्ति और भूधरदास ने उसे बड़ का पेड़ कहा है। उत्तरपुराण और चन्द्रकीर्ति ने केवल शिला का उल्लेख किया है (चंद्रकांत शिलातके)। हरिवंश में दीक्षावन अश्ववन के स्थान पर मनोरम वन है।

२०. तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षित होना भी वादिराज और गुणभद्राचार्य ने नहीं लिखा है। शेष सभी ने लिखा है। जिनसेनाचार्य ने उनकी संख्या ६०६ बतलाई है (८७५-७६)।

२१. पार्श्वनाथ पारण के लिए गुल्मखेटपुर में गए थे। यह बात उत्तरपुराण (७३/१३२), वादिराज सूरि चरित (११/४५), सकलकीर्ति पुराण, चंद्रकीर्ति चरित (१२/१०) और भूधरदास (८/३) ने स्वीकार की है। किंतु हरिवंश पुराण में यह काम्याकृत नगर बताया गया है (पृ. ५६९)।

२२. दातार का नाम सकलकीर्ति और भूधरदास ने ब्रह्मदत्त लिखा है; किंतु वादिराज ने धर्मोदय (११/४), गुणभद्राचार्य (७३/१३३), जिनसेनाचार्य (पृ. १६९) और चन्द्रकीर्ति (१२/१३) ने धन्य राजा लिखा है।

२३. केवलज्ञान की तिथि अन्य ग्रंथों में चैत्र कृष्णा चतुर्दशी लिखी है; परन्तु हरिवंशपुराण में चैत्र बदी चौथ की दोपहर के पूर्व केवलज्ञान हुआ लिखा है (पृ. ५६९)।

२४. उत्तरपुराण , सकलकीर्ति कृत पुराण, चंद्रकीर्ति कृत चरित और भूधरदास ग्रंथित पुराण में १६००० साधुओं की संख्या निम्न प्रकार है:

(१)१० गणधर (२) ३५० पूर्वधारी (३) १०९०० शिक्षक साधु (४) १४०० अवधिज्ञानी (५) १००० केवलज्ञानी (६) १००० विक्रिया धारी (७) ७५० मनःपर्यय ज्ञानी (८) ६०० वादी

हरिवंश पुराण में उपरोक्त संख्याएं निम्न प्रकार हैं:

(१) १० गणधर (२) ३५० पूर्वधारी (३) १०९०० शिक्षक (४) १४०० अवधिज्ञानी (५) १००० केवल ज्ञानी (६) १००० विक्रिया धारी (७) ७५० विपुलमती (८) ६०० वादी

वादिराजसूरि ने यह संख्यायें नहीं दी हैं।

२५. हरिवंशपुराण में आर्यिका ३८०००, श्रावक १००००० और श्राविकाएं ३००००० लिखी हैं। भूधरदास ने आर्यिका संख्या २६००० और शेष ने ३६००० बतलाई है।

२६. उत्तरपुराण, सकलकीर्ति, चंद्रकीर्ति और भूधरदास ने भगवान् को मोक्ष लाभ प्रतिमायोग से प्रातःकाल लिखा है, किन्तु हरिवंशपुराण में कायोत्सर्ग रूप से सायंकाल को हुआ बतलाया है।

२७. भूधरदास ३६ मुनीश्वरों के साथ मोक्ष गए बतलाते हैं जिनसेनाचार्य ५३६, हरिवंशपुराण कुल ६०२०० शिष्यों को मोक्ष भया बतलाते हुए उनके बाद ३ केवलज्ञानियों का मोक्ष बतलाते हैं।

उपर्युक्त का समन्वय कई प्रकरणों में तिलोयपण्णत्ती एवं त्रिलोकसार द्वारा किया जा सकता है। उपर्युक्त अन्तर कोई विशेष प्रतीत नहीं होता है, किन्तु श्वेताम्बर शास्त्रों में परस्पर विशेष अन्तर है। वह निम्न प्रकार है:

१. कल्प सूत्र (१४९-१६९) में विवाह के अतिरिक्त भगवान् के पूर्व भवों का भी उल्लेख नहीं है। उसमें कमठ और नागराज 'धरण' का भी उल्लेख कहीं नहीं है। शेष माता, पिता, जन्म, नगर, आयु आदि में अन्य चरित्रों में समानता है। किन्तु भवदेव सूरि के चरित्र और कल्पसूत्र में जो उनके शिष्यों का वर्णन दिया है उसमें विशेष अन्तर है (१३५०-१३६०)।

२.	कल्पसूत्र	भावदेवसूरि
	गण ८	
	गणधर १० :	
	आर्यदत्त, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मनायक सोम, श्रीधर, वारिषेण, भद्रयशस्, जय, विजय	
	गणधर ८	
	आर्य घोष, शुभ, वशिष्ठ, ब्रह्मचारिण, सौम्य, श्रीधर वीरभद्र, यशस	

३. कल्पसूत्र में आर्यदत्त की संरक्षता में १६००० श्रमण, पुष्पकला आर्यिका की प्रमुखता में ३८००० आर्यिकाएं, १६४०० श्रावक और ३२७००० श्राविकाएं लिखी हैं। भावदेव सूरि के ग्रंथ में यह संख्या इस रूप में उपलब्ध नहीं है।

४. शत्रुञ्जय माहात्म्य (१४/१-९७) में भी पूर्व भवों का वर्णन नहीं है। उसमें प्राणत कल्प से भगवान् का चरित्र प्रारम्भ किया गया है। इसमें कमठ की शत्रुता का उल्लेख संक्षिप्त है (१४-४२; दशभवारति : कठासुर :)।

५. विवाह का उल्लेख इसमें भी है; किन्तु इसमें पार्श्वनाथ की पत्नी प्रभावती को प्रसेनजित के स्थान पर नरवर्मन की पुत्री लिखा है। प्रसेनजित नरवर्मन का पुत्र है। भावदेव सूरि ने प्रभावती को प्रसेनजित की पुत्री लिखा है (५/१४५)। किन्तु बौद्धादि ग्रंथों से प्रकट है कि प्रसेनजित भगवान् बुद्ध के समकालीन थे। (Kshatriya Clans in Buddhist India, pp. 128-129)। बाद के ग्रंथों में पूर्व भव का वर्णन संभवत: दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों के आधार पर विभिन्न ढंगों से लिखा गया प्रतीत होता है।

अब हम दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रों में परस्पर तत्सम्बंधी अन्तर का निरीक्षण करेंगे।

१. भावदेव सूरिकृत पार्श्वचरित में, पहले मरुभूति भव में विश्वभूति के साधु को स्वर्गवासी होने पर कमठ और मरुभूति को विशेष शोक करते और हरिश्चन्द्र नामक साधु से प्रतिबोधित होने का जो उल्लेख किया है वह दिगम्बर शास्त्रों में नहीं है।

२. उन्होंने मरुभूति की स्त्री वसुन्धरा को काम से जर्जरित और कमठ के साथ उसके गुप्त प्रेम को मरुभूति का भेष बदलकर जान लेने तथा राजा से उसे दंडित कराने, इत्यादि बातें कही हैं जो दिगम्बर शास्त्रों में नहीं हैं।

३. दिगम्बर शास्त्रों में राजा अरविन्द और मरुभूति के एक संग्राम पर जाने का विशेष उल्लेख है। राजा अरविन्द के मुनि हो जाने पर श्वेताम्बराचार्य इन्हें सागरदत्त श्रेष्ठी आदि को जैन धर्मी बनाते और उनके साथ जाते हुये हाथी का उनपर आक्रमण करते लिखते हैं। पर दिगम्बर शास्त्र तीर्थ यात्रा पर जाने का उल्लेख करते हैं।

४. दिगम्बर शास्त्र अग्निवेग का ज़न्म स्थान पुष्कलावती देश का लोकोत्तरपुर नगर और उसकी माता का नाम विद्युत्माला बतलाते हैं, किन्तु श्वेताम्बर शास्त्र में तिलकानगर और तिलकावती अथवा कनकतिल्का माता बतलाई गई हैं। इनमें अग्नि वेग का नाम किरणवेग है। वह अपने पुत्र हिमगिरि को राज़्य दे मुनि हुआ, ऐसा दिगम्बर शास्त्र कहते हैं। श्वेताम्बर के अनुसार उसके पुत्र का नाम किरणतेजस था और वह मुनि हो वैताढ्य पर्वत पर एक मूर्ति के सहारे तपस्या करता रहा।

५. श्वेताम्बर शास्त्र वज्रनाभि को जन्म से मिथ्यात्वी और साधु लोकचन्द्र द्वारा सम्यकत्व लाभ करते बतलाते हैं। वह उसके पुत्र का नाम शक्रायुध कहते हैं। दिगम्बर शास्त्र जन्म से ही जैनी बतलाते और उसके पुत्र के नाम का उल्लेख नहीं करते हैं।

६. श्वेताम्बर, वज्रनाभि का जन्मस्थान शुभंकरा नगरी बतलाते और उनकी माता का नाम लक्ष्मीवती और स्त्री विजया बतलाते हैं।

दिगम्बर शास्त्रों में जन्म स्थान अपर विदेह के पद्मदेश का अश्वपुर और उनकी माता व पाली के नाम क्रमशः विजया और शुभद्रा बतलाते हैं।

७. श्वेताम्बर शास्त्र कुरंगक भील को ज्वलन पर्वत में रहते बतलाते हैं। दिगम्बर शास्त्रों में ज्वलन पर्वत का कोई उल्लेख नहीं है।

८. वज्रनाभि की कुरंगभील द्वारा मृत्यु हुई बतलाकर श्वेताम्बर अनुश्रुति उसे ललितांग स्वर्ग में देव होते और वहां से चयकर सुरपुर के राजा वज्रबाहु की पत्नी सुदर्शना के गर्भ में आते लिखते हैं। इनकी कोख से जन्म पाकर वह उसे स्वर्गबाहु नामक चक्रवर्ती राजा होते लिखते हैं, किन्तु दिगम्बर शास्त्रों में वज्रनाभि को चक्रवर्ती बतलाया गया है।

९. दिगम्बर शास्त्रानुसार मरुभूति का जीव मध्यम ग्रैवेयिक से चयकर आनन्द नामक महामण्डलीक राजा हुआ। श्वेताम्बर शास्त्र यह अतिरिक्त कहते हैं कि उसका नाम स्वर्णबाहु था जिसने पद्मा हरण कर शंकुतला नाटक जैसा परिणय किया था। इसके स्थान पर दिगम्बर शास्त्र आनन्द राजा को पूजा करते और उनके सूर्यविमानस्थ मंदिरों की पूजा करने से 'सूर्य पूजा' का प्रारंभ मानते हैं।

१०. दिगम्बर शास्त्रानुसार आनन्द के मुमि होने पर कमठ के जीव सिंह ने उनकी जीवन लीला समाप्त कर दी थी जिससे वह आनत स्वर्ग में देव हुए। श्वेताम्बरानुसार स्वर्णबाहु के मुनि होने और सिंह द्वारा मारे जाने को स्वीकार करते हैं किन्तु उन्हें महाप्रभा विमान में देव होते लिखते हैं।

११. यहां से चयकर यह जीव इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन और रानी वामा के यहां बनारस में श्री पार्श्व नामक राजकुमार होते हैं, यह बात दोनों सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। किन्तु श्वेताम्बर शास्त्र में श्री पार्श्व नाम पड़ने का कारण यह बतलाते हैं कि उनकी माता ने अपने (पार्श्व) में एक सर्प को देखा था, जो दिगम्बर शास्त्रों के कथन से प्रतिकूल है –

उनके अनुसार इन्द्र ने भगवान् का चमकता हुआ पार्श्व ;नतं घ्द्ध देखकर उनका नाम पार्श्व रखा था।

१२. दिगम्बर शास्त्र उनके विवाह की वार्ता से सहमत नहीं है।

१३. श्वेताम्बर शास्त्र में कमठ के जीव को नर्क से निकालकर रोर नामक ब्राह्मण का कठ नामक पुत्र होते बतलाया है, किन्तु दिगम्बर शास्त्र में नर्क से निकलकर संसार में किंचित् रुलकर महीपालपुर का राजा महीपाल बतलाया है, जो भगवान् पार्श्वनाथ का इस भव में नाना था।

१४. अंत में दोनों सम्प्रदायों के शास्त्र कमठ के जीव को पंचाग्नि तपता हुआ साधु और उससे भगवान् पार्श्व का समागम बतलाते हैं। श्वेताम्बर शास्त्र सर्प को पाताल लोक में धारण नामक राजा और कमठ जीव को मेघमालिन असुर होता लिखते हैं। दिगम्बर शास्त्र सर्प को धरणेन्द्र और कमठ जीव को शंबर नामक ज्योतिषी देव हुआ बतलाते हैं।

१५. दोनों पार्श्वनाथ को ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा बतलाते हैं किन्तु श्वेताम्बर मत में दीक्षा वृक्ष अशोक है, दिगम्बर में बड़ का वृक्ष। दीक्षा देने का कारण भी दोनों में भिन्न है।

१६. दिगम्बर मत में छद्मावस्था में उन्हें मौन धारण किये बतलाते हैं किंतु श्वेताम्बर मत में आचारांग सूत्र से बाधित उन्हें भावदेव सूरि ने उपदेश देते लिखा है।

१७. तत्पश्चात् श्वेताम्बर मत असुर द्वारा भगवान् पर उपसर्ग हुआ बतलाते हैं जो अंत में उनकी शरण में आया कहते हैं। किन्तु दिगम्बर शास्त्र उसे समोशरण में सम्यक्त्व की प्राप्ति बतलाते हैं। उपसर्ग होने के बाद श्वेताम्बर उन्हें काशी पहुंचना बतलाते हैं जब कि दिगम्बर यह घटना स्वयं काशी में हुई बतलाते हैं।

१८. मोक्ष पाने पर श्वेताम्बर मतानुसार निर्वाणस्थलपर देवेन्द्र द्वारा रत्न-जटित स्तूप बनाया गया था। ऐसा कोई उल्लेख दिगम्बर जैन शास्त्रों में नहीं है।

१९. कल्पसूत्र में गर्भ तिथि चैत्र कृष्णा ४ समय अर्धरात्रि है। दिगम्बर शास्त्र में यह वैशाख कृष्ण २ समय अर्ध रात्रि है। जन्म तिथि भी क्रमश: पौष कृष्ण १० और पौषकृष्ण ११ है।

२०. पालकी के नाम क्रमश: कल्पसूत्र में 'विशाला' और दिगम्बर शास्त्र में 'विमला' है।

२१. दीक्षा समय - दिगम्बर शास्त्र भगवान् को दिगम्बर मुनि हुआ बतलाते हैं, किन्तु श्वेताम्बर शास्त्र उन्हें देव दूष्य वस्त्र धारण करते हुए लिखते हैं जो उनकी सर्वोच्च दशा में नग्नता होनी चाहिए। वैदिक काल के जैन यति या ज्येष्ठ व्रात्य नग्न होते थें।

२२. दिगम्बर शास्त्र भगवान् की छद्मावस्था ४ मास और केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि चैत्रकृष्ण १४ कहते हैं। श्वेताम्बर यह अवधि ८३ दिन और उक्त तिथि चैत्रकृष्ण ४ कहते हैं।

२३. दिगम्बरानुसार भगवान् १ माह का योगसाधन कर श्रावण सुदि ७ को ३६ मुनीश्वरों सहित मुक्त हुए थे। कल्पसूत्र में उन्हें श्रावण शुक्ल ८ को ८३ व्यक्तियों सहित निर्वाण पद पाते लिखा है।

इत्यादि रूप उपरोक्त अन्तर बेताल पंच विशंतिका में भी दृष्टिगत है। जैसी दो जीवों के दश भवों तक शत्रुता चली आई, ऐसी अनेक कथाएं भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं यथा ब्रह्मदत्त कथा में चित्त और सम्भूत की कथा। *सन्तकुमार की कथा (कथाकोष) भी इसी प्रकार की है।* इसी प्रकार प्रद्युम्नसूरि की समरादित्य कथा में राजकुमार गुणसेन और ब्राह्मण अग्निशर्मा की परस्पर शत्रुता दिग्दर्शित की गयी है। बौद्धों के धम्म पद (२९१) में भी ऐसी ही कथा है। कथाकोष में ऐसी शत्रुता दो ब्राह्मण भाई के मध्य पांच भवों तक आई है। वस्तुत: श्री पार्श्वनाथ से से बढ़कर कोई

साधु, कमठ से बढ़कर कोई खल दिखलाई नहीं देता है (पार्श्वाभ्युदय काव्य १७)।

यथार्थतः पार्श्वनाथ का युग ईसा पूर्व नौवी शताब्दी ऐतिहासिक युग का प्रारम्भ माना जाने लगा है। शतपथ ब्राह्मण के कालतक वैदिक आर्य विदेह तक ही बढ़ सके थे। दक्षिण बिहार एवं बंगाल में ब्राह्मण धर्म का प्रसार ईस्वी सन् की तीसरी सदी के मध्य तक हो सका था। इस प्रकार पूर्वीय भारत में अपनी संस्कृति को फैलाने में वैदिक आर्यों को लगभग १००० वर्ष लगे। (Annals of the Bhandarkar Research Institute, Poona, Vol. 12, p. 113)। कोसल और विदेह के साथ काशी को प्राधान्य भी उत्तर वैदिक काल में मिला। अथर्ववेद में प्रथम बार काशी का निर्देश मिलता है। काशी के राजा धृतराष्ट्र को शतानीक सहस्राजित ने हराया था। वह अश्वमेध यज्ञ करना चाहता था किंतु शतानीक ने उसे हरा दिया। फलस्वरूप काशीवासियों ने यज्ञ करना ही छोड़ दिया (Political History of Ancient India, by Ray Chaudhary, p. 62)। काशी के भरतवंश का स्थान ब्रह्मदत्त वंश ने लिया था। संभवतः यहां से उग्र वंश का प्रारंभ हो। वृहदारण्यक उपनिषद (गीता प्रेस, गोरखपुर, ३-८-२) में गार्गी याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न करने की अनुज्ञा लेते हुए कहती है। "यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्जयं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाण वन्तौ सपत्नाति व्याधिभौ हस्ते कृत्वो पोत्तिष्ठदेव-मेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थाम्" अर्थात् "याज्ञवल्क्य! जिस प्रकार काशी या विदेह का रहने वाला कोई उग्रपुत्र प्रत्यञ्चाहीन धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर शत्रु को अत्यन्त पीड़ा देने वाले दो फलवाले बाण हाथ में लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूं।"

दिगम्बर जैन साहित्य के अनुसार पार्श्वनाथ उग्रवंशी थे। जैन मान्यतानुसार ऋषभ देव ने वंशों की स्थापना की थी अतः उनके इक्ष्वाकुवंश की एक शाखा उग्र वंश होना प्रतीत होता है। सूत्र कृतांग में उग्रों, भोगों, ऐक्ष्वाकों और कौरवों को ज्ञातृवंशी और लिच्छवियों से सम्बद्ध बतलाया गया है (तिलोयपण्णत्ती, अ. ४, गा. ५५०)। गार्गी के उपरोक्त

कथन से काशी के उग्रों और विदेह के लिच्छवियों की एकता का समर्थन होता है। ज्ञातृवंशियों से भी इनकी एकता रही (देखिये Political History of Ancient India, Vol. 12, p. 99). बौद्ध जातकों में जो राजाओं का कथन आया है उनमें एक विस्ससेन भी है। डा. भण्डारकर ने पुराणों के विश्वकसेन और जातकों के विस्ससेन को एक ठहराया था। जैन साहित्य में पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसेन या अस्ससेण बतलाया है जो न तो जातकों में, न हिन्दू पुराणों में उपलब्ध है। पार्श्वनाथ पूजन (विगत शताब्दी) में यह नाम विस्ससेन दिया है। "तहां विस्ससेन नरेन्द्र उदार"। इतना परिवर्तन सांकेतिक है।

इतिहास में नाग जाति प्रसिद्ध है। वैदिक आर्य नागों के बैरी थे। नाग जाति असुरों की एक शाखा थी जो उनकी रीढ़ के तुल्य थी। नागपुर में उनके भग्नावशेष प्राप्य हैं। नागों का राजा तक्षक नग्न श्रमण हो गया था। जब नाग लोग गंगा की घाटी में बसते थे तो एक नाग राजा के साथ वाराणसी की राजकुमारी का विवाह हुआ था (Glimpses of Political History, R.L. Mehta, p. 65). । अत: वाराणसी के राज घराने के साथ नागों का कौटुम्बिक सम्बंध भी था। गंगा की घाटी में ही (अहिक्षेत्र) तप करते हुए पार्श्वनाथ की उपसर्ग से रक्षा नागों के अधिपति ने की थी।

अत: शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद पार्श्वनाथ के समकालीन प्रतीत होते हैं। जिनमें प्रथम बार तापसों और श्रमणों के नाम मात्र मिलते हैं (४-३-१२)। याज्ञवल्क्य जनक से आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि इस सुषुप्तावस्था में श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते हैं। वैदिक आर्य यज्ञों के प्रेमी थे। यज्ञ का उद्देश्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति एवं वृद्धि था। वेदों के मंत्रयुग के पश्चात् ब्राह्मणयुग आया जिसमें पुरोहितों की शक्ति बहुत बढ़ी। इसके पश्चात् उपनिषदों में ही पुनर्जन्म और कर्म फलवाद का विवरण मिलता है। पं. कैलाशचन्द सिद्धान्त शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका, द्वितीय सं. १९८६, श्री गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी) पृ. १०६ पर लिखते हैं:-

"उस युग में आत्मा और ब्रह्म की जिज्ञासा पुरोहित वर्ग में कितनी बलवती थी यह पीछे उपनिषदों के कुछ उपाख्यानों के द्वारा बतलाया गया है। इसी युग के आरम्भ में काशी में पार्श्वनाथ ने जन्म लेकर भोग का मार्ग छोड़ योग का मार्ग अपनाया था। उस समय वैदिक आर्य भी तप के महत्त्व को मानने लगे थे। किन्तु अपने प्रधान कर्म अग्निहोत्र को छोड़ने में असमर्थ थे। अत: उन्होंने तप और अग्नि को संयुक्त करके पञ्चाग्नि तप को अंगीकार कर लिया था। ऐसे तापसियों से ही पार्श्वनाथ की भेंट गंगा के तट पर हुई थी।"

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चातुर्याम

पार्श्वनाथ उस श्रमण परम्परा के अनुयायी थे जिसका निर्देश वृहदाण्यक उपनिषद में पाते हैं। वाल्मिकि रामायण में भी उनका संकेत हैं। जैन साहित्य में पांच प्रकार के श्रमण कहे गये हैं - निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गौरुक और आजीवक। जैन साधुओं को निर्ग्रन्थ श्रमण कहते हैं। बौद्ध त्रिपिटिकों में महावीर को निगंठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र) कहा है और निर्ग्रन्थ शब्द का बहुधा उपयोग हुआ है। इस आधार से याकोबी ने प्रमाणित किया कि बुद्ध से पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय वर्तमान था। अंगुत्तर निकाय में वप्प नामक शाक्य को निर्ग्रन्थ का श्रावक बतलाया गया है। पार्श्वनाथ ने 'चातुर्याम' का यह उपदेश दिया था - (श्वेताम्बर टीकाकारों ने इन्हीं को याम कहा है - यम का अर्थ है दमन करना। दिगम्बर परम्परा में अन्य अर्थ है):

१. सर्व प्रकार के प्राणघात का त्याग
२. सर्व प्रकार के असत्य वचन का त्याग
३. सर्व प्रकार के अदत्तादान (बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण) का त्याग
४. सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग

निश्चित ही इन चार प्रकार के दमन का स्रोत तपस्वी मुनियों की परम्परा रहा होगा। यह संस्थापना एक मौलिक एवं ऐतिहासिक तथ्य थी।

उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के भेद से चतुर्विध संघ की भी स्थापना की। स्वभावत: उस समय की परिस्थिति में सामान्य जनता को यह अहिंसा प्रिय लगी होगी, क्यों कि राजा तथा सम्पन्न ब्राह्मण पुरोहित वर्ग जनता से खेती के जानवरों को जबरदस्ती छीन कर यज्ञ यागों में उसका वध कर देते थे। (पार्श्वनाथ का चातुर्याम, बम्बई, पृ. १५-१६)

आचार्य सकलकीर्ति एवं एक अन्य आचार्य ने भगवान् पार्श्वनाथ के विहार संबंधी देशों का उल्लेख किया है - कुरू, कौशल, काशी, अवंती, पुंड्र, मालवा, अंग, बंग, कलिंग, पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दर्शार्ण, कर्नाटक, कौंकन, मेदपाद (मेवाड़), लाट, द्राविड़, काश्मीर, मगध, कच्छ, विदर्भ, शाक, पल्लव, वत्स इत्यादि (१७-२३; ७६-८५)। इन पर विशेष बिवरण कामता प्रसाद ने दिया है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का धर्मोपदेश द्रव्य, क्षेत्र काल भाव के अनुसार मोक्षमार्गी तथा अन्य तीर्थंकरों के समान (त्रिकाल एवं त्रिलोक में समान रूप से) रहा होगा। षट् द्रव्य, सात तत्व और नौ पदार्थों का निरूपण सदैव एकसा ही होगा। वट्टकेराचार्य ने सामायिक का वर्णन करते हुए स्पष्टत: कहा है :

वावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुणभयवं उसहो य वीरो य ।।७-३२।।(मूलाचार)

अर्थात् "अजित से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का और ऋषभदेव तथा महावीर भगवान् ने 'छेदोपस्थापना' संयम का उपदेश दिया है।" पं. जुगल किशोर के अनुसार "च" कार से परिहारविशुद्धि आदि चारित्र का भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार विधायक क्रम में भेद का कारण, छेदोपस्थापना का स्थापन अति सरलता और अति वक्रता के लिए आवश्यक था (मूलाचार ७-३३-३४)। श्रीमद् भट्टाकलंक ने इस विषय पर विशेष तत्वार्थराजवार्तिक में दिया है। आचार्य वट्टकेर ने बतलाया है कि पहले और अंतिम तीर्थंकर का धर्म अपराध होने और न होने की अपेक्षा न करके प्रतिक्रमण सहित प्रवर्तता है, पर मध्य के

२२ तीर्थंकरों का धर्म अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण का विधान करता है। कारण कि उनके समय में अपराध की बाहुल्यता नहीं होती। कारण कि २२ तीर्थंकरों के शिष्य विस्मरणशीलता रहित, दृढ़ बुद्धि, स्थिर चित्त और मूढ़ता रहित परीक्षा पूर्वक करने वाले होते हैं (वही ७-१२५-७-१२९) आदि और अंत के ऋजुजड़ और वक्रजड़ समझना चाहिये।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसा ही वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में "केशी और गौतम" के सम्वाद रूप में मिलता है। (२२-२७) केशी ने गौतम से पूछा था कि क्या कारण है कि दोनों तीर्थंकरों के धर्म एक ही उद्देश्य के लिए है तब एक में चार व्रत और अन्य में पांच क्यों बतलाए गये हैं। केशी, पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में एक आचार्य हैं। यहां पांच महाव्रत रूप लिया है यद्यपि श्वेताम्बर मूलसूत्र में चातुर्याम शब्द की कुछ भी व्यवस्था नहीं की गई है। उपरान्त के श्वेताम्बर टीकाकार उसका भाव अहिंसा, अचौर्य, सत्य और अपरिग्रह व्रतरूप करते हैं जैसा ऊपर वर्णित किया गया है। इस शब्द का भाव मूल रूप में इसी रूप था, इस बात को प्रकट करने के लिए श्वेताम्बरों के पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बौद्ध शास्त्र में गिनाये गये चार प्रकार का धर्म समन्तभद्राचार्य के निम्न श्लोक से सामंजस्य रखता है।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह।
ज्ञान ध्यान तपोरकृस्तपस्वी स प्रशस्यते।।१०।।

अतः चातुर्याम का रूप समन्तभद्राचार्य ने "विषयों की आशा और आकांक्षा से रहित, निरारम्भ, अपरिग्रही, ज्ञानध्यानमय तपस्वी" रूप प्ररूपित किया है। वह बौद्धों के चार प्रकार के धर्म से मेल खाता है। अतः ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पार्श्वनाथ के समय में भी थी, तदनुसार श्वेताम्बर सूत्र का अर्थ उपरोक्त दिगम्बरी होना चाहिए। हो सकता है कि उन्होंने बौद्ध शास्त्रों से लेकर अपने सूत्र का वह अर्थ ले लिया हो।

पुन: केशी श्रमण उत्तराध्ययन में गौतम गणधर से यह (२८-३२) पूछते बतलाए गये हैं कि, "वर्द्धमान स्वामी के धर्म में वस्त्र पहिनना मना है और पार्श्वनाथ के धर्म में आभ्यन्तर और बहिर वस्त्र धारण करना उचित है। दोनों ही धर्म एक उद्देश्य को लिये हुए हैं फिर यह अन्तर कैसा?" गौतम गणधर के इस उत्तर ने क्या केशी को समाधानित कर दिया होगा? "अपने उत्कृष्ट ज्ञान से विषय को निर्धारित करते हुए तीर्थंकरों ने जो उचित समझा सो नियत किया। धार्मिक पुरुषों के विविध बाह्य चिन्ह उनको वैसा समझने के लिये बताए गये हैं। लक्षणमय चिन्हों का उद्देश्य उनकी धार्मिक जीवन में उपयोगिता है और उनके स्वरूप को प्रकट करना है। अब तीर्थंकरों का कथन है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष के कारण हैं (न कि बाह्य चिन्ह)।"

वस्तुत: भारत में पार्श्वनाथ के युग में भी लिपि का अभाव होने से श्रुत ही रहा होगा जिससे ब्राह्मी लिपि (एवं सुन्दरी लिपि) के आविष्कार होने तक का ऐतिहासिक इतिवृत्त गम्भीर कोहरे से आच्छन्न है। हमने कर्म सिद्धान्त के गणितीय संदृष्टि पूर्ण विवरण से यह निष्कर्ष निकाला है कि इन दो लिपियों का आविष्कार आचार्य भद्रबाहु एवं दीक्षित सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा चतुर्थ शताब्दी ईस्वी पूर्व में श्रमणबेलगोल में किया गया होगा। (देखिये अर्हत् वचन में प्रकाशित विभिन्न लेख १(३), ७-१५, १९८९; ४.१, १९९२, १३-२०; ४.४, १९९२, १२-२१; ५.३, १९९३, १५५-१७१ आदि)।

यद्यपि बुद्ध ने जो प्रारंभ में कठोर तपस्वी जीवन बिताया था वह ४ तप रूप था :

१. तपस्विता (नग्न रहना, हाथ में ही भिक्षा भोजन करना, केश दाढ़ी के बालों को उखाड़ना, कंटकासीन स्थल पर शयन करना)।
२. रुक्षता (शरीर पर मैल धारण करना या स्नान न करना) स्व एवं पर द्वारा मैल को परिमार्जित न करना।
३. जुगुप्सा (जल की बूंद तक पर दया करना)।
४. प्रविविक्तता (वनों में अकेले रहना)।

तथापि उन्होंने उसे निस्सार मान अष्टांगिक मार्ग अपनाया जो सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि रूप था, जो पार्श्वनाथ के चार यामों को पूर्ण रूप से स्वीकार कर चुकी था (Kaushambi, Parsvanatha Caturyama, Bombay, pp. 24 et. seq.).

अतः यदि भगवान् पार्श्वनाथ सर्वज्ञ थे तो उनके संघ में वही ज्ञान रहा होगा जो द्वादशांग वाणी रूप एवं पूर्वों रूप रहा होगा। साथ ही जो कठिनतम गणितमय कर्म सिद्धान्त तथा उसके भी परे जो ज्ञान था वह भी उन्हें उसी परम्परा से प्रवाह रूप में, केवलज्ञान के पूर्व, प्राप्त हुआ होगा जो महावीर एवं गौतम को साधना काल में प्राप्त हुआ होगा। उसका कुछ अंश आचार्य भद्रबाहु एवं दीक्षित मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त द्वारा षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत, तिलोयपण्णत्ती, वृहद्धारा परिकर्म, आदि को लिपिबद्ध किया गया होगा, प्रतीत होता है। क्यों कि ब्राह्मी लिपि या सुन्दरी लिपि अथवा घनाक्षरी एवं हीनाक्षरी के आविष्कार का समय वही है। इसके पूर्व कोई भी शिलालेख अप्राप्य है, तथा मेगास्थनीज भी भारत में निरक्षरता का उल्लेख करता है। वस्तुतः उस युग में सभी भारतीय साहित्य श्रुत, स्मृति रूप चला आ रहा था।

आचार्य जिनसेन (द्वितीय) और उनका 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य

*– विद्यावाचस्पति डॉ. श्रीरंजनसूरि देव**

जैन काव्यों की महनीय परम्परा में, आचार्य जिनसेन (द्वितीय) द्वारा प्रणीत 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की पांक्तेयता सर्वविदित है। आचार्य जिनसेन (द्वितीय), आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री की ऐतिहासिक कृति 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' (खण्ड २) के अनुसार श्रुतधर और प्रबुद्धाचार्यों के बीच की कड़ी थे। इनकी गणना सारस्वताचार्यों में होती है। यह अपनी अद्वितीय सारस्वत प्रतिभा और अपार कल्पना-शक्ति की महिमा से 'भगवत् जिनसेनाचार्य' कहे जाते थे। यह मूलग्रन्थों के साथ ही टीका ग्रन्थों के भी रचयिता थे। इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं – जयधवला टीका का शेष भाग, 'आदिपुराण' या 'महापुराण', 'पार्श्वाभ्युदय' और 'वर्द्धमान पुराण'। इनमें 'वर्द्धमान पुराण' या 'वर्द्धमान चरित' उपलब्ध नहीं है।

आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ईसा की आठवीं-नवीं शती में वर्तमान थे। यह काव्य, व्याकरण, नाटक, दर्शन, अलंकार, आचारशास्त्र, कर्म सिद्धान्त प्रभृति अनेक विषयों के बहुश्रुत विद्वान थे। यह अपने योग्य गुरू के योग्यतम शिष्य थे। जैन सिद्धान्त के प्रख्यात ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' तथा 'कसायपाहुड' के टीकाकार आचार्य वीरसेन (सन् ७९२ से ८२३ ई.) इनके गुरु थे। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी द्वारा सम्पादित 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में भी उल्लेख है कि आचार्य जिनसेन, धवला टीका के कर्त्ता श्री वीरसेन स्वामी के शिष्य तथा उत्तरपुराण के कर्त्ता श्री गुणभद्र के गुरु थे और राष्ट्रकूट-नरेश

---

* पटना

जयतुंग एवं नृपतुंग, अपरनाम अमोघवर्ष (सन् ८१५ से ८७७ ई.) के समकालीन थे। राजा अमोघवर्ष की राजधानी मान्यखेट में उस समय विद्वानों का अच्छा समागम था।[१]

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के सन्दर्भानुसार आचार्य जिनसेन आगर्भ दिगम्बर थे; क्यों कि इन्होंने बचपन में आठ वर्ष की आयु तक लंगोटी पहनी ही नहीं और आठ वर्ष की आयु में ही दिगम्बरी दीक्षा ले ली। इन्होंने अपने गुरु आचार्य वीरसेन की, कर्मसिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' की अधूरी 'जयधवला' टीका को, भाषा और विषय की समान्तर प्रतिपादन-शैली में पूरा किया था और इनके अधूरे 'महापुराण' या 'आदिपुराण' को (कुल ४७ पर्व), जो 'महाभारत' से भी बड़ा है, इनके शिष्य आचार्य गुणभद्र ने पूरा किया था। गुणसेन द्वारा पूरा किया गया अंश या शेषांश उत्तरपुराण नाम से प्रसिद्ध है। पंचस्तूपसंघ की गुर्वावलि के अनुसार वीरसेन के एक और शिष्य थे -विनय सेन।

आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने दर्शन के क्षेत्र में जैसी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है, वैसी ही अपूर्व मनीषा काव्य के क्षेत्र में भी प्रदर्शित की है। इस संदर्भ में इनकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व की संस्कृत काव्यकृति 'पार्श्वाभ्युदय' उल्लेखनीय है। प्रस्तुत काव्य के अन्तिम दो श्लोकों से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त राष्ट्रकूटवंशीय नरपति अमोघवर्ष के शासनकाल में इस विलक्षण कृति की रचना हुई। श्लोक इस प्रकार हैं।

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्टय मेघं बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठातादाशाशाङ्कं : भुवनमवतु देवः सर्वदाऽमोघवर्षः।।
श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृंग : श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टित मेघदूतम्।।

अर्थात्, प्रस्तुत 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य कालिदास कवि के अनेक गुणों से युक्त निर्दोष काव्य 'मेघदूत' को आवेष्टित करके रचा गया है। मेघसन्देश-विषयक अन्य काव्य को निष्प्रभ करने वाला यह काव्य यावच्चन्द्र विद्यमान रहे। और, राजा अमोघवर्ष सदा जगद्रक्षक बने रहें। यहां देवः

अमोघवर्ष' शब्द मेघ का वाचक भी है। इस पक्ष में इसका अर्थ होगा - सफलवृष्टि करने वाला मेघ'।

दूसरे श्लोक का अर्थ है - श्री वीरसेन मुनि के पद-पंकज पर मंडराने वाले भृंग-स्वरूप श्रेष्ठ श्रीमान् विनयसेन मुनि की प्रेरणा से मुनिश्रेष्ठ जिनसेन ने 'मेघदूत' को परिवेष्टित करके इस 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना की।

पूर्वोक्त महामुनि आचार्य वीरसेन, विनयसेन और जिनसेन नामक मुनिपुंगवों के गुरु थे। विनयसेन की प्रार्थना पर ही आचार्य जिनसेन ने कालिदास के समग्र 'मेघदूत' को समस्यापूर्ति के द्वारा आवेष्टित कर पार्श्वाभ्युदय की रचना की। चार सर्गों में पल्लवित इस काव्य में कुल ३६४ (प्रथम:११८; द्वितीय: ११८; तृतीय: ५७; चतुर्थ: ७१) श्लोक हैं। इसका प्रत्येक श्लोक 'मेघदूत' के क्रम से, श्लोक के चतुर्थांश या अर्द्धांश को समस्या के रूप में लेकर पूरा किया गया है। समस्यापूर्त्ति का आवेष्टन तीन रूपों में रखा गया है:

१. पादवेष्टित, २. अर्धवेष्टित और ३. अन्तरितावेष्टित। अन्तरितावेष्टित में भी एकान्तरित और द्वयन्तरित ये दो प्रकार हैं।

प्रथम 'पादवेष्टित' में, चतुर्थ चरण में 'मेघदूत' के किसी श्लोक का कोई एक चरण रखा गया है और 'अर्धवेष्टित' में किसी 'मेघदूत' के किसी श्लोक के दो चरणों का विनियोग तृतीय-चतुर्थ चरणों के रूप में किया गया है। और फिर, 'अन्तरितावेष्टित' में, 'मेघदूत' के श्लोकों को 'पार्श्वाभ्युदय' के जिस श्लोक में प्रथम और चतुर्थ चरण के रूप में रखा गया है, उसकी संज्ञा 'द्वयन्तरितार्धवेष्टित' है तथा जिस श्लोक में प्रथम और तृतीय चरण के रूप में रखा गया है, उसकी संज्ञा'एकान्तरित' है। इस प्रकार की व्यवस्था का ध्यातव्य वैशिष्टय यह है कि 'मेघदूत' के उद्धत चरणों के प्रचलित अर्थ को विद्वान कवि आचार्य जिनसेन ने अपने स्वतन्त्र कथानक के प्रसंग से जोड़ने में विस्मयकारी विलक्षणता का परिचय दिया है।

यहाँ समस्या-पूर्ति के उक्त प्रकारों का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

पादवेष्टित

श्रीमन्मूर्त्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन्बद्धवैरेण दग्धः
कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः।।(सर्ग १: श्लोक १)

अर्धवेष्टित

रम्योत्संगे शिखरनिपतन्निर्झरारावहृद्ये
पर्यारूढद्रुमपरिगतोपत्यके तत्र शैले।
विश्रान्तः सन्व्रज वमनदीतीरजामां निषिञ्चन्नुद्यानानां
नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।। (सर्ग १ : श्लो. १०१)

एकान्तरितावेष्टित

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्यवीणां
गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानम्।
मद्गोत्रांक विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती।।
(सर्ग ३ : श्लो. ३८)

द्व्यन्तरितार्धवेष्टित

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुलावा
त्वत्सम्प्राप्त्यै विहितनियमान्देवताभ्योभजन्तः।
बुद्ध्यारूढं चिरपरिचितं त्वदगतं ज्ञातपूर्वं
मात्सादृश्यं विरहतनु वा भावेगम्यं लिखन्ती।।
(सर्ग ३: श्लो. ३६)

द्वयन्तरितार्धवेष्टित का द्वितीय प्रकार

अन्तस्तापं प्रपिशुनयता स्वंकवोष्णेन भूयो
निःश्वासेनाधर किसलयक्लेशिना विक्षिपत्नी।
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बं
विश्लिष्टं वा हरिणचरितं लाञ्छनं तन्मुखेन्दोः।।
(सर्ग ३:श्लोक .४६)

इस श्लोक के द्वितीय-तृतीय चरणों में 'मेघदूत' के श्लोक के द्वितीय-तृतीय चरणों का विन्यास हुआ है।

एकान्तरितावेष्टित का द्वितीय प्रकार

चित्रन्यस्तामिव सवपुषं मन्मथीग्रावस्था
माधिक्षमां विरहशयने सन्निषण्णैक पार्श्वाम्।
तापापास्त्यै हृदयानिहितां हारयष्टिं दधानां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।।(सर्ग ३: श्लो. ४४)

इस श्लोक के द्वितीय-चतुर्थ चरणों में 'मेघदूत' के श्लोक के द्वितीय-चतुर्थ चरणों का विनियोग हुआ है।

पादवेष्टित का द्वितीय प्रकार

मामाकाशप्रणिहित भुजं निर्दयाश्लेषहेतो -
रुन्तिष्ठासु त्वदुपगमन प्रत्ययात्स्वप्नजातात् ।
सख्यो दृष्ट्वा सकरुणमृदुव्यावहासिं दधाना :
कामोन्मुग्धाः स्मरयितुमहो संश्रयन्ते विबुद्धान्।।

(सर्ग ४: श्लो.३६)

इसश्लोकमें प्रथमचरण 'मेघदूत' के श्लोक का है। इसलिए इसकी आख्या पूर्वार्ध पादवेष्टित है।

पादवेष्टित का तृतीय प्रकार

निद्रासंगादुपहितरतेर्गाढमाश्लेषवृन्ते -
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
विश्लेषस्स्याद्विहितरुदितैराधिजैराशुबोधैः
कामोऽसह्यं घटयतितरां विप्रलम्भावतारम्।।(सर्ग ४: श्लो.३७)

प्रस्तुत श्लोक में द्वितीय चरण 'मेघदूत' के श्लोक का है। इस प्रकार, कवि श्री जिनसेन ने पादवेष्टित, पादार्धवेष्टित और पादान्तरितावेष्टित के रूप - वैभिन्न्य की अवतारणा द्वारा 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य के रचना शिल्प में चमत्कार-वैचित्र्य उत्पन्न कर अपनी अद्भुत काव्यप्रौढिता का आह्लादक परिचय दिया है।

आचार्य जिनसेन राजा अमोघवर्ष के गुरु थे, यह काव्य के प्रत्येक सर्ग की समाप्ति में, मूल काव्य और उसकी सुबोधिका व्याख्या की पुष्पिका में उल्लिखित है: 'इत्यमोघवर्षपरमेश्वर-परमगुरु श्री जिनसेनाचार्य विरचित मेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये...'। प्रसिद्ध जैन विद्वान श्री पन्नालाल बाकलीवाल के अनुसार राष्ट्र कूटवंशीय राजा अमोघवर्ष ७३६ शकाब्द में कर्णाटक और महाराष्ट्र का शासक था। इसने लगातार तिरसठ वर्षों तक राज्य किया। इसने अपनी राजधानी मलखेड या मान्यखेट में विद्या एवं सांस्कृतिक चेतना के प्रचुर प्रचार-प्रसार के कारण विपुल यश अर्जित किया था। ऐतिहासिकों का कहना है कि इस राजा ने 'कविराजमार्ग' नामक अलंकार-ग्रन्थ कन्नड-भाषा में लिखा था। इसके अतिरिक्त, 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' नामक एक लघुकाव्य की रचना संस्कृत में की थी। यह राजा आचार्य जिनसेन के चरणकमल के नमस्कार से अपने को बड़ा पवित्र मानता था।

'पार्श्वाभ्युदय' के अन्त में सुबोधिका-टीका, जिसकी रचना आचार्य मल्लिनाथ की मेघदूत-टीका के अनुकरण पर हुई है, के कर्त्ता पण्डिताचार्य योगिराट् की ओर से 'काव्यावतर' उपन्यस्त हुआ है, जिससे 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना की एक मनोरंजक पृष्ठभूमि की सूचना मिलती है:

एक बार कालिदास नाम का कोई ओजस्वी कवि राजा अमोघवर्ष की सभा में आया और उसने स्वरचित 'मेघदूत' नामक काव्य को अनेक राजाओं के बीच, बड़े गर्व से, उपस्थित विद्वानों की अवहेलना करते हुए सुनाया। तब, आचार्य जिनसेन ने अपने सतीर्थ्य आचार्य विनयसेन के आग्रहवश उक्त कवि कालिदास के गर्व-शमन के उद्‌देश्य से सभा के समक्ष उसका परिहास करते हुए कहा कि यह काव्य (मेघदूत) किसी पुरानी कृति से चोरी करके लिखा गया है, इसीलिए इतना रमणीय बन पड़ा है। इस बात पर कालिदास बहुत रुष्ट हुआ और जिनसेन से कहा - 'यदि यही बात है, तो लिख डालो कोई ऐसी ही कृति।' इस पर जिनसेन ने कहा - ऐसी काव्यकृति तो मैं लिख चुका हूँ, किन्तु है वह यहां से दूर किसी दूसरे नगर में। यदि आठ दिनों की अवधि मिले तो उसे यहाँ लाकर सुना सकता हूं।

आचार्य जिनसेन को राजसभा की ओर से यथाप्रार्थित अवधि दी गई और उन्होंने इसी बीच तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कथा के आधार पर 'मेघदूत' की पंक्तियों से आवेष्टित करके 'पाश्र्वाभ्युदय' जैसी महार्घ काव्य-रचना कर डाली और उसे सभा के समक्ष उपस्थित कर कवि कालिदास को परास्त कर दिया।

पार्श्वाभ्युदय' का संक्षिप्त कथावतार इस प्रकार है: भरतक्षेत्र के सुरम्य नामक देश में पोदनपुर नाम का एक नगर था। वहाँ अरविन्द नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा के कमठ और मरुभूति नाम के दो मन्त्री थे, जो द्विजन्मा विश्वभूति तथा उसकी पत्नी अनुदरी के पुत्र थे। कमठ की पत्नी का नाम वरुणा था और मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा नाम की थी। एक बार छोटा भाई मरुभूति शत्रु-राजा वज्रवीर्य के विजय के लिए अपने स्वामी राजा अरविन्द के साथ युद्ध में गया। इस बीच मौका पाकर दुराचारी अग्रज कमठ ने अपनी पत्नी वरुणा की सहायता से भ्रातृ पत्नी वसुन्धरा को अंगीकृत कर लिया। राजा अरविन्द जब शत्रु विजय करके वापस आया, तब उसे कमठ की दुर्वृत्ति की सूचना मिली। राजा ने मरुभूति के अभिप्रायानुसार नगर में प्रवेश करने के पूर्व ही अपने भृत्य के द्वारा कमठ के नगर-निर्वासन की आज्ञा घोषित कराई, क्योंकि राजा ने दुर्वृत्त

कमठ का मुँह देखना भी गवारा नहीं किया। कमठ अपने अनुज पर क्रुद्ध होकर जंगल चला और वहाँ उसने तापस-वृत्ति स्वीकार कर ली।

अपने अग्रज कमठ की इस निर्वेदात्मक स्थिति से जाने क्यों मरुभूति को बड़ा पश्चाताप हुआ। जंगल जाकर उसने अपने अग्रज कमठ को ढूँढ निकाला और वह उसके पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा। क्रोधान्ध कमठ ने पैरों पर गिरे हुए मरुभूति का सिर पत्थर मारकर फोड़ डाला, जिससे उसकी वहीं तत्क्षण मृत्यु हो गई।

इस प्रकार, अकाल मृत्यु को प्राप्त मरुभूमि आगे भी अनेक बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता रहा। एक बार वह पुनर्भव के क्रम में काशी जनपद की वाराणसी नगरी में महाराज विश्वसेन और महारानी ब्राह्मी देवी के पुत्र-रूप में उत्पन्न हुआ और तपोबल से तीर्थंकर पार्श्वनाथ बनकर पूजित हुआ। अभिनिष्क्रमण के बाद, एक दिन, तपस्या करते समय पार्श्वनाथ को पुनर्भवों के प्रपंच में पड़े हुए शम्बर नाम से प्रसिद्ध कमठ ने देख लिया। देखते ही उसका पूर्व जन्म का वैर भाव जग पड़ा और उसने मुनीन्द्र पार्श्वनाथ की तपस्या में विविध विघ्न उपस्थित किये। अन्त में मुनिन्द्र के प्रभाव से कमठ को सद्गति प्राप्त हुई। जिज्ञासु जनों के निए इस कथा का विस्तार जैन पुराणों में द्रष्टव्य है। मरुभूति का अपने भव से पार्श्वनाथ के भव में प्रोन्नयन या अभ्युदय के कारण इस काव्यकृति का पार्श्वाभ्युदय नाम सार्थक है।

इस 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य में कमठ यक्ष के रूप में कल्पित है और उसकी प्रेयसी भ्रातृपत्नी वसुन्धरा की यक्षिणी के रूप में कल्पना की गई है। राजा अरविन्द कुबेर है, जिसने कमठ को एक वर्ष के लिए नगर-निर्वासन का दण्ड दिया था। शेष अलकापुरी आदि की कल्पनाएँ 'मेघदूत' का ही अनुसरण-मात्र हैं।

आचार्य जिनसेन ने 'मेघदूत' की कथावस्तु को आत्मसात् कर उसे 'पार्श्वाभ्युदय' की कथावस्तु के साथ किस प्रकार प्रासंगिक बनाया है, इसके दो-एक उदाहरण दृष्टव्य हैं।

तस्यास्तीरे मुहुरुपलवान्नूर्ध्वशोषं प्रशुष्यन् -
नुब्दाहुस्सन्परुसमनसः पञ्चतापं तपो यः।
कुर्वन्नस्म स्मरति जडधीस्तापसानां मनोज्ञां
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।'(सर्ग १ : श्लो. ३)

मन्दबुद्धि कमठ उस सिंधु नदी के तीर पर बार-बार पत्थरों को पकड़ता था। ऊपर से पड़ने वाली तीव्र धूप से उसके शरीर के अवयव सूख रहे थे। ऊपर हाथ उठाये हुए वह कठिन चिन्तनपूर्वक पंचाग्नि तापने का तप कर रहा था। शीतल छाया वाले पेड़ों से युक्त रामगिरि नामक पर्वत पर वास करता हुआ वह तपस्वियों के लिए मनोरम स्थान का स्मरण तक नहीं करता था।

त्वां ध्यायन्त्या विरहशयनाभोगमुक्ताखिलाङ्ग्याः
शंके तस्या मृदुतलमवष्टभ्य गण्डोपधानम् ।
'हस्तान्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तिर्बिभर्त्ति।।' (सर्ग ३ : श्लो. २७)

विरह की शय्या पर जिसका सारा शरीर निढाल पड़ा है, ऐसी वसुन्धरा तुम्हारा ध्यान करती हुई अपने कपोलतल में कोमल तकिया लिए लेटी होगी; संस्कार के अभाव में लम्बे पड़े अपने केशों में आधे छिपे मुख को हाथ पर रखे हुए होगी, उसका वह मुख मेघ से आधे ढके क्षीण कान्ति वाले चन्द्रमा की भाँति शोचनीय हो गया होगा, ऐसी मेरी आशंका है।

प्रौढ काव्यभाषा में लिखित प्रस्तुत काव्य मेघदूत के समान ही मन्दाक्रान्ता छन्द में आबद्ध है। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ स्वामी की तीव्र तपस्या के अवसर पर उनके पूर्वभव के शत्रु शम्बर या कमठ द्वारा उपस्थापित कठोर कायक्लेशों तथा सम्भोगश्रृंगार से संवलित प्रलोभनों का अतिशय प्रीतिकर और रुचिरतर वर्णन इस काव्य का शैल्पिक वैशिष्ट्य है।

मेघदूत जैसे श्रृंगारकाव्य को शान्तरस के काव्य में परिणत करना कवि श्री जिनसेन की असाधारण कवित्व-शक्ति को इंगित करता है। संस्कृत के

सन्देश काव्यों या दूतकाव्यों में सामान्यतया विप्रलम्भ श्रृंगार तथा विरह-वेदना की पृष्ठभूमि रहती है। परन्तु जैन कवियों ने सन्देशकाव्यों में श्रृंगार से शान्त की और प्रस्थिति उपन्यस्त कर एतद्विध काव्य-परम्परा को नई दिशा प्रदान की है। त्याग और संयम को जीवन का सम्बल समझने वाले जैन कवियों ने श्रृंगारचेतनामूलक काव्य-विधा में भारत के गौरवमय इतिहास तथा उत्कृष्टतर संस्कृति के महार्घ तत्वों का समावेश किया है। संदेशमूलक काव्यों में तीर्थंकर जैसे शलाकापुरुषों के जीवनवृत्तों का परिगुम्फन किया है। 'मेघदूत' के श्लोकों के चरणों पर आश्रित समस्या पूर्त्ति के बहुकोणीय प्रकारों का प्रारम्भ कवि श्री जिनसेन द्वितीय के 'पार्श्वाभ्युदय' से ही होता है। यही नहीं, जैन काव्य-साहित्य में दूतकाव्य की परम्परा का प्रवर्त्तन भी 'पार्श्वाभ्युदय' से ही हुआ है। इस दृष्टि से इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व है।

'पार्श्वाभ्युदय' से तो 'अभ्युदय' - नामान्त काव्यों की परम्परा ही प्रचलित हो गई। इस सन्दर्भ में 'धर्मशर्माभ्युदय' (हरिश्चन्द्र : तेरहवीं शती); 'धर्माभ्युदय' (उदयप्रभ सूरि : तेरहवीं शती) 'कप्फिणाभ्युदय' (शिव स्वामी : नवम शती); 'यादवाभ्युदय' वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक : तेरहवीं शती); 'भरतेश्वराभ्युदय' (आशाधर : तेरहवीं शती) आदि काव्य उल्लेख्य हैं।[२]

'मेघदूत' की प्रभावान्विति से आविष्ट होने पर भी 'पार्श्वाभ्युदय' की काव्यभाषा, शैली की दृष्टि से सरल नहीं; अपितु जटिल है। फलतः कथावस्तु सहसा पाठकों को हृदयंगम नहीं होती। समस्यापूर्ति के रूप में गुम्फन होने के कारण तथा कथावस्तु के बलात् संयोजन के कारण भी मूल के अर्थ बोध में विपर्यस्तता की अनुभूति होती है। मूलतः पार्श्वाभ्युदय' प्रतिक्रिया में प्रगति एक कठिन काव्य है।

'पार्श्वाभ्युदय' समस्यापूर्तिपरक काव्य होने पर भी इसमें कविकृत अभिनव भाव-योजना अतिशय मनोरम है। किन्तु, संदेश-कथन की रमणीयता 'मेघदूत' जैसी नहीं है। इस में जैन धर्म के किसी सिद्धान्त का

कहीं भी प्रतिपादन नहीं हुआ है, किन्तु कैलास पर्वत और महाकाल-वन में जिन मन्दिरों और जिन प्रतिमाओं का वर्णन अवश्य हुआ है। जगह-जगह सूक्तियों का समावेश काव्य को कलावरेण्य बनाता है। इस प्रसंग में

'रम्यस्थानं त्यजति न मनो दुर्विधान प्रतीहि' (१.७४); 'पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव' (२.६५); 'कामोऽसह्यंघटयतितरां विप्रलम्भावतारम्' (४.३७) आदि भावगर्भ सूक्तियाँ दृष्टव्य हैं।

शब्दशास्त्रज्ञ आचार्य जिनसेन का भाषा पर असाधारण अधिकार है। इनके द्वारा अप्रयुक्त क्रियापदों का पदे-पदे प्रयोग ततोऽधिक शब्द-चमत्कार उत्पन्न करता है। बड़े-बड़े वैयाकरणों की तो परीक्षा ही 'पार्श्वाभ्युदय' में सम्भव हुई है। इस सन्दर्भ में आचार्य कवि श्री के द्वारा प्रयुक्त 'ही', ('हि' के लिए); 'स्फावयन्' (=वर्धयन्); 'प्रचिकटयिषुः' (=प्रकटयितुमिच्छुः); 'वित्तानिघ्नः'(=वित्ताधीनः); 'मङ्क्षु' (=शीघ्रेण); 'सिषिधुषः' (=सिद्धा देवताविशेषाः); 'पेणीयस्व' (अत्यर्थं पानं विधेहि); 'रवेन' (=गगनेन); 'प्रोथिनी' (=लम्बोष्ठी); 'मुरुण्डः' (=वत्सराजोनरेन्द्रः); 'हेपयन्त्याः' (=विडम्बयन्त्याः); 'निर्दिधक्षेत्' (निर्दग्धुमिच्छेत); 'वैजयार्थम्' (=विजयस्यार्थस्येदं); 'जिगलिषु'(=गलितुमिच्छु); 'शंफलान्पम्फलीति' (=शं सुखमेव फलं येषां तान् भृशं फलति); 'गहत्तमानाः' (= जुगुप्सावन्तः); 'जाघटीति' (=भृशं घटते) आदि नाति प्रचलित शब्द विचारणीय हैं।

'पार्श्वाभ्युदय' आचार्य जिनसेन का अवश्य ही एक ऐसा पार्यन्तिक काव्य है, जिसका अध्ययन-अनुशीलन कभी अशेष नहीं होगा। काव्यात्मक चमत्कार, सौन्दर्य-बोध, बिम्बविधान एवं रसानुभूति के विविध उपादान 'पार्श्वाभ्युदय' में विद्यमान हैं। निबन्धनपटुता, भावानुभूति की तीव्रता, वस्तुविन्यास की सतर्कता, विलास वैभव, प्रकृति-चित्रण आदि साहित्यिक आयामों की सघनता के साथ ही भोगवाद पर अंकुशारोपण जैसी वर्ण्य वस्तु का विन्यास 'पार्श्वाभ्युदय' की काव्यप्रौढि को सातिशय चारुता प्रदान करता है।

काव्यकार आचार्य जिनसेन ने अर्थव्यंजना के लिए ही भाषिक प्रयोग वैचित्र्य से काम लिया है। 'काव्यावतर' में वर्णित कथा-प्रसंग के आधार पर यदि आचार्य जिनसेन को कालिदास का समकालीन माना जाय तो, यह कहना समीचीन होगा कि भारतीय सभ्यता के इतिहास के जिस युग में इस देश की विशिष्ट संस्कृति सर्वाधिक विकसित हुई थी, उसी युग में 'पार्श्वाभ्युदय' के रचयिता विद्यमान थे। वह कालिदास की तरह भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग के कवि थे। इस युग की सभ्यता और संस्कृति साहित्य में ही नहीं; अपितु ललित, वास्तु, स्थापत्य आदि विभिन्न कलाओं में परिपूर्णता के साथ व्यक्त हुई है। आचार्य जिनसेन (द्वितीय) इस युग के श्रेष्ठ कवि थे और इन्होंने समय की बाह्य वास्तविकता, अर्थात् सभ्यता का चित्रण तो किया ही है, साथ ही उसकी अन्तरंग चेतना का भी जिसे हम संस्कृति कह सकते हैं, मनोहारी समाहार प्रस्तुत किया है।

'पार्श्वाभ्युदय' भाषा की प्रौढता की दृष्टि से अद्वितीय काव्य है। यह और बात है कि आचार्य जिनसेन के शास्त्रज्ञ पाण्डित ने उनके कवि को अवश्य ही परास्त किया है। फलतः इसमें पाण्डित्य के अनुपात में कवित्व कम पड़ गया है। कालिदास की अवमानना के उद्देश्य से लिखा गया होने पर भी यह काव्य उलटे ही कालिदास की काव्यात्मक वर्चस्विता का विस्तारक बन गया है।

संदर्भ

१. विशेष दृष्टव्य : "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. ३३७.

२. विशेष दृष्टव्य : "संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान", डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७१) पृ. २३७.

शिल्पकला एवं स्थापत्य के विविध आयामों में भगवान् पार्श्वनाथ

– डॉ. सुश्री सीमा जैन*

भारतीय संस्कृति की प्रमुख धारा श्रमण परम्परा में भगवान् पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक एवं गौरवशाली महत्व रहा है। जैन श्रमण परम्परा के कर्मभूमि काल के २३वें तीर्थंकर के रूप में एवं सम्पूर्ण राष्ट्र के जैनमानस में विघ्नहर, चिन्तामणी पार्श्वनाथ भगवान् की मान्यता की स्वर्णिम पृष्ठभूमि प्रत्येक चिंतनशील एवं आस्थावान प्राणी को अचंभित करके प्रेरणास्पद अनुकरण करने के लिये अनायास अवसर प्रदान करती है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने किसी नवीन धर्म का प्रतिपादन नहीं किया अपितु प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से चली आ रही अविच्छिन्न एवं अनवरत् परम्परा को, जो कि २२ वे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के शासन काल तक चली, नवीनीकृत स्वरूप "चातुर्याम" के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

ऐतिहासिक संदर्भों से प्रतिपादित होता है कि भगवान् बुद्ध के माता-पिता पार्श्वनाथ के "पार्श्वापत्य" के अनुयायी थे। कल्पसूत्र में उल्लेख आया है कि महावीर ने ठीक इसी मार्ग का अनुसरण किया जिसका उपदेश उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने दिया था।

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र अपनी अनुपम विशेषताओं के कारण विशेष उल्लेखनीय रहा है। भगवान् पार्श्वनाथ ने लोकनायक के रूप में काफी बड़ी सीमा तक जन मानस को अपने साथ स्पंदित किया था। जिसके कारण आज तक बिहार, बंगाल, उड़ीसा एवं अन्य पूर्वोत्तर भारत में जैन एवं जैनेत्तर पार्श्वनाथ को अपना कुलदेवता मानते हैं, उनके श्री

---

* ललितपुर

चरणों में अपने श्रद्धासुमन बिखेरते हैं, अपने बच्चों के नाम पार्श्वनाथ के नाम पर रखते हैं। उन्हीं विश्ववंद्य महापुरुष की निर्वाण भूमि का नाम भी "पार्श्वनाथ हिल" या "पार्श्वनाथ पहाड़ी" के नाम से प्रसिद्ध है, जो जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण वंदनीय तीर्थ है। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष मे वर्तमान में भी जैन धर्म की दोनों प्रमुख शाखाओं, दिगम्बर एवं श्वेताम्बर में, सर्वाधिक मंदिर भगवान् पार्श्वनाथ के हैं।

पार्श्वनाथ के प्रभाव का सबसे महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक प्रमाण उस समय देखने मिलता है, जब रामचरित मानस के रचयिता महाकवि तुलसीदास ने अपनी अमरजयी काव्य रचना सम्पूर्ण करने के पश्चात् उक्त कृति को भगवान् पार्श्वनाथ को समर्पित करते हुए उनकी भक्ति में छन्द लिखे हैं, जो कि वर्तमान के कट्टरपंथी चिंतकों के लिये एक अनुकरणीय दिशा बोधक प्रेरणा स्त्रोत हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ की सर्वाधिक लोकमान्यता होने के फलस्वरूप शिल्प कला एवं स्थापत्य के विविध सन्दर्भों एवं आयामों में विभिन्न शिल्पकला शैली में अत्यन्त विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। दक्षिण भारत की बादामी सभ्यता एवं राजशाही के अंचल बीजापुर, गोलकुंडा एवं जैन धर्मावलम्बी राजाओं के शासन के केन्द्रबिन्दु मैसूर में होयसल, चोल एवं अन्य कला शिल्पों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ स्वामी की खड़गासन प्रतिमाओं का समावेश है। इसी श्रंखला में पश्चिम एवं उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध दिगम्बर एवं श्वेताम्बर मंदिरों में, शंखेश्वर पार्श्वनाथ, विघ्नहर पार्श्वनाथ, चिंतामणी पार्श्वनाथ की फणवाली प्रतिमाएं शिल्पकला की बेजोड़ कृति हैं। ग्वालियर (म.प्र.) के सुप्रसिद्ध किले में स्थित गोपाचल पर्वत पर विराजमान भगवान् पार्श्वनाथ की ४२ फुट ऊंची पद्मासन प्रतिमा विश्व की एकमात्र इतनी बड़ी पद्मासन प्रतिमा है, जो शिल्प कला एवं स्थापत्य के सर्वोच्च शिखर को छूती है।

SUPARSHVA AND PARSHVA - SOME REFLECTIONS

— *Prof. Shubhachandra**

Of the twentyfour Jaina Tirthankaras, Suparshva is the seventh and Parshva is the twentythird. While Suparshva belongs to the pre-historic period, Parshva belongs to the ninth century B.C. and is considered a historical personage. Though they are chronologically separated by thousands of years, there are certain striking correspondences between them, apart from their similar names and the overhead hooded-naga. It is the purpose of this paper to highlight some of these correspondences.

Part I

Many Jaina literary works refer to Suparshva and one of them is Srimad Gunabhadracharya's Uttara Puran. Uttara Purana gives a graphic account of Suparshva. This account may be summarised thus :

Maharaja Suprathishta, who belonged to Rishabha Tirthankara's illustrious lineage, was the king of Kashi and his queen was Prithvishenadevi. Suparshva was their son. He inherited his father's kingdom during his youth and enjoyed perfect domestic bliss. Since he was able to practise self-control even in the midst of royal luxuries, his joys were within limits and this naturally led to his karma-nirjara. One day, he noticed how the season suddenly changed. This brought him the realisation that all earthly things were subject to change and nothing in this world was permanent. His wealth and kingdom appeared to be mere illusions.

* *Dept. of Jainology & Prakrit, University of Mysore, Mysore*

He thought, "How foolish have I been all these years! I have lived on without realising for a moment the impermanence of all earthly things. What a shame! A man who allows himself to be attracted by the transient wordly joys is bound to love this impermanent world! In this way, wisdom at last dawned on him. He renounced the world and undertook rigorous penance. In due course of time, he became a kevalajnani and attained salvation[1].

In addition to the above account, we get accounts of Suparshva's life in Lakshanagani's Supasanaha Chariya (circa V.S. 1199) with 8000 gathas in Prakrit[2] and in the works of Devasuri and Vibudhacharya which are not extant today, but are referred to in other works[3].

Coming to Parshvanatha, we find innumerable works on him in Sanskirt, Prakrit, Apabhramsha, Kannada, Marathi and Hindi. These works reveal his undying populalrity with his Jaina followers. A detailed account of Parshvanatha's life as found in Uttara Purana may be summarised thus :

Parshvanatha was the son of King Vishwasena of Kashi and his queen Brahmila. In his sixteenth year, he went to play games in the forest on the outskirts of the city one day. He came across his maternal grandfather Mahipala doing penance there with five fires around him. Mahipala could not control his sorrow on losing his wife. And after renouncing the world, he came to this forest for doing penance. Parshvanatha did not do obeisance to him and thus angered the tapasvi. When Mahipala was about to hew a log to pieces with his axe to feed the dying fires around him Parshvanatha shouted to him, "O, tapasvi, do not hew it to pieces because there are living being inside it". But Mahipala did not heed his advice and hewed the log to pieces. The naga couple inside was cut into two, and before the nagas died they drew comfort from Parshvanatha's presence there. They were reborn in the nagaloka as Dharanendra and Padmavathi, a yaksha couple.

When Parshvanatha was thirty years old, Jayasena, King of Ayodhya, sent a messenger to him with many royal gifts. The messanger descsribed Rishabha Thirthankara as also the city of Ayodhya ruled by him. After listening to the description, Parshvanatha learnt his bhavaparampara with his avadhijnana. He took to sanyasa immediately and had his keshalochana performed by panchmushtis. It was followed by a rigorous penance. During his penance one day, Shambaradeva, his foe in his previous birth, caused him numerous upasargas. Shambaradeva pushed a mountain over his head. Dharanendra yaksha learnt about this upasarga with his avadhijnana and appeared in the form of a hooded naga and shielded Parshvanatha. In the meanwhile, his wife Padmavathi yakshi stood by Parshavnath's side with a diamond umbrella over his head. This was how the yaksha couple showed their gratitude to Parshvanatha from whose presence they had drawn comfort before their death in their previous birth. Parshvanatha attained kevalajnana even as his tormentor, Shambaradeva felt repentant and did obeisance to him. Seven hundred ascetics who were living in that forest gave up their mithyathva and did obeisance to Parshvanatha as samyagdrishits. Parshvanatha preached Jaina doctrines for seventy years and attained nirvana in Sammedagiri[4].

Considering the lineage of the two Thirthankaras, we find from Uttara Purana that Suparshva belongs to Rishabha Thirthankara's Ikshwaku lineage, while Parshva belongs to lineage. However, Maghanandi's Shastrasara Samuchchaya includes Suparshva in the Ugra dynasty[5]. Since there is no dispute about the Ugra lineage of Parshvanatha, it can be safely assumed that Suparshva also belonged to the same lineage. Another pertinent fact in support of this assumption is that both Suparshva and Parshva belonged to Kashi and hooded nagas are found overhead in all their images.

Suparshva being a prehistoric personage in the Shramanic tradition, the picture that we get from his account in Uttara Purana is that of a puranic figure with two hundred bow's height and two crore and thirtyfive lakh years' longevity. On the other hand, according to the same work, Parshva's height was just nine times the length of the forearm and he had a hundred years' longevity. This clearly establishes him as a historical personage who lived some two hundred and fifty years before Mahavira. Though there is a puranic outer layer covering up his historical personality, there is an unmistakable historicity about him, one of the important factors throwing light on his historicity is the historical evidence of the existence of a large number of contemporary panchangni ascetics of the non-Shramanic tradition during his time. These ascetics resorted to panchagnic tapas to free themselves from worldly miseries. This historical fact is clearly brought out in the accounts of Parshvanatha's life. Tracing the correspondences between the Jaina and Vaidika puranas, some scholars have tried to identify Jayasena of Uttara purana with Krithanjaya, King of Ayodhya, belonging to the Ikshwaku lineage of the Vaidika puranas[6]. According to the Jaina puranas, Mahavira attained nirvana two hundred and fifty years after Parshvanatha's nirvana. This shows that Parshvanatha was a historical figure who lived in the ninth century B.C. On the other hand, it is almost impossible to establish the historicity of Suparshva.

Part II
Suparshva, Parshva and Naga

Since the statues of both Suparshva and Parshvanatha show the hooded naga overhead, it is a little confusing. Quite often, Suparshva's images are easily mistaken for those of Parshvanatha for this reason. If the statues are to be differentiated, it can only be done on the basis of their different emblems. While Suparshva's emblem is swastika, Parshva's emblem is sarpa. It may be asked

why a statue of Suparshva with this swastika emblem has a hooded naga overhead. Nobody has been able to answer this question satisfactorily. As can be seen, there is no direct connection between the events of Suparshva's life and his acquisition of the hooded-naga overhead. What makes this still more interesting is the fact that even the swastika emblem is associated with the hooded naga which has it on its hood[7]. The following verse in praise of Dharanendra yaksha's beautiful form describes the swastika mark on the hood of nagaraja[8].

Phanamani ganojvalam kutila kunthalolhasitham
Lasathkusumashekharam vikata visphurath swastikam
Bhujangama smanvitham prathitharupa Padmavatheepathim
Gunaganairyutham Dharanaraj yaksham bhaje

Particularly the expression 'Vikata visphurath swastikam' confirms the popular belief that swastika is also associated with the hooded nagaraja.

The statue of Parshvanatha in the Mathura museum shows the swastika mark in the middle of the seven-hooded head of nagaraja[9]. This statue belongs to first century A.D. and confirms our theory regarding swastika and its association with nagaraja.

Summing up what has been said on this subject, it is to be observed that nagaraja and its swasika figure in Suparshva's statues, though there is nothing to establish any kind of inherent relationship between the two. And further the naga which is associated with Parshva's statues is directly connected with Parshva's life.

It may be pertinent to ask why both these Thirthankaras are associated with the naga. This question has to be answered in the light of the importance given to naga worship in our country. When the different forms of naga worship are examined, the evolution of naga worship becomes clear. Naga worship is common to the Jaina, Buddhist, Shaktha, Shaiva, Vaishnava and folk traditions.

The Jaina worship of Suparshva, Parshva, Dharanendra, Padmavathi and the Kukkuta Sarpa is in tune with the larger naga cult in the country cutting across barriers of creed and caste. We find among Buddhists the concept of Naga Buddha and his sculpture; among the Shaivas, Shaiva's ornaments being all nagas; among the Vaishnavas, Vishnu being represented as resting on a naga; Ganapati having a naga as his waist belt; and Sri Krishna slaying the Kalinga sarpa. Thus, one way or the other, sarpas have been associated with all those worthy of worship. Primitive man has established naga worship as a very popular form of religious worship and it has survived to this day. The naga has become as worthy of worship as anyone else. If there is poison in its tooth, there is also the resplendent rathna in its forehead. This kind of devotion to the naga as the living symbol of both poison and nectar is unquestionable and it defies reason and logic. The naga is the symbol of death by virtue of its poisonous bite. Death due to snake bite is not normal death, it is unnatural death. As living symbols of this kind of death] the nagas are to be feared and appeased in numerous ways. Thus has started the naga cult. The grim realisation that the naga is not just a poisonous creature but also a beneficial creature must have guided the primitive man's superistitions actions. Thinking that it protects the hidden treasure underground, he must have started worshipping it as the protector of wealth in general.

Sham. Ba. Joshi, a noted Kannada scholar, opines that several scholars have identified the naga as a living example of the ideals of the virakta tradition. He says: "There appears to be some resemblance between the naga style of living and the style of living of the parivrajakas, jangamas, yatis and bhikshus of the virakta school. (i) The truth hidden in the different forms of naga worship and in the symbolic miracle stories is : this worldly life is transient; it lasts as long as there is the naga's favour; and after one's death, the soul merges with the sarpa- universe; and, so the lonely life in

a cave is better than the family life. (ii) The Yatibhikshu is always wandering and begging as he is barred from living in a fixed place, (iii) Practice of non-accumulation of earthly possessions, (iv) Dedicated self meditation, etc."[10].

Several examples may be given to show the traditional belief that the naga is the fundamental life force. It is customary for the devout masses to name children after the naga, irrespective of their castes. It is believed that the curse of childlessness is caused by the naga's disfavour. Even if children are born, they are not expected to live long. As an antidote to childlessness, a magic rite called `nagabali' is resorted to. This `nagabali' or `nagoli' rite forms an important wedding rite. It is also believed that by installing the naga images the curse of childlessness and such other evils can be kept away. Nagapanchami is universally celebrated to appease the naga god.

It is no wonder that naga worship, which is as old as the human civilization itself, occupies even now an important position in the religious and cultural life of the masses. The naga is associated with religious worship in general irrespective of castes and creeds. It is but natural that the Jainas too practise naga worship incidentally, as found in their worship of Suparshva and Parshva, however inexplicable the association of Suparshva with naga worship may be.

Part III
Parshvanatha and Karnataka

Though Mahavira is much nearer chronologically than Parshvanatha, Parshvanatha's impact on Karnataka is greater than Mahavsira's. It is for this reason that Parshvanatha temples outnumber Mahavira temples in Karnataka. We find only 54 temples dedicated to Mahavira, whereas we have more than 240 temples of Parshvanatha.[11]. One of the possible reasons for this

preponderance of Parshvanatha temples may be Parshvanatha's association with naga worship. Another reason may be the fact that Jainism was prevalent in Karnataka during Parshvanatha's time and the later advent of Bhadrabahu and his twelve thousand followers belonging to the Mahavira tradition could not have deminished the existing popularity of Parshvanatha worship. This subject of the enduring popularity of Parshvanatha worship in Karnataka provides a fertile field for profitable research.

REFERENCES :

1. "Uttarapurana", 53rd parva.
2. 'Supasanaha chariya', Jaina Vivida Sahityashastramala, Banaras, 1918.
3. 'Jinarathnakosha', H.D. Velankar, P. 445, Poona, 1944.
4. 'Uttarapurana', 73rd Parva.
5. 'Shastrasara Samuchchaya', Maghanandi.
6. 'Mahavira Thirthankarana Purvadalli Jainadharma', Dr. M.D. Vasantharaj, 'Divyadhvni', p. 340. Bangalore, 1975.
7. 'Rigvedasara; Nagaprathima Vichara', Sham. Ba. Joshi, p. 26, Mysore.
8. I am grateful to my Professor Dr. M.D. Vasantharaj who drew my attention to this stotra.
9. Archaeological Museum, Mathura.
10. Ibid, p. 32, Mysore.
11. 'Karnatakada Digambara Jinamandiragalu', Karnatakada Digambara Jina Mahamandala, (Reg.). Bangalore, 1994.

TIRTHANKARA PARSVANATHA AND NAGA-CULT

— *Acharya Gopi Lal Amar**

If at all Naga-cult has to be viewed in full flourish in Jainism, it may well be viewed in the literature and art illustrating the life of Parsvanatha, twentythird and the last-but one Tirthankara. His time, ninth century B.C., was perhaps the golden period of the Nagas as a tribe and as the rulers. The **sasanadevata** couple, called Dharanendra Yaksa and Padmavati Yaksi of Parsvanatha, make an unparalleled example of the fiercest animal beings turning into celestial beings, those also as auspicious as to hold the highest position of presiding deities (**sasana-devata**) of a Tirthankara.

Parsvanatha belonged to the Kasyapa-gotra and Iksvaku-vamsa; the tenth-century text Mahapurana (94,22,23) of Puspadanta, however, mentions him belonging to Ugra-vamsa. Yet some scholars think he belonged to Nagavamsa. Here the word ugra, meaning formidable, seems to have replaced the word uraga, meaning a snake, by way of transposition of a consonant, as simha replaced himsa and draha hrada in Sanskrit, Banaras replaced Varanasi in Hindi and tagma replaced tamgah in Turkish. The symbol on Parsvanatha's flag was a snake and his cognizance was also a snake. Even his complexion was a dark as that of a snake.

Moreover, it is not unlikely that the snake-hood canopy over the head of the seventh Tirthankara Suparsvanatha, was inspired by the one with Parsvanatha; it should be like this because (i) there is no type of association of snake with Suparsvanatha, (ii)

* *Delhi*

there is no iconographic provision of a canopy for him, (iii) his name is almost synonymous with that of Parsvanatha, (iv) he also was born in the Ugra-vamsa, (v) his birth place also was Varanasi, (vi) his complexion also was like that of Parsvanatha, (vii) in a panoramic depiction of all the twentyfour Tirthankaras together the artist needed another Tirthankara with a snake- hood canopy as a pair to Parsvanatha to make the setting artistically balanced and picturesque.

The Sanskrit word parsva means the side of Parsvanatha's mother, Vama-devi, during pregnancy, could be able to see, even in dark night, a cobra crawling by the side of her husband, Asva-sena. He gave the name, Parsva, to the newly born, saying that 'the miraculous vision should have been given to his mother by this child to save me from the deadly cobra crawling by my parsva', as is revealed by Hema-candr-acarya in his Tri-sasti-salaka-purusa-carita (9,3,45). And, thus, naga associated Parsvanatha's life when he was just in embryo; his naming was caused by a naga, as well.

A couple of nagas played a very significant and perennial role in the life of Parsvanatha. The story , in two episodes, is narrated without fail in hundreds of the texts dealing with the life of Parsvanatha.

An ascetic, called Kamatha or Katha, while practising the panc-agni austerities, was surrounded by one fire-place on each of the four sides with the sun atop making the fifth. A log burning in one of the fire-places drove attention of a clairvoyant Parsvanatha and he blamed Kamatha of violence by way of burning an alive couple of snakes hidden in the log, which was cut apart to allow the half burnt reptiles come cut.

Before the two breathed their last, Parsvanatha enchanted the greaterst of hymns, the Namokara-mantra, to convert their

sorrowful and cruel concentrations (arta and raudra dhyana) into a meritorious concentration, which resulted into the reptiles' being respectively, Dharanendra and Padmavati in their next birth in the Naga-Kumara class of the Residential order of celestial ones (Bhavana-vasi deva). They both, in their new form, attained the most auspicious position of Yaksa and Yaksi of the Sasana-devata couple to preside over the period (Sasana) ended with the birth of Mahávira in 599 B.C. They appeared then and there to adore Parsvanatha, who had to face the misapprehensive actions of the enraged Kamatha. In his next birth Kamatha came to be known as Megha-malin, a god in the Asura class of the Peripatetic order (Vyantara deva) and variously referred to as Samvara, Sambara and Bhut-ananda.

Megha-malin once found Parsvanatha standing in utter concentration, it being the safest chance for him to take his revenge. He appeared in the transformations (Vikriýa) of a lion, a leopard, an elephant, a scorpion and so on, to torture Parsvanatha, and, after all, he caused by his celestial power rain in torrents, hurling of stones, tumultuous noise and so on to happen. Parsvanatha, however, remained standing like that, unswerved and unshook in concentration.

Dharanendra came to know all these happenings which were immediately controlled by him, as he appeared there with Padmavati and other goddesses. He transformed his body into a multi-hooded cobra (ahi) like an umbrella (chatra) to canopy his lord's body, whenceforth that place, called, Sankhyavati, came to be known as Ahicchatra or Ahi-cchatra-pura. 'The place was identified with the modern Nagore in Jodhpur State, which is regarded as a place of pilgrimage by the Jainas. It is now better identified and proved by archaeclogical discoveries, with a ruined site bearing the same name near Ramnagar in the Bareilly district of U.P.

Jina Parsvanatha took alone as many epithets as several times more than which were taken by all the other Tirthankaras together. His epithets related to cobra are equally symbolic. Sahasra-phana, for example, tells that Dharanendra protected his master by dilating his hood to make as many as one thousand canopies. At least thirteen images have this type of canopy. Ahicchatra Parsvanatha and Nagesvara Parsvanatha are also widely popular images known after the epithets. This suggests his merit proclaimed by the yasas-kirti-nama-karman, that is the physique-making fatal matter of glory-and-renown. The first and foremost reason behind this should have been his peculiar charm of episodic career which the writers and literatures would most conveniently paint in glittering colours of miracles now; in variegated shades of mantra and Tantra then. The artist and architects were already all agog for virtually joining the campaign, which was no less than a golden opportunity for them to get rid of stagnation and rut created by unvarying repetition of archaic images and conventional patterns.

Then came, in the early medieval period around seventh century A.D., the picturesque scene of the calamitous pandemonium brought forth by an indomitable Kamatha, and almost simultaneously the enchanting figures of Dharanendra and Padmavati. No better charm than this melodramatic theme, could have there been for the artist to go on carving the images of Parsvanatha more than those of any other Tirthankara, both in quality and quantity.

At times Padmavati seems even to have privileged Parsvanatha by way of her penetration in the popular custom where a living subcaste of the Jainas, calld Padmavati Purwal, was named after her at least as far back as the tenth century A.D. This shows the extraordinary influence of a Yaksi as compared to all the other twentythree Yaksis and even to all the sixteen Maha-vidyas. Her images show Parsvanatha but in miniature form in most of the

cases. Shrines and temples have been provided for her, though in the name of Parsvanatha. And this all has a great impact on the puritanic resistance in the Jaina jurisprudence.

The snake-hood canopy dates back to the second century B.C. as in the Mathura Parsvanathas, on the one end. But the earliest Dharanendra-Padmavati couples are seen with the seventh-eighth-century bronze Parsvanathas from the Akota Hoard, which, preserved in the Musum & picture Gallery at Vadodara, are widely known for their ornate style and delicate balance. Again the same are seen flanking the Badami and Ellora Parsvanathas which date from the eighth century A.D., on the other end. That is why few scholars question, rather rule out, the link between the two ends because of the long gap of more than eight centuries. Should the ruling be the final say, the snake-hood canopy will have to be linked with the Naga tribe referred to in the Mahabharata, in which case Parsvanatha will come a little higher up to befit his numerous images known by extraordinary number of epithets. But, on the other hand, the literature dating upto the second century A.D. has no reference to Kamatha or to the Dharanendra-Padmavati couple. It was only by Acharya Samntabhadra, A.D. 120-80, in the verses 131-32 of his Svayambhu-stotra and by Acarya Siddhasena Divakara (Kumudacandra?) fifth century A.D., in the verses second and thirtyfirst of his Kalyana-mandira-stotra, that references to Dharana and Kamatha were first made. Sculptural art still latter represented the Kamatha-episode, the first representations being seen at Badami and Ellora in the eighth century; the snake-hood canopy, however, was presented at Mathura in the second century B.C. which tradition remained all through the ages unbroken.

This late depiction of the Kamatha-episode may be seen in the light of the Buddha's torture by Mara and rescue by Mucilinda Naga, which episode, quite similar to Kamatha-episodes, was

represented in the second century B.C. at Sanchi at the eastern gate of the great stupa; the broken off piece with this representation is presently preserved in the local museum at Sanchi itself. It also is equally remarkable that three of the seals from Mohenjo-daro, show snakes and human-cum-snake figures (Marshall, Mohenjo-daro and the Indus Civilization, Vol. III; CXVIII, 11); representations of Visnu on sesa-sayya, Siva with snakes on his body, and so on are also earlier than the representations of Kamatha-episode.

These facts may prompt one to conclude that the representation of torture by Kamatha and rescue by Dharanendra and Padmavati, of Parsvanatha, in Jaina literature and art is a result of inspiration from one or ,other of the above representations. Further researches, however, are not unlikely to bring an otherwise conclusion.

Who took from whom and what, may or may not be known, but one thing is well known that exchange of ideas and symbols has been an all pervading phenomenon in art, literature and philosophy at national and international level.

The literature with Parsvanatha, Dharnaendra and Padmavati, as the central figures, is unbelievably vast and rich. Almost all the genres of literature, mythological and classic, include hundreds of works to eulogize one or the other of the three. Occult and Tantric treatises and hymns to propitiate, particularly Padmavati, outnumber all the other ones put together.

एक जननायक तीर्थंकर : भगवान् पार्श्वनाथ

– डा. नलिन के. शास्त्री*

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्धान प्रो. विंटरनिट्ज़ ने भारतीय संस्कृति और जीवन शैली के वैविध्य में खुशबू बिखेरती जैन संस्कृति के मानकों को अपनी सम्पूर्ण जिज्ञासा का केन्द्र-बिन्दु बनाते हुए भगवान् पार्श्वनाथ की दन्त कथाओं के नायकों के रूपक से तुलना की है। उत्तराध्ययन सूत्र के 'केसी-गोयम संवाद' के अनुसार जिस कालखण्ड में महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया, उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था। जब महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम थे, उस समय पार्श्व सम्प्रदाय के नायक थे केशी कुमार श्रमण। पार्श्व सम्प्रदाय की धार्मिक अवधारणा 'संतरोत्तर' तथा वर्द्धमान की अचेलक धर्म की व्यवस्था के बीच ऋजु-जड़ (सरल किन्तु जड़) तथा ऋतु प्राज्ञ (सरल और समझदार) के आयाम अन्तर की अनुयायी परिस्थितियों को स्पष्ट करते हैं। इसी प्राज्ञ स्थिति ने चातुर्याम की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इस संवाद से यह बात साफ होती है कि पार्श्व-सम्प्रदाय ने वीतराग की बुनियाद को मजबूत किया, साथ ही उसके विकास को गति दी, दिशा दी। इस परम्परा के जन-अनुयायी काफी संख्या में थे तथा भगवान् पार्श्वनाथ उनके लिये एक प्रेरक प्रसंग थे, उनकी आराधना के केन्द्र-बिन्दु थे और कालान्तर में बन गये अनगनित जन-श्रुतियों के जनक। यही कारण था कि विंटरनिट्ज ने उन्हें दन्त-कथाओं के उस नायक के रूप में पहचाना जो पूरी सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना को एक नयी दिशा देता है, एक नया उद्बोध देता है, संस्कारों की परिशुद्धि करता है और पूरे समाज को एक सूत्र में बांधता है। स्वाभाविक है कि ऐसे महानायक पूजनीय हो जाते

---

* मगध विश्वविद्यालय, गया

हैं, वंदनीय बन जाते हैं; उनकी पूजा-अर्चना के प्रतीक भौगोलिक सीमाओं को पार कर जाते हैं।

वाराणसी में आविर्भूत हुए भगवान् पार्श्वनाथ ने कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर सत्तर वर्षों तक पूरी मानवता को धर्मोपदेश देकर कृतार्थ किया। उनका निर्वाण ई. पूर्व ९९९वें वर्ष में, भगवान् महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व सम्मेद शिखर में हुआ। भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मोपदेशों पर पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होते हैं। उनमें भगवान् आदिनाथ की त्यागोन्मुखी आकिंचन्य मुनिवृति, नमि की निरीहता और नेमिनाथ की अहिंसा का समन्वित रूप चातुर्याम की शक्ल में समेकित हुआ है। इनके अन्तर्गत :

१. सर्वप्राणातिक्रम से विरमण

२. सर्वमृषावाद से विरमण

३. सर्वअदत्तादान से विरमण

४. सर्व वहिस्थादान से विरमण

सन्निहित हैं। इस चातुर्याम का ज़िक्र मूलाचार के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध है। यह बात इस ओर इशारा करती है कि जन सामान्य के जीवन की शुचिता के प्रति भगवान् पार्श्वनाथ सचेत थे एवं उनकी प्रतिबद्धता एक प्रामाणिक एवं नैतिक जीवन को जीने के प्रति थी। उनकी इस आचार-संहिता के प्रति जनमानस में आदर था तथा उसे पूर्णता में स्वीकार करने का ईमानदार प्रयास भी तत्कालीन समाज कर रहा था जो भगवान् पार्श्वनाथ की लोकप्रियता के द्वारा प्रमाणित होता है।

भगवान् पार्श्वनाथ के लोकमंगल स्वरूप का प्रामाणिक दस्तावेज यदि हमें तलाशना हो तो गुफाओं के शिल्प और उनमें विराजमान मूर्तियों की ओर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। गुफाओं का अध्ययन इस कारण आवश्यक है कि साधना का केन्द्र ये गुफाएं थीं और शहर या ग्रामों के कोलाहल से दूर मुनिगण यहां के शान्त वातावरण में आत्म-ध्यान करते थे।

जाहिर है कि साधना के प्रक्रम में मूर्तियों का निर्माण किया जाता होगा एवं मूर्तियों के चयन का आधार सम्बन्धित तीर्थंकर की लोकप्रियता एवं उसकी तात्विक मौलिकता रहता होगा। पूरे देश में लगभग १२०० पाषाणोंत्कीर्ण मंदिर उपलब्ध हैं जिनमें ९०० बौद्ध, १०० हिन्दु तथा २०० जैन गुफा मंदिर हैं। यदि हम मध्यप्रदेश स्थित उदयगिरि की पूर्व दिशावर्ती बीसवीं गुफा पर नज़र डालें तो पाएँगें कि यहां तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यद्यपि मूर्ति का कुछ भाग खण्डित हो गया है, तथापि उसका प्रशस्त नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। इस मूर्ति पर उत्कीर्ण पद्यात्मक संस्कृत लेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठा गुप्त संवत् १०६ में कार्तिक कृष्ण पंचमी का आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शंकर द्वारा करायी गयी थी।

महाराष्ट्र में भी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की लोकप्रियता के प्रमाण मिलते हैं। उस्मानाबाद के गुफा समूहों में पिछले भाग में एक देवालय है जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अत्यन्त भव्य प्रतिमा विराजमान है। बर्जेस के मतानुसार ये गुफा-समूह ई.पू. ५००-६५० के बीच के हैं। इस गुफा-समूह के विषय में एक प्रचलित किंवदन्ती है कि महाराज करकण्ड ने तेरापुर के समीप पर्वत पर एक गुफा देखी थी। तदनन्तर, इस राजा ने अन्य गुफाएं बनवायीं एवं भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति को प्रतिष्ठित किया। इस मूर्ति के सुन्दर रूप का वर्णन सुप्रसिद्ध अपभ्रंश कवि कनकामर मुनि ने अपने काव्य करकण्डचरिउ में किया है, जो ग्यारहवीं सदी की रचना है। करकण्ड का सन्दर्भ जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से मिलता है एवं इन रचनाओं तथा स्थापत्य के आधार पर ये गुफाएं लगभग ई.पू. नवीं शती की है।

दक्षिण भारत में भी भगवान् पार्श्वनाथ आराध्य देव थे। इसका प्रमाण बादमी की गुफाएं हैं जिनका निर्माण काल सातवी शती का मध्य भाग है। माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (आठवीं शती) ने राज्य का परित्याग कर जैन दीक्षा धारण की एवं इसी गुफा में निवास किया। इस गुफा के बरामदों में एक ओर भगवान् पार्श्वनाथ विराजमान हैं तो दूसरी

ओर बाहुबली, जो दक्षिण भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय आराध्य-देव हैं। इसी प्रकार ऐहोल की गुफाओं में बायीं दीवाल पर पार्श्वनाथ की मूर्ति उत्कीर्ण है जिसके एक ओर नाग एवं दूसरी ओर नागिन स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्त्र फण युक्त भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

एलोरा की गुफाओं में भी इन्द्रसभा की एक बाहरी दीवाल पर पार्श्वनाथ की तपस्या एवं कमठ उपसर्ग का बहुत सुन्दर एवं सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ हैं, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है व एक नागिनी छत्र किये है। दो अन्य नागिनी भक्ति, आश्चर्य व दुःख की मुद्राओं में उत्कीर्णित हैं। एक ओर भैंसे पर सवार असुर रौद्र मुद्रा में शस्त्रास्त्रों सहित आक्रमण कर रहा है व दूसरी ओर सिंह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिये उद्यत है। नीचे की ओर भक्तगण हाथ जोड़ कर खड़े हैं।

लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी की ग्वालियर की जैन गुफाओं में बावड़ी के समीप भगवान् पार्श्वनाथ की लगभग बीस फुट ऊँची पद्मासन मूर्ति विराजमान है। यद्यपि कला के दृष्टिकोण से ये गुफाएं उतनी महत्वपूर्ण नहीं पर इतिहास के दृष्टिकोण से इनका महत्व है। और तीर्थंकर पार्श्वनाथ की लोकप्रियता को सिद्ध करती है।

प्रयाग तथा कौशाम्बी के समीप पभोसा नामक स्थान पर दो शुंग कालीन लिपि को प्रदर्शित करती ई.पू. द्वितीय शती की गुफाएँ हैं। इन लेखों से स्पष्ट होता है कि ये गुफाएँ पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायियों को दान में दी गयी थीं। इस लेख के कथ्य से इस बात के पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायियों का शासन पर दबदबा था एवं उन्हें राजकीय सम्मान तथा संरक्षण प्राप्त था।

हमें श्रेय देना चाहिये सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान हर्मन याकोबी को जिन्होंने जैन एवं बौद्ध साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया और भगवान् पार्श्वनाथ की

ऐतिहासिकता एवं तत्कालीन लोकप्रियता को जन-जन तक पहुँचाने का गुरुकार्य किया। बौद्ध ग्रन्थों में आख्यायित चातुर्याम एवं उसे निर्ग्रन्थ नातपुत्र का धर्म बताने का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से है। सम्भव है कि भगवान् पार्श्वनाथ की असीम लोकप्रियता ने समकालीन रचनाधर्मियों को अपने-अपने सर्जनात्मक माध्यमों में पार्श्वनाथ को प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये अभिप्रेरित किया हो। इस कथ्य के समर्थन में हम जिनसेन कृत काव्य पार्श्वाभ्युदय को परिगणित कर सकते हैं जिसका रचना काल नवीं शती का है। आगामी शती में वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित की रचना की। तदनन्तर तेरहवीं तथा चौदहवीं शती में माणिक्यचन्द्र और भाव देव सूरि ने भी भगवान् पार्श्वनाथ को केन्द्रित कर चरित काव्य लिखे। पन्द्रहवीं शती में सकलकीर्ति ने तथा सोलहवीं शती में पद्मसुन्दर, हेमविजय तथा चन्द्रकीर्ति ने अपनी रचनाएँ लिखीं। पद्म माध्यम की सरसता एवं सम्प्रेषणीयता के बावजूद, सम्भव है कि अपना अलग स्थान निर्मित करने के उद्देश्य से उदयवीर गणी ने गद्य की विद्या को अपना माध्यम बनाया और पार्श्वनाथ चरित्र की रचना की। भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति में भी विभिन्न स्थानों पर पार्श्वापत्यों का विस्तृत विवरण मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ महावीर पूर्व काल में सिर्फ़ आराध्य देव ही नहीं थे; पाषाण-उत्कीर्ण माध्यम की प्रस्तुति नहीं थे, प्रत्युत् रचनाधर्मी संसार के सब से अधिक स्वीकार्य प्रतीक थे। उनका चातुर्याम धर्म तत्कालीन समाज को प्रभावित कर रहा था और इस प्रभाव का विकास महावीर ने महाव्रतों के माध्यम से किया। यह अत्युक्ति नहीं होगी यदि हम कहें कि बौद्ध धर्म के वर्चस्व एवं उसे प्राप्त राज्याश्रय के बीच भगवान् पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों को, उनकी अवधारणाओं को यदि भारतीय समाज अक्षुण्ण रख सका तो इस बात का श्रेय उस कालजयी की उपसर्गों के बीच साधना के प्रयोगों को उत्कर्ष तक पहुँचाने की प्रतिबद्धता और मानवीय इयत्ता के प्रति सम्पूर्ण करुणा को वितीर्ण करने वाली दृष्टि को दिया जा सकता है। यही कारण है कि आज महावीर के शासन काल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की लोकप्रियता अक्षुण्ण रही है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्तियां : लक्षण और वैशिष्ट्य

– डा. मारुतिनन्दन तिवारी*

पार्श्वनाथ वर्तमान अवसर्पिणी के २३वें तीर्थंकर और ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में मान्य हैं। संभवत: जैन धर्म की स्थापना पार्श्वनाथ द्वारा की गयी और महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय अपरिग्रह) में ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंचमहाव्रतों का उपदेश दिया। भारतीय कला में नि:सन्देह इसी कारण महावीर की तुलना में पार्श्वनाथ की अधिक मूर्तियां उकेरी गयीं और उनमें लक्षणपरक वैविध्य भी अधिक मिलता है। पार्श्वनाथ के स्वतन्त्र मन्दिर भी अधिक हैं। प्रस्तुत लेख में पार्श्वनाथ की मूर्तियों के विकास को उनके लक्षणों एवं वैशिष्ट्य के सन्दर्भ में निरूपित किया गया है।

पार्श्वनाथ का लांछन सर्प है जिसे मूर्तियों में देवगढ़ एवं दक्षिण भारत के कुछ उदाहरणों के अतिरिक्त सामान्यत: पीठिका पर नहीं दिखाया गया है। इसके स्थान पर पासनाहचरिउ (पद्मकीर्तिकृत १०७७ ई.)[१], उत्तर-पुराण (गुणभद्रकृत – नवीं शती ई.)[२] एवं त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र (हेमचन्द्रकृत-१२वी शती ई.)[३] जैसे ग्रन्थों में वर्णित कथा के अनुरूप पार्श्वनाथ के शीर्षभाग में सात सर्पफणों के छत्र के अंकन की परम्परा मूर्तियों में मिलती है, जो कभी-कभी तीन और ग्यारह सर्पफणों के रूप में भी दृष्टव्य है। यहां उल्लेखनीय है, कि पउमचरिय (विमलसूरिकृत-४७३ ई.) में पार्श्वनाथ के सिर पर धरणेन्द्र नाग के फणों का प्रारम्भिक सन्दर्भ मिलता है[४] जब कि आगम ग्रन्थों में इसका अनुल्लेख है। दूसरी ओर

---

* विभागाध्यक्ष, कला-इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शुंग-कुषाण काल से ही पार्श्वनाथ की मूर्तियों में हमें शीर्ष भाग में सर्पफणों का छत्र मिलता है। साथ ही नागराज धरणेन्द्र उनके यक्ष और नागदेवी पद्मावती उनकी यक्षी के रूप में निरूपित है। इस प्रकार पार्श्वनाथ के साथ नाग का सम्बन्ध लोक परम्परा में नाग पूजन की मान्यता और जैन धर्म में उसकी स्वीकृति का संकेत देता है। साथ ही पार्श्वनाथ का शिव की नगरी वाराणसी या काशी में जन्म और यहीं कैवल्य की प्राप्ति तथा शिव के साथ नागों का अभिन्न सम्बन्ध भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है। यह मात्र संयोग नहीं है कि सर्पफणों के छत्र से सम्बद्ध सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जन्म और कैवल्य स्थल भी वाराणसी ही था।

पार्श्वनाथ की प्राचीनतम मूर्ति प्रथम शती ई. पू. की है और कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त जैन आयाग पट पर उकेरी है जिसकी स्थापना शिवघोषक की पत्नी ने करायी थी। सात सर्पफणों के छत्र से शोभित पार्श्वनाथ ध्यान-मुद्रा में विराजमान हैं। यह मूर्ति राज्य संग्रहालय लखनऊ (क्रमांक जे. २५३) में सुरक्षित है। लगभग पहली शती ई.पू. के अन्तिम चरण या पहली शती ई. की पार्श्वनाथ की दो अन्य स्वतन्त्र मूर्तियां क्रमशः चौसा (भोजपुर, बिहार) एवं प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बम्बई से मिली हैं, जिनमें सात के स्थान पर पांच सर्प फणों का छत्र दिखाया गया है। दोनों उदाहरणों में निर्वस्त्र पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं। उल्लेखनीय है कि बादामी (गुफा ४) और अयहोल (जैन गुफा) की लगभग प्रारम्भिक सातवीं शती की मूर्तियों में भी पांच सर्पफणों के छत्र वाले पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग सातवीं शती ई. तक पार्श्वनाथ के साथ पांच और सात दोनों ही सर्पफणों के छत्रों के अंकन की परम्परा प्रचलित थी और लगभग आठवीं-नवीं शती में जिनों के लांछनों-लक्षणों के निर्धारण[१] के बाद ही पांच सर्पफणों का छत्र केवल तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के साथ दिखाया गया[६]।

कुषाण काल में ऋषभनाथ के बाद पार्श्वनाथ की ही सर्वाधिक मूर्तियां उत्कीर्ण हुईं। वक्षस्थल में श्रीवत्स चिन्हित ये मूर्तियां मथुरा और चौसा से मिली हैं। इनमें सात सर्पफणों के छत्र से शोभित पार्श्वनाथ सर्वदा निर्वस्त्र

हैं। चौसा की मूतियों में पार्श्वनाथ (पटना संग्रहालय, क्रमांक ६५३१, ६५३३) कायोत्सर्ग में खड़े हैं। जिन चौमुखी या सर्वतोभद्र प्रतिमाओं की कायोत्सर्ग मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा की अधिकांश कुषाण मूर्तियों में सम्प्रति पार्श्वनाथ के केवल मस्तक और उनपर प्रदर्शित सात सर्पफणों के छत्र ही सुरक्षित हैं। राज्य संग्रहालय, लखनऊ में पार्श्वनाथ की तीन ध्यानस्थ मूर्तियां भी संग्रहीत हैं[८]। कुषाण कालीन उदाहरणों में पार्श्वनाथ के मस्तक पर प्रदर्शित सर्पफणों को स्वस्तिक, धर्मचक्र त्रिरत्न, श्रीवत्स, कलश, मत्स्य युगल और पद्म जैसे मांगलिक चिन्हों से शोभित दिखाया गया है[९]।

गुप्तकाल (४००-५५० ई.) में पार्श्वनाथ की मूर्तियों में अष्ट-प्रातिहार्यों का अंकन भी प्रारम्भ हो गया[१०]। अकोटा (बड़ौदा, गुजरात) की छठी-सातवी शती ई. की मैत्रक मूर्तियों में पार्श्वनाथ के साथ यक्ष-यक्षी का निरूपण भी प्रारम्भ हुआ, किन्तु पारम्परिक यक्ष-यक्षी (धरणेन्द्र-पद्मावती) के स्थान पर इनमें नेमिनाथ के सर्वानुभूति (या कुबेर) और अम्बिका रूपायित हैं। यहां उल्लेखनीय है कि गुजरात-राजस्थान की परवर्ती मूर्तियों (सातवी-१३वी शती ई.) में भी पार्श्वनाथ के साथ सामान्यत: सर्वानुभूति और अम्बिका ही निरूपित हैं। पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों के साथ भी श्वेताम्बर स्थलों पर यही यक्ष-यक्षी आमूर्तित हुए हैं। पार्श्वनाथ की गुप्तकालीन मूर्तियों के उदाहरण मुख्यत: मथुरा (राज्य संग्रहालय, लखनऊ क्रमांक १००, पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक १८.१५०५), उदयगिरि (गुफा २०-पांचवी शती ई.), एवं नयना (पन्ना, मध्यप्रदेश) से मिले हैं। सातवीं शती ई. की मूर्तियां अकोटा (दिल्ली), बादामी (गुफा ४) एवं अयहोल (बीजापुर, कर्नाटक) से प्राप्त हुई है। बादामी एवं अयहोल की मूर्तियों में पार्श्वनाथ की तपश्चर्या के समय उपस्थित किये गये मेघमाली या शम्बर (पूर्वभव के बैरी कमठ) के उपसर्गों का अंकन प्रारम्भ हुआ जिसका सर्वाधिक विस्तृत उत्कीर्णन एलोरा की जैन गुफाओं (सं. ३०-३४) की नवीं से १०वीं शती ई. के मध्य की पार्श्वनाथ की मूर्तियों में हुआ है।

लगभग चौथी-पांचवी शती ई. की एक कायोत्सर्ग मूर्ति (राज्य संग्रहालय, लखनऊ क्रमांक जे १००) में पार्श्वनाथ निर्वस्त्र हैं और उनके

दक्षिण पार्श्व में एक पुरुष तथा वाम पार्श्व में सर्पफणों से युक्त छत्रधारिणी सेविका निरूपित हैं। यह धरणेन्द्र-पद्मावती का प्रारम्भिक अंकन है। सात सर्पफणों के छत्र वाली पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक १८.१५०५) की छठी शती ई. की एक ध्यानस्थ मूर्ति में भी पार्श्वनाथ के दोनों ओर सर्पफण के छत्र वाली धरणेन्द्र-पद्मावती की आकृतियां उकेरी हैं। धरणेन्द्र के हाथ में चामर और पद्मावती के हाथ में छत्र हैं। नचना से प्राप्त और तुलसी संग्रहालय, रामवन में सुरक्षित पांचवीं शती ई. की मनोज्ञ ध्यानस्थ मूर्ति में सात सर्पफणों के छत्र वाले पार्श्वनाथ के दोनों ओर चामरधारी सेवक रूपायित हैं।

अकोटा से पार्श्वनाथ की सातवीं शती ई. की आठ श्वेताम्बर मूर्तियां मिली हैं जिनमें से एक में ही पार्श्व कायोत्सर्ग में खड़े हैं और मूर्ति की पीठिका पर द्विभुजी नाग-नागी की अर्धसर्पाकार मूर्तियां बनी हैं, जो वस्तुतः पार्श्व यक्ष और पद्मावती यक्षी की आकृतियां हैं। इनका एक हाथ अभय-मुद्रा में है और दूसरे में सम्भवतः फल हैं। अकोटा की अन्य ध्यानस्थ मूर्तियों में यक्ष-यक्षी सर्वानुभूति और अम्बिका हैं और पीठिका पर आठ ग्रहों का भी अंकन हुआ है।

ओसियां के बलानक (जोधपुर, राजस्थान - १०१९ ई.) एवं विमल वसही (सिरोही राजस्थान - १२वी शती ई.) की पार्श्वनाथ की दो ध्यानस्थ श्वेताम्बर मूर्तियों में पारम्परिक यक्ष-यक्षी-पार्श्व और पद्मावती का अंकन मिलता है। ओसियां की मूर्ति में द्विभुज यक्ष-यक्षी सर्पफणों वाले हैं। विमलवसही की देवकुलिका ४ की ध्यानस्थ मूर्ति (११८८ ई.) में सात सर्पफणों के साथ ही पीठिका लेख में पार्श्वनाथ का नाम भी दिया है।[११] कूर्म पर आरुढ़ एवं तीन सर्पफणों के छत्र वाले चतुर्भुज पार्श्व यक्ष को निर्वाणकलिका (१८.२३) के अनुरूप गजमुख दिखाया गया है जो ब्राह्मण परम्परा के गणेश का स्मरण कराता है। यक्ष के करों में परम्परानुरूप सर्प, सर्प एवं धन के थैले के साथ ही मोदक-पात्र भी प्रदर्शित हैं। श्वेताम्बर शिल्पशास्त्रों में मोदकपात्र का अनुलेख है और यह सीधे यक्ष के गज मुख होने और इस प्रकार गणेश से सम्बन्धित होने का प्रतिफल है। तीन

सर्पफणों के छत्र वाली चतुर्भजा पद्मावती परम्परानुरुप कुक्कुट-सर्प पर आरूढ़ हैं और करों में पद्म, पाश, अंकुश एवं फल से युक्त हैं।[१२] श्वेताम्बर स्थलों की कुछ पार्श्वनाथ मूर्तियों में सर्वानुभूति एवं अम्बिका के सिरों पर भी सर्पफणों का छत्र दिखाया गया है।

खुजराहो, देवगढ़ एवं उत्तर भारत के अन्य दिगम्बर स्थलों पर पार्श्वनाथ के साथ सात सर्पफणों के छत्र का प्रदर्शन नियमित था। पार्श्ववर्ती चामरधारी या हाथ जोड़े धरणेन्द्र एवं छत्रधारिणी पद्मावती का नियमित और सर्पफणों के छत्र सहित रूपायन हुआ है। इनके साथ ही सिंहासन छोरों पर द्विभुज या चतुर्भुज धरणेन्द्र-पद्मावती का भी अंकन हुआ है। मध्यकालीन पार्श्वनाथ की मूर्तियों में परिकर में महाविद्याओं, नवग्रहों एवं सरस्वती की लघु आकृतियां भी उकेरी गई।

पार्श्वनाथ की तपश्चर्या में उपस्थित उपसर्गों के शिल्पांकन की दृष्टि से एलोरा की मूर्तियां (९वी-१०वी शती ई.) अतिमहत्वपूर्ण हैं। इस स्थल पर पार्श्वनाथ की कुल ३१ मूर्तियां हैं, जिनमें से नौ उदाहरणों में पार्श्वनाथ ध्यानमुद्रा में विराजमान हैं। अन्य सभी उदाहरणों (२२) में पार्श्वनाथ निर्वस्त्र और कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं। अधिकांशत: पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियों में मेघमालीं (शम्बर) के उपसर्गों का विस्तृत अंकन हुआ है और ये मूर्तियां सामान्यत: मण्डपों में प्रतिष्ठित हैं जिसके ठीक सामने मण्डपों में गोम्मटेश्वर बाहुबली की तपस्यारत कायोत्सर्ग मूर्तियां उकेरी हैं। गहन साधना की प्रतीक पार्श्वनाथ और बाहुबली दोनों की मूर्तियों का आमने-सामने अंकन भी एक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। गुफा संख्या ३२ में ही अकेले १२ मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। स्मरणीय है कि पार्श्वनाथ की मूर्तियो में उपसर्गों का अंकन सर्वप्रथम बादामी और अयहोल (लगभग ६०० ई.) की मूर्तियों में हुआ है। मालादेवी मन्दिर (ग्यारसपुर, मध्य प्रदेश), भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता एवं हुम्या (शिभोगा, कर्नाटक) के कुछ अन्य उदाहरणों में ही पार्श्वनाथ मूर्तियों में उपसर्गों का अंकन हुआ है।

मरुभूति (१०वें भव में तीर्थंकर पार्श्वनाथ) के प्रति कमठ (मेघमाली या शम्बर) के पूर्व जन्मों के वैर भाव के कारण पार्श्वनाथ की तपश्चर्या में

मेघशाली य शम्बर द्वारा उपस्थित उपसर्गों की विस्तृत कथा श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में लगभग आठवीं-नवीं शती ई. से मिलने लगती है[१३] और इस कथा की पृष्ठभूमि में ही मूर्तियों मे उपसर्गों का विस्तृत अंकन हुआ। उल्लेखनीय है कि केवल दिगम्बर स्थलों की पार्श्वनाथ की मूर्तियों मे ही शम्बर के उपसर्गों का अंकन मिलता है। श्वेताम्बर स्थलों पर केवल कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात) के शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों (११वी शती ई.) के वितानों पर उत्कीर्ण पार्श्वनाथ के जीवनचरित के शिल्पांकन के प्रसंग में ही पंचकल्याणकों के साथ उपसर्गों का भी विस्तृत शिल्पांकन हुआ है[१४]।

ग्रन्थों में शम्बर के उपसर्गों के प्रसंग में ही नागराज धरणेन्द्र और पद्मावती की उपस्थिति का सन्दर्भ मिलता है। कथाओं में पूर्वभवों के उपसर्गों के साथ ही १०वें भव में पार्श्वनाथ की तपस्या में शम्बर द्वारा उपस्थित किये गये विकट उपसर्गों का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार शम्बर ने वज्र, शिलाखण्ड एवं अन्य सांघातिक अस्त्रों (बाण, शूल, मुद्गर, परशु) से पार्श्वनाथ पर प्रहार करने के साथ ही शार्दूल, कपि, श्वान्, सर्प, शूकर, महिष, गज, वृषभ जैसे पशुओं तथा वैताल, पिशाच, डाकिनी के माध्यम से भी उनके ध्यान को भंग करने का असफल यत्न किया था। अन्ततः शम्बर ने भीषण वर्षा के जल में पार्श्वनाथ को डुबो देने का यत्न किया और उसी क्रम में वर्षा के जल के कन्धों के ऊपर या नासाग्र तक पहुंचने पर देवलोक से नागराज धरणेन्द्र अपनी शक्ति पद्मावती सहित उपस्थित हुए और पार्श्वनाथ को सर्प की कुण्डलियों पर उठाकर सिर पर सात सर्पफणों की छाया कर दी। पद्मावती ने उसके ऊपर वज्रमय छत्र की छाया कर दी। इस कथा की पृष्ठभूमि में ही मूर्तियों में धरणेन्द्र और छत्रधारिणी पद्मावती का अंकन हुआ। अन्ततः कमठ (शम्बर) ने भी पराजय स्वीकार कर क्षमायाचना की जिसे एलोरा की मूर्तियों में दिखाया गया है। एलोरा की मूर्तियों में शम्बर के उपसर्गों का सर्वाधिक जीवन्त और विस्तृत अंकन हुआ है। एलोरा में अन्य स्थलों से अलग धरणेन्द्र की मानवाकृति के स्थान पर सर्प के रूप में ही उपस्थिति दरशायी गयी है,

जिसके फण पार्श्वनाथ के मस्तक पर छाया कर रहे हैं। पद्मावती अन्य स्थलों की भांति छत्रधारिणी और सर्वालंकृत दिखायी गयी है। असुर के विकट उपसर्गों की स्थिति में भी पार्श्वनाथ का शान्त और अविचलित स्वरूप आध्यात्मिक और सात्विक शक्ति के विजय का जीवन्त रूपांकन बन गया है।

एलोरा की उपसर्गों का अंकन करने वाली पार्श्वनाथ की मूर्तियों में अष्टप्रातिहार्यों में से किसी प्रातिहार्य का न दिखाया जाना अर्थपूर्ण है। इनमें पीठिका पर शासन देवताओं के रूप में यक्ष और यक्षी की भी आकृतियां नहीं बनी हैं। निःसन्देह एलोरा तथा पूर्व की बादामी एवं अयहोल की ये मूर्तियां पार्श्वनाथ की तपश्चर्या के अन्तिम चरण का शिल्पांकन हैं जिसके बाद ही पार्श्वनाथ कैवल्य प्राप्त कर तीर्थंकर हुए। अतः ये मूर्तियां पार्श्वनाथ के तीर्थंकर पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व की मूर्तियां हैं।

संदर्भ

१. पासनाहचरिउ, १४.२६.
2. उत्तरपुराण, 73.139-140.
३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, खं. ५, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज १३९, बड़ोदा, १९६२, पृ. ३९४-९६, पार्श्वनाथचरित्र, ६. १९२-९३.
४. पउमचरिय, ३५.५६-५७, १०.४५-४६.
५. तिलोयपण्णत्ति, ४.६०४-६०५, प्रवचनसारोद्धार, ३८१-८२.
६. 'एकः पंच नव च फणाः, सुपार्श्वे सप्तमे जिने।
बी.सी. भट्टाचार्य, दि जैन आइकनौग्राफी, लाहौर, १९३९, पृ. ६०
त्रिपंचफण : सुपार्श्व : पार्श्व : सप्तनदस्तवथा । वास्तुविद्या, २२.२७.
७. तीन उदाहरण राज्य संग्रहालय, लखनऊ (जे. ९६, जे. ११३, जे. ११४) एवं दो अन्य क्रमशः भारत कला भवन, वाराणसी (२०७४८) एवं पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा (बी. ६२) में हैं।
८. जे. ३९, जे. ६९, जे. ७७.

९. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. ३९, जे. ११३ एवं पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा (बी. ६२)।

१०. अष्ट प्रातिहार्य हैं : अशोक वृक्ष, देवदुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि,
त्रिछत्र, चामर, सिंहासन, दिव्यध्वनि, प्रभामण्डल -
पउमचरिय २.३५-३६. हरिवंशपुराण, ३.३१-३८.

११. मारुति नन्दन तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, १९८१, पृ. १२८, २३३, २३८.

१२. निर्वाणकलिका १८.२३, पार्श्वनाथचरित्र, ७.८२९-३०
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९.३.३६४-३६५.

१३. पार्श्वाभ्युदय काव्य (जिनसेनकृत) सर्ग ४, श्लोक ४५-४८,
उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत), सर्ग ७३, श्लोक १३६-४०, पासनाहचरिउ (पदमकीर्तिकृत १०७७ ई.) सर्ग १४, श्लोक ४-३०, त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित्र (हेमचन्द्रकृत), गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, १३९, बड़ौदा, १९६२, खं. ५, पृ. ३५६-३९२.

१४. मारुति नन्दन तिवारी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १३२-३४.

शैल चित्रकला संपदा और भ. पार्श्वनाथ

– डॉ० अभयप्रकाश जैन*

वर्तमान जैन परंपरा भगवान् महावीर की विरासत है इससे पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरागत तीर्थंकर विरासत है लेकिन पाश्चात्य ऐतिहासिक पुरातात्विक बुद्धि बिना किसी साक्ष्य या प्रमाण के चुप बैठने वाली कहां थी। जैन परंपरा के लिए श्रद्धा के कारण जो बात असंदिग्ध थी उसी के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले तटस्थ पाश्चात्य विद्वानों ने संदेह प्रकट किया कि पार्श्वनाथ आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के अस्तित्व में क्या कोई ऐतिहासिक प्रमाण है। इसका प्रत्युत्तर सही-सही जैन विद्वानों को देना चाहिए था लेकिन वे न दे सके। अंततः डॉ. हर्मन जैकोबी जैसे पाश्चात्य जर्मन विद्वान आगे आए और उन्होंने सर्वप्रथम समस्त विश्व के सामने पुरातात्विक ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण एवं शोध करके अकाट्य प्रमाणों के आधार पर बताया कि जैन धर्म के तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक हैं[1]।

इस विषय में जैकोबी ने जो प्रमाण स्थापित किए उनमें जैन आगमों के अतिरिक्त बौद्ध पिटक का भी समावेश किया। बौद्ध पिटक गत उल्लेखों से जैन आगम गत वर्णनों के मेल से इतिहासकारों की स्थिति दृढ़तर हुई कि महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ हुए हैं। जैकोबी द्वारा पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता स्थापित होते ही विचारक और गवेषणा करने वाले विद्वानों को उपलब्ध जैन आगम अनेक बातों के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व के सिद्ध हुए और पाश्चात्य विद्वान भी जैन आगमों का अध्ययन करने लगे। फलतः भारतीय जैन विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों ने जैन आगमों के आधार पर शोधपरक सामग्री तैयार करके उसका प्रकाशन किया। इसका प्रभाव यह

---

* ग्वालियर

हुआ कि धीरे-धीरे रूढ़ और श्रद्धालु जैन वर्ग का ध्यान भी ऐतिहासिक दृष्टि से श्रुत अध्ययन करने की ओर जाने लगा; यह संतोष की बात है।

शैलकला वस्तुऐं तथा चित्रकारी मानवता के इतिहास के महत्वपूर्ण पृष्ठ हैं वे उस कहानी के बीच के स्थल हैं जिसकी शुरूआत मानव द्वारा लगभग २५ लाख वर्ष पूर्व पहली बार सांस्कृतिक घटना के रूप में हुई थी जिनके अवशेष अभी भी उपलब्ध होते हैं। मानव ने गुफाओं में चित्रकारी करके प्रारंम्भिक कला रचनाऐं की हैं। शैलकला के प्राचीनतम प्रमाण यूरोप और अफ्रीका में मिलते हैं जिनकी गणना ४० हजार वर्ष पूर्व निर्धारित की जाती है। शैलकला के इतने पुराने प्रमाण दुनिया के सभी हिस्सों में नहीं मिलते। लगभग २०० शैल कला स्थल देश में ज्ञात हैं जिनमें २००० शैलाश्रय और हजारों की मात्रा में चित्र उपलब्ध हैं। अपने देश में सर्वाधिक स्थल मध्य भारत क्षेत्र में हैं। भीमबेटिका शैलकला स्थल के रूप में पर्यटकों और सामान्य जनसंख्या के बीच अत्यधिक जानी पहचानी जगह है। चूंकि शैल चित्र कला विषय पर न्यूनतम मात्रा में शोध हुए हैं अत: इस विषय की जानकारी भी बिरले लोगों को है। ये शैल चित्र बीहड़ जंगलों एकांत दुर्गम स्थानों पर ही मिलते हैं इसलिए सामान्य मनुष्य की पहुंच और जानकारी से दूर हैं।

मेरा एक शोध आलेख शोधादर्श में १९८४ के अंक में 'हथफोरकी रंगशाला' नाम से प्रकाशित हुआ था जिसमें भ. ऋषभदेव के शैलकला चित्रों की जानकारी दी थी। अभी अनेकांत के अप्रैल/जून ९७ अंक में जोगीमारा/सीतावेंगा के भित्तिचित्र नाम से आलेख में भी इसी विषय पर शोधपूर्ण सामग्री देकर जैन विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। 'पभोषागिरि की शैलचित्रकला, सम्पूर्ण मानवता की विरासत' नाम से एक आलेख जैन कलादर्श में मार्च १९९७ में प्रकाशित हुआ।

डॉ. लालमोहम्मद रिजवी ने अपने पत्र दिनांक १-५-१९९४ में लिखा था कि आदमगढ़ श्रैलाश्रयों में भगवान् पार्श्वनाथ के चित्र देखे गए हैं। आदमगढ़ की पहाड़ियां (गुफाऐं जैन शैलाश्रय) इटारसी और होशंगाबाद के

मध्य पोवार खेड़ा के पास हैं। पत्र पाते ही मैंने वहां के फोरस्ट ऑफीसर से संम्पर्क किया। उन्होंने सहयोग/सौजन्य देने का आश्वासन देकर मुझे आश्वस्त किया। आदमगढ़ वीरान पहाड़ियां हैं जिसकी एक ओर पत्थर की खदानें हैं। यहां सात शैलाश्रय हैं जिनमें गुफाऐं हैं जिनके अंदर जैन शैलचित्र हैं। इन चित्रों को सफेद, लाल तथा काले रंग से बनाया गया है। कहीं कहीं पीले रंग का आभास भी मिलता है, इसे उड़े हुए लाल रंग का अवशेष माना जाता है। सफेद रंग खड़िया है लाल रंग हिरोंजी तथा काला रंग हर्रा नामक फल से तैयार किया गया है। कमठ शठ उपसर्ग की चित्राकृतियां गुफा की खुरदरी दीवार पर बिना किसी अस्तर के चढाए ही चित्र अंकित किए गए हैं। कहीं-कहीं चूने का हल्का सा पलस्तर है। ये चित्र इंदिरा गांधी मानव संग्रहालय के विशेषज्ञ डी.के. जैन तथा डाइरैक्टर डॉ. श्री के.के. चक्रवर्ती के अनुसार ३ हजार वर्ष प्राचीन हैं।

भ. पार्श्वनाथ और उनकी विरासत से सम्बन्धित शैल चित्र विदिशा के समीप सतधारा में भी मिले हैं। यहां हलाली नदी के किनारे भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई में जैन स्तूप निकले हैं। इनकी संख्या लगभग ५० है। एक के बाद एक स्थलों पर उपलब्ध चित्रों को बारीकी से देखें तो लगता है जैसे प्रत्येक स्थल का अपना लाक्षणिक महत्व है व्यक्तित्व है जो संभवतः इस क्षेत्र पर भिन्न भिन्न समयों की सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण निवासियों द्वारा किए गए चित्रांकन में प्रतिबिंबित होता है। अधिकांश चित्र तत्कालीन जीवनयापन तथा पूजा पद्धति से सम्बन्धित हैं। सांची से भोपाल जाते समय एक रास्ता सतधारा के लिए जाता है। इस मोड़ से नौ कि. मी. वीहड़ जंगल में यह स्थान है। यहां पर कोई आवागमन का स्थाई मार्ग नहीं है न ही साधन उपलब्ध है। अपनी जीप आदि से पहुंचा जा सकता है। पुरातत्व विभाग की देख-रेख में अभी काम चलने से फोटोग्राफी करना मना है क्यों कि इस सामग्री का प्रकाशन नहीं हुआ है।

भगवान् पार्श्वनाथ जैसे शैलचित्र भोपाल के इंदिरागांधी मानव संग्रहालय श्यामला हिल्स में स्थित शैलाश्रय क्रं. २३ में भी हैं। शैलाश्रय क्र.. १७ चुनौतीपूर्ण विषम क्षेत्र पर है। पंचयति नग्न दिगंबर या पंचपरमेष्ठी का

चित्रांकन है साथ ही सर्पों की फणावलियां भी हैं। अधिकांश शैलकला स्थल दूर दराज के बीहड़ों व दुर्गम क्षेत्रों में होते हैं कला की परिधि से बाहर जाकर रची गई। पुरातन शैलकला को पूर्णत: समझ पाना यद्यपि अभीतक संभव नहीं हो पाया है, यह सर्वमान्य अनुमान है कि इसके अर्थ काफी व्यापक रहे होंगे। शैलकला दर्शन आनंद के साथ-साथ बौद्धिक चुनौतियां भी देते हैं।

शैलकला चित्र सिर्फ एक रेखांकन के रूप में और बहुत धूमिल मिलते हैं इनके पास तक पहुंचना और इनकी खोज करना बहुत टेढ़ा काम है। इनके फोटोग्राफ लेना भी दुष्कर है साधारण कैमरा और फ्लैश से इनके फोटो नहीं लिए जा सकते। कुछ शैलचित्र लैमिनैटेड भी मिलते हैं जिनसे चमक आती है इसलिए फोटो नहीं लिए जा सकते। अंधेरी शैल गुफाओं में प्रवेश करना भी खतरे से खाली नहीं होता, जहरीले जीव जन्तु, हिंसक जानवरों का भी भय सदैव रहता है। पभोषागिरि पर जो शैल चित्र हैं। उनमें सर्प फणावलियों वाले देवता के चित्र भी हैं यहां पहुंचने के लिए ग्वालों के पुत्रों के साथ जाना संभव हुआ था। इन गुफाओं में हड्डियों के ढेर भी मिले हिंसक जानवरों की आवाजें भी सुनाई दीं। इस अभियान में डॉ. फूल चन्द प्रेमी भी मेरे साथ कुछ स्थलों पर गए थें।

शिवपुरी नेशनल पार्क में चुडैल की छाज एक जगह है यहां ५ पैनल शैलकला चित्रों के हैं। एक स्थान पर भूरा खो है यहां भगवान् पार्श्वनाथ के काले और नीले शैल चित्र मिलते हैं जो मैंने ५ वर्ष पूर्व देखे थे। इन चित्रों के पास 'दुवकेन कारति' प्राकृत शब्द लिखे हैं जो संभवत: चित्रकार के हस्ताक्षर हैं।

शैल चित्रों का काल निर्धारण अधिकतर सापेक्षिक विधियों से किया गया है जिनमें सतहों का अध्ययन मुख्य आधार होता है। उसी शैलाश्रय से सांस्कृतिक अवशेषों का जमीन में जमाव जब खुदाई द्वारा बाहर निकाला जाता है तो अवश्य ऐसे संकेत मिलते हैं जिनका संबन्ध शैल चित्रों से जोड़ा जा सकता है लेकिन तब भी सुस्पष्टता के अभाव में यह संभव नहीं होता

कि सीधा सटीक काल निर्धारण किया जा सके। जहां मैं इन चित्रों को पार्श्वनाथ भगवान् से जोड़ रहा हूँ संभव है ये चित्र सुपार्श्वनाथ के हों इससे इन चित्रों की परंपरा और अधिक पुरानी चली जाती है।

गोपाचल पर्वत एक पत्थर की बावड़ी पर स्थित ४२ फुट पद्मासन मूर्ति जिसे पार्श्वनाथ की मूर्ति कहा जाता है वस्तुत: सुपार्श्वनाथ जी की है जो तोमर शासक डूंगरसिंह ने १४००वीं शताब्दी में बनवाई थी।

ग्वालियर के पास मोहना कस्बा भी है यहां ताम्र पाषाण के शैलचित्र उपलब्ध हुए हैं। अधिकांशत: शैलचित्र एक दूसरे पर अंकित पाए जाते हैं। इस तरह चित्रों की कई सतहें और प्रत्येक सतह में किसी खास समय बनाए गए चित्र होने की संभावना स्पष्टत: बनती है। प्रत्येक सतह के चित्र अलग अलग निकालकर देखने पर उनका अध्ययन सुविधाजनक होता है। शैलकला के अध्येता शैलाश्रयों में जाकर चित्रों की ट्रेसिंग इस तरह करते हैं कि सतहों को अलग अलग किया जासके।

स्व. पद्मश्री डॉ. वाकनकर उज्जैन ने इस क्षेत्र में गहन सर्वेक्षण किया है। उनके व्यक्तिगत म्यूज़ियम में ऐसे शैलचित्रों के फोटोग्राफ देखे जा सकते हैं।

इंदिरा गांधी मानव संग्रहालय में २२ शैलाश्रय मूलरूप में सुरक्षित हैं जिनकी अभी वर्तमान में खोज की गई है। अब सबसे बड़ा काम जैन शैलाश्रयों को संरक्षित करने का है। लगातार पत्थरों की कटाई से इनके समाप्त होने की पूरी-पूरी संभावना है। इनका सूचीकरण भी आवश्यक है। एक नयी सूचना के आधार पर पता चला है कि कम्बोडिया या थाईलैण्ड में भी ऐसे चित्र मिले हैं जो जैन सुपार्श्व/पार्श्वनाथ से साम्यता रखते हैं। मीजोल नामक स्थान पर इन्हें खोजा गया है।

संदर्भ

१. डॉ. हर्मन जैकोबी

That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable. (Sacred books of the East, Vol. XLV. Introduction pp XXI-XXXIII.

२. समणस्सणं महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्ज समणोवासगायावि होत्था। आचारांग, २ भावचूलिका ३, सूत्र ४०१

३. The name (पूर्व) itself testifies to the fact that the Purvas were superseded by a new canon, for purva means 'former' or earlier. 'Sacred books of the East', Vol. XXII, Inrtroduction PXLIV.

माथुरी शिल्प में दुर्लभ पार्श्वांकन

*– डा. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी**

भारतीय शिल्प जगत में स्थान विशेष जहां पर अधिकांश कला कृतियां उपलब्ध हुई हैं उसी के नाम उस कला को अभिहित करने की परम्परा पाते हैं। यथा भरहूत (मध्य प्रदेश), अमरावती, (दक्षिण भारत), मगध (बिहार) एवं सारनाथ (वाराणसी, उत्तर प्रदेश) की तरह मथुरा शैली का अपना विशिष्ट स्थान है। चूंकि मथुरा इस कला का केन्द्र रहा है, अतः भारतीय कला रसिकों ने इसे माथुरी-शिल्प की संज्ञा प्रदान की।

कला तीर्थ मथुरा में ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन कला का वृहत संगम हुआ प्रतीत होता है। वहां की भूमि से निकली हुई कितनी ही कला कृतियां देश विदेश एवं व्यक्तिगत संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। आज भी इस क्षेत्र से कला रत्न मिलते ही रहते हैं।

जैन शासन के २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ अति लोक-प्रिय प्रतीत होते हैं तब ही तो इनकी प्रतिमायें सर्वाधिक यत्र-तत्र सर्वत्र उपलब्ध होतीं हैं। इन्हें प्रस्तर, धातु, कागज, काष्ठ, वस्त्र के साथ ही बहुमूल्य रत्नों पर भी रूपायित पाते हैं। भ. पार्श्वनाथ को आयागपट्ट, स्वतंत्र, त्रितीर्थी, सर्वतोभद्र, पंच-तीर्थी, चतुर्विंशतपट, मानस्तम्भ एवं अष्टोत्तरशत प्रतिमाओं के मध्य कायोत्सर्ग – खड़े अथवा पद्मासन में ध्यानलीन बैठे विराजित पाते हैं।

इनकी प्रतिमा लेख रहित या लेख युक्त दोनों ही प्रकार की उपलब्ध हुई हैं। वाराणसी के राजा अश्वसेन एवं रानी वामा की सन्तान पार्श्वनाथ ने तप की तुष्टि के अर्थ राजकीय विलास का जीवन त्याग दिया था।

---

* *पूर्व निदेशक, राम कथा संग्रहालय, अयोध्या, लखनऊ*

वाराणसी में ब्राह्मण कुमार कमठ और कुछ तापसी बालक लकड़ी जला रहे थे इनके पास जाकर बोले कि इन लक्कड़ों को जला कर क्यों जीव हिंसा करते हो यह सुनकर तापसी झल्लाये और बोले - कहां है जीव? तब कुमार ने तापसी के पास से कुल्हाड़ी उठा कर ज्यों ही जलती लकड़ी को चीरा तो उसमें से नाग-नागिन का जलता हुआ जोड़ा निकला। तब से पार्श्व उदास रहने लगे। "घोरोपसर्ग विजविन जिन पार्श्वनाथ" जब ये घोर तप रत थे तभी ऊपर से उनके पूर्व जनम का बैरी कमठ कहीं जारहा था देखते ही उसका पूर्व संचित वैर भाव भड़क उठा वह इनके ऊपर ईटों और पत्थरों की वर्षा करने लगा। जब इससे पार्श्व विचलित न हुए तो मूसलाधार जलवृष्टि की। ऐसे घोर उपसर्ग के समय नाग नागिन पाताल लोक में धरणेन्द्र और पद्मावती हुये थे वे अपने उपकारी के ऊपर उपसर्ग *हुआ जानकर तुरन्त आये। धरणेन्द्र ने सहस्त्र फण वाले सर्प का रूप* धारण कर पार्श्व पर फनाटोक कर दिया और पद्मावती ने उनपर छत्र लगा दिया। इस कमठ उपसर्ग का वर्णन दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही ग्रन्थों तिलोयपण्णत्ति, उत्तरपुराण, पासणाहचरिउ, त्रिशतिशलाकापुरुष चरित, उत्तरपुराण श्री पार्श्वनाहचरियम, पार्श्वनाथ चरित्र एवं कल्याण मंदिर स्तोत्र में वर्णित पाते हैं।

अनभिलिखित अंकन – पद्मावती एवं धरणेन्द्र के मध्य पार्श्व

लाल चित्तीदार वाले पत्थर पर सात फणों के नीचे भगवान् पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्वस्त्र दर्शाया गया है[२] (चित्र-१)। दांयी ओर मुकुटधारी धरणेन्द्र सप्तफण के नीचे पार्श्वनाथ की ओर निहारते - 'देववीक्षणतत्पर' खड़े हैं। बांई ओर महारानी पद्मावती सर्प फण के नीचे उठाये हुए छत्र का दंड लिए दर्शायी गयी हैं। यूं तो अहिच्छत्रा (सातवीं शती, भारतीय कला संग्रहालय कलकत्ता), एहोल (सातवीं शती), बादामी (नवीं शती) तथा विशेष उल्लेखयोग पारसपुर मध्य प्रदेश की नवीं शती की मूर्ति विक्टोरिया अलबर्ट म्यूजियम में एन.आई.एस. १८-१५५६ है[३] एवं एलोरा १०वी शती में इस कथानक को दर्शाया हुआ पाते हैं। किन्तु मथुरा से प्राप्त पार्श्व पद्मावती एवं धरणेन्द्र युक्त अंकन लगभग तीसरी शती

ईसवी का प्रतीत होता है। अस्तु, ऊपर वर्णित सभी स्थानों से पूर्व का है ऐसा अभिमत जैन प्रतिमा विज्ञान के तलस्पर्शी ज्ञाता प्रो. यू.पी. शाह महोदय ने लेखक को बतलाया था।

पार्श्वनाथ प्रतिमा

आसनस्थ पार्श्वनाथ प्रतिमा जिसके मस्तक पर वैष्णव तिलक अंकित है[४] (चित्र २)। इसकी नाक को कुरुपित किया गया है तथा इस प्रतिमा पर कोई भी लेख लिखा गया हो ऐसा निश्चित नहीं होता है क्यों कि प्रतिमा का नीचे का हिस्सा पर्याप्त क्षतिग्रस्त है।

अभिलिखित प्रतिमाएं : आयागपट्ट

जैन कला की ये अपनी ही विशेषता आकर्षक पट्ट आयागपट्ट-होमेज टेबलेट है। इन्हें कला पारखी डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने पद्मपट्ट, चक्रपट्ट एवं स्वस्तिक पट्ट कहा है। आयागपट्ट पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार इन्हें आयागपट्ट या शिलापट्ट भी पाते हैं। एक उल्लेखनीय आयागपट्ट[५] है जिसके मध्य भाग में चार तिलक रत्न[६] या नन्दीपाद के बीच वृत्त में सप्त फणों के नीचे ध्यानलीन पार्श्व और प्रत्येक ओर वस्त्र रहित उपासक दोनों ओर नमस्कार मुद्रा में खड़े हैं (चित्र ३)। नीचे लेख उत्कीर्ण है जिससे ज्ञात होता है शिवघोषा ने इसे स्थापित करवाया था, लेख काफी नष्ट हो चुका है। इतिहासकार स्मिथ महोदय ने इस पट पर अभिलिखित लेख को लिपि के आधार पर पूर्व कुषाण लिपि माना है। कला एवं लिपि दोनों ही दृष्टियों से प्रथम शती ईसा पूर्व के पूर्वार्द्ध का यह अंकन सिद्ध होता है। अर्थात् माथुरी शिल्प में भगवान् पार्श्वनाथ का यह शुंगयुगीन अंकन प्रतीत होता है।

पार्श्व का हुविष्क कालीन अंकन

लाल चित्तीदार पत्थर पर पार्श्व की ध्यानमग्न बैठी मूर्ति है[७] (चित्र ४)। इस प्रतिमा पर पार्श्वनाथ का नाम तो नहीं है किन्तु अभिलिखित लेख

के अनुसार हुविष्क सं. ५८, अन्य विद्वानों के अनुसार १३६ या १०२ ई. की मूर्ति है[८]। सिंहासन के सिंह भीतर की ओर गर्दन घुमाये हुए हैं। चरणपीठिका के मध्य धर्म चक्र, दोनों ओर अंजलि मुद्रा में एक गणधर भूमि पर बैठे हैं। बांयी ओर साध्वी एवं श्राविकाएं तथा दांयी ओर अर्धपालक एवं श्रावकगण दर्शाये गये हैं। मूल प्रतिमा का शीश अनुपलब्ध है। बाद में जब इसका शीश युक्त सर्पफण का भाग मिला सर्प फ़ण में भी एक उड़ता हुआ विद्याधर दृष्टिगोचर होता है। इस मूर्ति की विशेषता यह है कि मूल प्रतिमा के पीछे वृक्ष का सुन्दर अंकन है[९] (चित्र ५)। मथुरा की कला में मूर्तियों के पीछे वृक्ष, स्तम्भ, रीढ़ की हड्डी दर्शाने की परम्परा कुषाण मूर्तियों के देखने से ज्ञात होती है।

पार्श्व लेखयुक्त प्रतिमा

मूल मूर्ति पर्याप्त खंडित है। वह बैठी हुयी मूर्ति रही होगी किन्तु इसमें जो चरणचौकी पर लेख खुदा है उसमें "..... अर्हतो पार्श्वस्थ प्रतिमा...." सुरक्षित है। अत: यह पार्श्व प्रतिमा का अप्रतिमप्रमाण है। लिपि के अनुसार यह प्रतिमा लगभग द्वितीय शती की है (चित्र ६)।

सर्वतोभद्र

सर्वतोभद्र या चौमुखी मूर्तियों पर भी भगवान् पार्श्वनाथ को सर्प फणों से सहज ही पहचाना जा सकता है। यों तो कई प्रतिमाओं में इन्हें दर्शाया पाते हैं किन्तु एक प्रतिमा का यहां उल्लेख किया जा रहा है[१०]। इस चौमुखी पर सम्वत् १५ + ७८ = ९३ ई. का पार्श्वनाथ का भावपूर्ण अंकन है (चित्र ७)। यह प्रतिमा लंदन में आयोजित प्रदर्शनी में गयी भी थी।

जैन कथानक के मध्य पार्श्व

एक पटिया मथुरा के बलुवे पत्थर की है[११] इस पर लेख ९२+७८=१७० ई. का है (चित्र ८)। पटिया के ऊपरी भाग पर पट्टी के मध्य स्तूप है, तदुपरांत सप्त फणों के नीचे पार्श्वनाथ और अंत में महावीर अंतिम तीर्थंकर

रहे होंगे। स्तूप के बांयी ओर दो तीर्थंकर हैं, इनमें एक तो आदिनाथ एवं दूसरे नेमिनाथ हो सकते हैं क्योंकि नीचे कण्ह श्रमण भी खुदा है। ये फलक मथुरा का है और निकट ही आगरा शौरीपुर नेमिनाथ का जन्म स्थान है। अन्य कई नेमिनाथ की मूर्तियों पर बलराम व कृष्ण का अंकन देखा जा सकता है। यहां पर भी कण्ह या कृष्ण श्रमण के रूप में उपदेश दे रहे हैं। सामने वृक्ष के नीचे वस्त्राभूषणों से सुशोभित हाथ जोड़े बलराम ओर दूसरी ओर कोई जैन देवी तथा बलराम के बगल में श्रावक गण दिखाये गये हैं। यह सम्भव है कि नेमिनाथ से सम्बन्धित यह कथानक पट्ट रहा हो, जिस पर पार्श्वनाथ सुशोभित हैं।

देवविनिर्मित पार्श्वांकन

पार्श्व की ध्यानमग्न सम्वत् १०३६-५७ = ९७९ ई. कार्तिक एकादशी को इस प्रतिमा को श्री श्वेताम्बर मूल संघ के द्वारा स्थापित करवाया गया था[१२]। लेख में इस प्रतिमा को 'देवविनिर्मित प्रतिमा प्रतिस्थापिता' उत्कीर्ण पाते हैं। इस प्रतिमा के दोनों बगलों के बीच में सर्प की कुण्डली बनी हुई है[१३] (चित्र ९)। मूल मूर्ति के ऊपर सर्प का फनाटोक नहीं दृष्टिगोचर होता है। सम्भव है टूट गया हो या न भी बनवाया गया हो। प्रतिमा ललछोंह रंग के बलुवे पत्थर की है। आसन पीठिका पर रत्न पट्टियों के भीतर पत्रावली एवं पुष्पों का अलंकरण है। इसी रत्न पट्टियों के बीच देवनागरी में लेख उत्कीर्ण किया गया है। मथुरा कंकाली टीले में कभी 'जैन स्तूप और मंदिर था' जिसका उत्खनन सामग्री एवं "देवनिर्मित थूव" लेख से भी ज्ञात होता है। इसका उत्खनन १८८८ से १८९१ के मध्य प्रो. ए. फ्यूहरर ने करवाया जिसके फलस्वरूप विपुल कला कृतियां इस स्थान से निकाली गयीं। चूंकि कला पारखी फ्यूहरर महोदय लखनऊ संग्रहालय के संग्रहालयाध्यक्ष थे अतः सारी कला संपदा लखनऊ संग्रहालय ले आये जिसके कारण यह संग्रहालय अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का हो गया। जब यहां मथुरा में संग्रहालय स्थापित हो गया तो कंकाली टीले की कला कृतियां यहीं रहने लगीं।

इह वर्णित जैन कला रत्न उसी अक्षय कोष के दैदीप्यमान रत्न हैं।

संदर्भ

१. सुप्रभातस्तोत्रम् श्री स्तोत्र संग्रह सार्थ जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता

२. राज्य संग्रहालय संख्या जे. १००. आ.४८. ५ X २९ से.मी.

३. शर्मा, ब्रजेन्द्र नाथ, विदेशी संग्रहालयों में जैन प्रतिमायें, भग. महा. जय. स्मा. खण्ड २ पृ. १२६ चि. १ जयपुर १९७२

४. रा. सं. संख्या जे-७७ आ. १ मी. १९ से.मी. X ८१ से.मी. चि. २.

५. रा. सं. संख्या जे-२५३आ. ८४ X ९१ से.मी. चि. ३.

६. शाह यू.पी. स्टडीज इन जैन् आर्ट पृ. ७८ वाराणसी

७. रा. सं. संख्या जे-२५१ जे. ११३ आ. १ मी. २२ से.मी. X ७९.५ से.मी. चि. देखें चित्र ४ व ५

८. अधिकांश इतिहासकारों द्वारा कनिष्क की मान्य तिथि।

९. रा. सं. संख्या जे-६७ आ. ३१ X ५४ से.मी. चि. ६

१०. रा. सं. संख्या जे-२३०आ. ३०.५ X २४ से.मी. चि. ७

११. रा. सं. संख्या जे-६२३ चि. ८.

१२. जैन, सागरमल, श्वेताम्बर मूल संघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श, श्रमण, पृ. १५ जुलाई - सितम्बर ९२ वाराणसी

१३. रा. सं. संख्या जे-१४३ आ. १ मी. ६५ से.मी. X ८७ से.मी. चि. ९.

पाषाण प्रतिमाओं में रूपायित तीर्थंकर पार्श्वनाथ

*– श्री नीरज जैन**

देव-शास्त्र-गुरु की आराधना भव्य जीवों के लिए रत्नत्रय की प्राप्ति का अनिवार्य निमित्त और सशक्त माध्यम बताई गई है। अपने आप को अशुभ से बचाने का यही अमोघ उपाय है। देव-वन्दना, मन-वचन-काय तीनों से अशुभ की निवृत्ति कराकर शुभ में प्रवृत्ति का सरल और सहज उपाय है।

चौबीस तीर्थंकरों के पावन चरित्र हमारे पुराणों में वर्णित हैं। अनेक तीर्थंकरों पर तो प्रथक् पुराण ही रचे गये हैं, परन्तु उनमें भगवन्तों के दीर्घ जीवन की सामान्य घटनाओं का विस्तृत विवरण प्रायः प्राप्त नहीं होता। युगादिदेव ऋषभनाथ, बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और तेईसवें भगवान् पार्श्वनाथ ही इसका अपवाद हैं। इन तीनों का जीवनक्रम अधिक घटना-प्रधान होने के कारण कुछ अधिक रोचक बन गया और जैन कलाकारों के लिये अधिक प्रेरणाप्रद रहा है। मन्दिर निर्माताओं और मूर्ति-प्रतिष्ठा कराने वाले भक्तों ने ऋषभदेव और पार्श्वप्रभु को प्रमुखता से प्रतिष्ठित किया है।

ऋषभदेव के जटा–जूट

मूर्तिकला या चित्रकला के माध्यम से जब किसी व्यक्तित्व को साकार करना होता हैं, तब प्रतीक के बिना कलाकार का काम नहीं चलता। अक्षरों में अंकित प्रशस्ति तो 'छैनी या तूलिका के साम्राज्य पर लेखनी का

---

* सतना

अतिक्रमण' है। कलाकार को अपने सृजन की पहिचान तो केवल प्रतीकों के प्रयोग से ही करानी पड़ती है। छैनी और तूलिका कभी भाषा या लिपि की मोहताज नहीं होती। वे स्वयं अभिव्यक्ति की क्षमता से युक्त कला-शैलियां हैं।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने दीक्षा लेते ही, एक आसन से, छह मास तक ध्यान किया था। दिगम्बर साधु को दो माह में केशलुंच करते रहने का विधान है। स्वास्थ्य आदि की बाधा हो जाये तब भी इसमें चार मास से अधिक का व्यवधान नहीं होना चाहिये। ऋषभदेव के निश्चल ध्यान में छह मास तक केशलुंच के लिये कोई अवकाश ही नहीं था अतः उस बीच उनके केश बढ़ते रहे। दीर्घ-काल तक ध्यान करने का यह लोकोत्तर उदाहरण था। ऋषभदेव के उपरान्त किन्हीं परवर्ती तीर्थंकर भगवन्तों ने लगातार इतने दिनों तक ध्यान नहीं किया। इसी विशेषता के प्रतीक रूप में आदि प्रभु की दीर्घकेशी प्रतिमाएं बनाने की पद्धति प्रारम्भ हुई। ये जटाएं भगवान् के कांधों तक लहराती रहती हैं। कई जगह तो इन्हें पीछे पैरों तक लटकते और सिर पर सुन्दर जूड़े के आकार में सज्जित भी दिखाया गया है। खण्डगिरि-उदयगिरि, मथुरा, खजुराहो, देवगढ़, राजघाट, बिलहरी, उज्जयिनी आदि स्थानों पर जटाधारी आदिनाथ के अनेक मनोहर अंकन प्राप्त होते हैं।

बाहुबली और उनकी माधवी लताएं

मध्यलोक के अनेक भागों में तीर्थंकर अवतरित होते रहते हैं। कहीं वे सदा विद्यमान रहते हैं और कहीं कालान्तर में उनका सद्भाव पाया जाता है। हर भूमि-भाग में अपने-अपने क्षेत्र के तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित करके उनकी पूजा-अर्चना करने का प्रचलन अनादि काल से चला आ रहा है।

भरत क्षेत्र में केवल चौथे काल में ही चौबीस तीर्थंकरों का जन्म होता है। शेष पाँच कालों में भरत-क्षेत्र तीर्थंकर-विहीन ही रहता है। यहां उन्हीं चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां स्थापित करके पूजने की परिपाटी रही है। पर,

इस बार हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से, यहां एक ऐसा अनोखा व्यक्तित्व प्रगट हुआ जो साधना के क्षेत्र में तीर्थंकर भगवन्तों से भी एक पग आगे बढ़कर अग्रसर हुआ। वह महापुरुष हुए हमारे आराध्य, भगवान् ऋषभदेव के सुपुत्र बाहुबली।

बाहुबली का चरित्र और चारित्र दोनों ही अनोखी महिमा से युक्त रहे। पहले उन्होंने छहखण्ड पृथ्वी के विजेता भरत चक्रवर्ती को सहज में ही जीत लिया, फिर उस विशाल साम्राज्य को बिना भोगे ही त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा अंगीकार कर ली। आदिनाथ भगवान् का अधिकतम ध्यान काल छह मास का था, परन्तु बाहुबली स्वामी ने दीक्षा लेते ही एक वर्ष तक अडिग ध्यान किया और उसी साधना के बलपर केवज्ञान प्राप्त कर लिया। इस बीच उनका निश्चल शरीर माटी के थूहे के समान स्थिर रहा। उनके पादमूल में नागों का निवास बन गया। उनकी देह वनस्पति के विस्तार से आच्छादित हो गई। पक्षियों ने उन लता-गुल्मों में अपने लिये घोंसले बना लिये। ऋषभदेव ने सहस्त्र वर्ष की तपस्या से जिस कर्मजाल को काटा, बाहुबली ने उसे एक वर्ष के तप से निर्जीर्ण कर दिया और भगवान् के निर्वाण के पूर्व ही उन्होंने निर्वाण भी प्राप्त कर लिया।

बाहुबली स्वामी के जीवन की इन लोकोत्तर विशेषताओं ने हमारे पथ-प्रदर्शक आचार्यों को इतना प्रभावित किया कि उनके उपदेश और प्रोत्साहन से, तीर्थंकर भगवन्तों की ही तरह, बाहुबली की मूर्तियां बनीं, मन्दिर बने, और महावीर के समस्त अनुयायियों ने निर्विवाद रूप से बाहुबली की प्रतिष्ठा, पूजा और अर्चना को स्वीकार कर लिया। वे भी जन-जन के आराध्य हो गये। देश में सबसे बड़ी मूर्ति उन्हीं की बनी।

एक वर्ष का निश्चल ध्यान बाहुबली के व्यक्तित्व का सबसे चमकदार पहलू था। उसे रेखांकित करने के लिये उनकी प्रतिमा पर, शरीर से लिपटी लताओं का अंकन ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीक हो सकता था। हमारे आस्थावान कलाकारों ने उनके लिये वही सशक्त प्रतीक सुनिश्चित किया। "तन से लिपटी बेल" बाहुबली की पहिचान बन गई। माधवी लता को

पनपने और फूलने-फलने में पूरा वर्ष लगता है। शरीर पर उस लता का अंकन ही बता देता है कि ये योग-चक्रवर्ती छहों ऋतुओं को अपने निरावरण तन पर झेलते हुए, ऐसे ही अडिग ध्यानस्थ खड़े रहे थे।

बाहुबली स्वामी की यही "लता-वेष्ठित" छवि जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हुई है। सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य महाराज ने बार बार इसी रूप में उनका स्मरण और गुणगान किया है। आज उनका दर्शन करते समय किसी को भी वे लताएं बाधक नहीं लगती। सबने उस प्रतिमा में सदा उस विराट पुरुष का ही दर्शन किया है। उसी की वन्दना की है। माधवी लताएं उस समय अपने आप दृष्टि से तिरोहित होकर गौण और अप्रासंगिक होकर रह जाती हैं। उनकी थिरता का प्रतीक बन जाती हैं। बस।

पार्श्वनाथ प्रतिमाओं पर नाग-फण

तीर्थंकर भगवन्तों की एक विशेषता यह रही है कि उनकी साधना निर्विघ्न होती है। परकृत परिषह और उपसर्ग प्रायः उनपर नहीं होते। पर इस हुण्डावसर्पिणी काल में यह नैसर्गिक नियम भी खण्डित होना था। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी पर साधना काल में उपसर्ग हुए। किसी पूर्व-भव में कमठ के जीव से पार्श्वनाथ के जीव की अनबन हो गई थी। दुष्ट कमठ के जीव ने भवान्तर तक उसका बदला लिया फिर भी उसकी कषाय शान्त नहीं हुई। दीक्षा के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ जब तप में लीन हुए, तब कमठ का जीव कालसंवर देव पर्याय में था। विभंग अवधिज्ञान के द्वारा पूर्व-वृत्तान्त जानकर उस पामर असुर ने उन ध्यानमग्न मुनिराज पर दानवी उपद्रव प्रारम्भ कर दिये।

लगातार सात दिनों तक ध्यानस्थ तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर भयंकर उपसर्ग होते रहे। कभी प्रचण्ड आंधी आई, कभी अग्नि की वर्षा ने पूरे तपोवन में दावानल का दृश्य उपस्थित कर दिया। कभी पानी की तीव्र बरसात हुई, वज्रपात हुए और उपल वर्षा होती रही।। कालसंवर की माया

से अनेक दैत्यों ने भगवान् पर चारों ओर से तरह-तरह के उपसर्ग किये परन्तु आत्मलीन पार्श्व प्रभु अपनी साधना में मेरु की तरह अटल अकम्प बने रहे। उन्मत्त संबर ने कोपावेश में पर्वत जैसी एक पाषाण शिला उठाकर भगवान् के ऊपर पटक दी। तप के प्रभाव से वह चट्टान तो खण्ड-खण्ड होकर बिखर गई, परन्तु तपस्वी पर हुए इस क्रूर आक्रमण से धरणेन्द्र का आसन डोल उठा।

भवनवासी देवों का अधिपति धरणेन्द्र अवधि ज्ञान से सारी घटना जानकर अपनी प्रिया देवी पद्मावती के साथ भगवान् के समीप आया। दोनों ने भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणों में नमन किया फिर उस दैवी उपसर्ग के निवारण के लिये धरणेन्द्र ने अपना विशाल फण भगवान् के ऊपर वितान की तरह तान लिया। भगवान् के चरणानुराग में विह्वल और पति की सहायता के लिये उद्धत देवी पद्मावती अपना वज्रमय छत्र उस फणावली के भी ऊपर तानकर खड़ी हो गई। देव दम्पति के प्रभाव से तत्काल उपसर्ग का निवारण हुआ और कालसंवर देव भयभीत होकर भाग गया। उसी समय उपसर्ग-विजेता भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वे अर्हत हो गये।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर इस घोर उपसर्ग की स्मृति स्वरूप, प्रतिमा निर्माण के प्रारम्भ काल से ही पार्श्वप्रभु की प्रतिमाओं पर नागफण बनाने की परिपाटी बन गई। समय के साथ इस फणावलि में वैविध्य भी आता रहा। सर्व प्रथम भगवान् के मस्तक के ऊपर मात्र नागफण बनाये गये। कुछ समय पश्चात् उनकी पीठ के पीछे लहराता हुआ सम्पूर्ण नाग ही बनने लगा। फिर नाग को कुण्डली मार कर बैठा दिखाया गया और उसी सर्प-पीठ पर भगवान् को विराजमान दिखाया जाने लगा। कहीं-कहीं फणावली के साथ स्वयं धरणेन्द्र को भगवान् के चरणों में विनत बैठा हुआ भी अंकित किया गया। कलाकारों को जहां विशाल पृष्ठभूमि मिली वहां उन्होंने कालसंवर के साथ अनेक दैत्यों का अंकन करके उपसर्ग की पूरी विकरालता को रूपायित किया। परन्तु कालान्तर में, सम्भवत: पंथ-व्यामोह के कारण उपसर्ग की घटना के इस अंकन में कुछ अंतर आने लगा। पहले

भगवान् को धरणेन्द्र के फणों के ऊपर बैठा हुआ अंकित किया और बाद में कहीं-कहीं उन्हें देवी पद्मावती के मस्तक पर विराजमान भी देखा गया। ऐसे परस्पर विरोधी अंकन किस आधार पर, किस काल से प्रारम्भ हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास ही यहां हमारा अभीष्ट है। आगे हम उसी पर विचार करेंगे।

उपसर्ग निवारण : कुछ पौराणिक संदर्भ

पार्श्वनाथ भगवान् के मस्तक पर फणावली का प्राचीनतम उल्लेख हमें स्वामी समंतभद्र के "वृहत् स्वयंभू स्तोत्र" में प्राप्त होता है। पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए वे कहते हैं - "उपसर्ग से युक्त पार्श्वनाथ भगवान् को धरणेन्द्र ने चमकती बिजली के समान पीली कान्ति वाले फण-मण्डल से ऐसे वेष्ठित कर लिया था जैसे विविध रंगों वाली संध्या के समान बिजली से युक्त मेघ, पर्वत को वेष्ठित कर लेते हैं।"

बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिंग रुचोपसर्गिणम्,
जुगूह नागो धरणो धराधरं विराग संध्या तडिदम्बुदो यथा।
- पार्श्व-स्तवन, वृहत्स्वयंभू स्तोत्र.

कविवर द्यानतरायजी ने इस पद्य का अनुवाद करते हुए दो पंक्तियां लिखीं-

दैत्य कियौ उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयौ फनधार,
गयो कमठ शठ मुख करि श्याम, नमौं मेरु सम पारस स्वाम।
- स्वयंभू स्तोत्र भाषा /२३

मध्यकाल में इस प्रसंग का प्रशस्त वर्णन गुणभद्राचार्य ने अपने उत्तर पुराण में इस प्रकार किया है।

तं ज्ञात्वा अवधिबोधेन धरणीशो विनिर्गतः।
धरण्याः स्फुरद्रत्न फणा-मण्डित मण्डिता ।।१३९।।

भद्रं तमस्थादावृत्य तत्पत्नी च फणाततेः।
उपर्युच्चैः समुद्धत्थ स्थिता बज्रातपच्छिदम।। १४०।।
उत्तरापुराण पर्व ७३

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा - "अवधि ज्ञान से उस उपसर्ग को जानकर धरणेन्द्र पृथ्वी से निकला। वह दैदीप्यमान रत्नों वाले फणा-मण्डल से सुशोभित था। वह धरणेन्द्र भगवान् को अपने फणामण्डल से आवृत्त करके, ढँक कर खड़ा हो गया और उसकी देवी उस फणावली के ऊपर अपना वज्रमय छत्र धारण करके खड़ी हो गई।"

इस संदर्भ में यह तथ्य स्मरणीय है कि पं. लालारामजी ने इन श्लोकों के अनुवाद में लिखा था कि "धरणेन्द्र ने चारों ओर से ढक कर भगवान् को ऊपर उठा लिया"। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने भी लालाराम जी के अधार पर पहले यही अर्थ लिखा जो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित प्रथम संस्करण में वैसा ही छप भी गया। १९८६ में उनका ध्यान इस विसंगति की ओर आकृष्ट किया गया कि यह अर्थ संगत नहीं बैठता, क्यों कि उपसर्ग निवारण के लिये ध्यानस्थ योगी को ऊपर उठा लेना तो दूसरा उपसर्ग हो जायेगा, इसलिये "फणाओं के ऊपर उठा लिया" के स्थान पर "फणाओं को उनके ऊपर उठा लिया" ऐसा अर्थ किया जाना चाहिये। मेरे पत्र पर पण्डितजी ने कृपा पूर्वक विचार किया और अपने १६-११-८६ के पत्र में मुझे स्पष्ट किया कि "धरणेन्द्र द्वारा भगवान् को ऊपर उठा लेने वाला अर्थ सचमुच असंगत है और उसके द्वारा अपने फणा-मण्डल को भगवान् के ऊपर छत्र की तरह तान लेना ही सही अर्थ होगा"। अब उनके अनुसार भारतीय ज्ञानपीठ ने भी दूसरे संस्करण में इस अर्थ को तदनुसार सुधार कर प्रकाशित किया है।

इस प्रकरण पर मेरे द्वारा जो प्रश्नचिन्ह लगाया गया उसका कारण यह था कि धरणेन्द्र द्वारा भगवान् को अपने फणाओं पर ऊपर उठा लेने का दृश्य प्राचीन प्रतिमाओं के अंकन से मेल नहीं खाता था। मूर्तियों में अति प्राचीन काल से यही दर्शाया गया है कि धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर अपने

फणक-मण्डल को छत्र की तरह तान लिया और देवी पद्मावती उस फण-वितान के भी ऊपर अपना वज्रमय छत्र धारण करके खड़ी हो गई। मूर्तियों के अंकन के बारे में हम आगे विचार करेंगे। यहां तो प्रश्न उठाने का एक कारण और भी था कि स्वयं गुणभद्राचार्यजी ने इसी पर्व में आगे उपसर्ग निवारण और कैवल्य प्राप्ति के उपरान्त भगवान् की स्तुति करते हुए एक बार पुनः पूरी घटना का स्पष्ट चित्रण किया है -

भेदोऽद्रे फणिमण्डपः फणिवधू छत्रं क्षतिर्घातिना,
कैवल्याप्तिरधातुदेह महिमा हानिर्भवस्यामरी।
भीतिस्तीर्थकृदुद्गमोऽपगमनं विघ्नस्य चासन्समं,
भर्तुर्यस्य स संततान्तकभयं हन्तुग्रवंशाग्रणी।

- उत्तरपुराण पर्व ७३, श्लोक १६६

- "हे नाथ ! पर्वत का फटना, धरणेन्द्र द्वारा आप पर फणा-मण्डल का मण्डप तानना, पद्मावती के द्वारा उसके ऊपर वज्रमय छत्र धारण करना, आपके घातिया कर्मों का नष्ट होना, आपको कैवल्य की प्रप्ति होना, शरीर का धातु-रहित परम औदारिक रूप में परिणत होना, जन्म-मरण रूप संसार का विघात होना तथा संबर देव का भयभीत होकर पलायन करना, तीर्थंकर नाम कर्म का उदय होना और समस्त विघ्नों का नष्ट होना, ये सब कार्य एक साथ ही तो प्रगट हुए थे।

गुणभद्राचार्य के इस संस्तवन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धरणेन्द्र ने भगवान् को अपनी फणावली की छाया में ढक लिया और देवी पद्मावती ने उन पर अपना वज्रमय छत्र धारण करके अपने अनुराग का परिचय दिय। इतने मात्र से ही उपसर्ग का निवारण हो गया। दोनों में से किसी ने भी भगवान् को उठाया नहीं। छुआ तक नहीं। यहां यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि पर्वत के फटने से लेकर विघ्न टलने तक सारे ही अतिशय एक साथ घटित हुए, इसलिये ऐसा कहना ठीक नहीं है कि "फणावली युक्त जितनी भी प्राचीन पार्श्व-प्रतिमाएं हैं, वे सब उनकी मुनि अवस्था की मूर्तियां हैं, अतः पूज्य नहीं हैं"। "परम्परा से मूर्तियां तो अर्हत की ही बनती

रही हैं, मुनि की नहीं। उन परम्परा-पूजित प्रतिमाओं की पूज्यता में शंका उठाना भक्ति का कार्य नहीं, अरहंत का अवर्णवाद होगा।

परवर्ती काल में भी उपसर्ग की घटना का जो वर्णन पुराणकारों ने किया है वह उत्तर पुराण की परम्परा का सर्वथा अनुगामी रहा है। आचार्य दामनन्दी ने अपने "पुराण-सार-संग्रह" में इस प्रसंग को इस प्रकार अंकित किया -

उपसर्गं जिनेन्द्रस्य स्वसिंहासन कम्पनात,
नागेन्द्रा भूतलाच्छीघ्रं नागिन्यासार्धमुदगतः
कृत्वा फटा सहस्राणि ज्वलन्मणि-विभूषित,
पार्श्वनाथं सुनागेन्द्रो भक्त्याप्रच्छाय संस्थितः ।
नागिनी च वृहच्छत्रं वैडूर्य मणि-दण्डकम्,
हिम-मुक्ता कलापाद्यं दीप्त बज्रमयंमुदा।
सम्यग्धृत्वास्थिता भक्त्या तत्क्षणे च जिनेश्वर,

– पुराण-सार-संग्रह, सर्ग ३, श्लोक १८-२२

- "एक भयंकर पर्वत को उठाकर भगवान् के सिर पर पटकने के संकल्प से ज्यों ही वह असुर आकाश में गया, त्यों ही अपने आसन के कम्पन से, भगवान् के ऊपर बड़ा भारी उपसर्ग जानकर, धरणेन्द्र देवी पद्मावती के साथ, शीघ्र ही पाताल से निकल कर आया। चमकते हुए मणियों से सुशोभित वह धरणेन्द्र अपनी हजार फणाओं से भगवान् को ढक कर खड़ा हो गया। उसकी देवी पद्मावती, एक ऐसे छत्र को भगवान् के ऊपर धारण करके खड़ी हो गई जिसका दण्ड वैडूर्य मणि का था, किनारों पर शुक्ल मोतियों की लड़ियां लगी थीं, और जो बज्र के समान चमक रहा था।"

कविवर भूधरदासजी ने भी इस घटना को ठीक इसी प्रकार अपने "पार्श्व-पुराण" में छन्द-बद्ध किया-

तब फनेस आसन काँपियो, जिन उपकार सकल सुधि कियो।
तताहिन पदमावती लै साथ, आयौ जहँ निवसें जगनाथ।४३
करि प्रनाम प्रदक्षिना दई, हॉथ जोरि पद्मावती नयी,
फन-मण्डप कीनौ प्रभु-सीस, जल बाधा व्यांपै नहिं ईस।४४
नागराज सुर देख्यौ जाम, भाज्यौ दुष्ट जोतिषी ताम ।
– पार्श्व-पुराण, आठवाँ अधिकार,

यहां धरणेन्द्र को ज्योतिषी कहा गया :

इस प्रकार धरणेन्द्र द्वारा भगवान् पर फण-वितान तानने और देवी पद्मावती के द्वारा उस पर अपना छत्र लगा लेने की बात ही पुराणों में सर्वत्र मिलती है। इस संदर्भ में देवी की इस मनस्थिति को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये कि धरणेन्द्र का राग भगवान् की रक्षा तक सीमित था जबकि पद्मावती भगवान् की कुशल-कामना से प्रेरित तो थी ही, अपने पति को भी उपसर्ग से सुरक्षित रखना उसका ध्येय या अभिप्राय हो सकता है। इसीलिये उसने अपने पति की फणावली के भी ऊपर अपना वज्रमय छत्र धारण किया। यक्ष-दम्पति में से किसी के भी द्वारा भगवान् को मस्तक पर उठा लेने की बात किसी भी प्रकार प्राचीन पुराणों से समर्थित नहीं होती। उपसर्ग के निवारण के लिये यही उपाय उपयुक्त भी लगता है। जब आकाश से भयंकर जल-वृष्टि हो रही हो, और उन पर चारों ओर से शिला, पाषाण, वृक्ष तथा अंगारे बरसाये जा रहे हों, तब उस उपद्रव से उनका बचाव करने के लिये कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उनके ऊपर किसी प्रकार की छाया करने का ही उपाय करेगा। धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने भी यही किया। उस स्थिति में यदि भगवान् को फण पर बिठा कर ऊपर उठा लिया जाये तो उससे आकाश से बरसते उपद्रवों का प्रतिकार कैसे सम्भव होगा? इसलिये युक्ति से भी भगवान् को फणाओं पर उठा लेने की बात उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। परन्तु आगम बहुत विशाल है।

धरणेन्द्र द्वारा भगवान् को फणों पर उठाने का एक उल्लेख "पार्श्वनाथ-चरित" में अवश्य मेरे देखने में आया है। वहां ऐसा उल्लेख मिलता है-

विचिन्त्येति किलोदभिद्य धरां सार्द्धे स्वकान्तया,
आजगाम दुतं पार्श्वे जिनेन्द्रत्य फणीश्वर: । ८२
त्रि:परीत्याशु तं धैर्यशालिनं प्रोपसर्गिणम,
ननाम धरणेन्द्रश्च भक्त्या पद्मावती मुदा ।८३
भट्टारक मथोद्धृत्य प्रस्फुरत्फण पंक्तिभि:,
भुव: प्रोत्याप्य देवोस्थात्तढाधा हानये दुतम्, । ८४
तत्योपरि विधायोच्चै: सघनं फण-मण्डपम्,
बज्रतुल्यं जलामेद्यं स्थिता देवी स्वभक्तित: । ८५
तत्सर्वोपद्रवं तस्याशु तत्राभ्यां निवारितम्.
त्वशक्त्या परया भक्त्या फणैर्विद्युच्चमत्कृतै: । ८६
– श्री पार्श्वनाथ चरित, सप्तदश सर्ग.

साहित्याचार्य जी ने इन श्लोकों का अनुवाद किया है –

"ऐसा विचार कर धरणेन्द्र पृथ्वी का भेदन कर अपनी स्त्री के साथ शीघ्र ही जिनराज के समीप आ पहुंचा। धैर्य से सुशोभित तथा बहुत भारी उपसर्ग से युक्त भगवान् पार्श्वनाथ की तीन प्रदक्षिणाएं देकर धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने भक्ति से हर्षपूर्वक उन्हें नमस्कार किया''।

तदनन्तर धरणेन्द्र शीघ्र ही भगवान् की बाधा दूर करने के लिये उन्हें दैदीप्यमान फणाओं की पंक्ति द्वारा पृथ्वी से उठाकर खड़ा हो गया। उनके ऊपर पद्मावती देवी अपनी भक्ति से उन्नत, सघन, बज्र सदृश तथा जल के द्वारा अमेघ फणा-मण्डप तानकर खड़ी हो गई। धरणेन्द्र और पद्मावती ने अपनी शक्ति और परम भक्ति से बिजली के समान चमकते हुए फणों के द्वारा उनका यह समस्त उपसर्ग दूर कर दिया।

"पार्श्वनाथ-चरित" नामक इस ग्रन्थ की रचना भट्टारक सकलकीर्ति ईस्वी पन्द्रहवीं शताब्दी में की है। उन्होंने धरणेन्द्र द्वारा भगवान् को फणों के ऊपर उठाये जाने का उल्लेख करते हुए भी, देवी पद्मावती उसके भी ऊपर अपने फणों का छत्र लगाना ही दिखाया है । भगवान् को पद्मावती द्वारा अपने सिर पर उठाये जाने का समर्थन या संकेत यहां भी नहीं मिलता।

हम ऊपर आचार्य समंतभद्रस्वामी, गुणभ्राचार्य और आचार्य दामनन्दी के प्रमाण देकर यह सिद्ध कर आये हैं कि उपसर्ग की घटना को लेकर इन तीनों आचार्यों के कथन में एकरूपता है। सकलकीर्ति भट्टारक का वर्णन पुराणों की इस पूर्व परम्परा से विपरीत और अयुक्ति संगत होने के कारण अधिक विचारणीय नहीं है। उनका काल विक्रम संवत १४७७ से १४९७ के मध्य का कहा जाता है। यह वह काल था जब दिगम्बर जैन समाज़ पंथों में बंट रहा था और देश में एक प्रकार की "धार्मिक-उदासीनता" का बोल बाला हो रहा था। इसलिये भी भट्टारक जी की रचना की प्रामाणिकता या तटस्था पर प्रश्न-चिन्ह लग सकता है। वह "पंथ-प्रेरित" तो सिद्ध हो ही जाती है।

पाषाण प्रतिमाओं में पार्श्वनाथ का रूपाकंन

अब हम कुछ महत्वपूर्ण प्राचीन पाषाण प्रतिमाओं के माध्यम से भगवान् पर कमठ जीव कालसंबर द्वारा किए गये उपसर्ग की घटना का अध्ययन करना चाहेंगे। यहां यह विशेष रूप से ध्यान में रखना होगा कि उपसर्ग के अंकन वाली मूर्तियां केवल पाषाण फलकों पर और कायोत्सर्ग आसन में ही प्राप्त हुई हैं। जहां तक मुझे ज्ञात है, इस घटना का अंकन कहीं एक भी धातु-प्रतिमा, अथवा पद्मासन मुद्रा में अब तक देखेने को नहीं मिला है। इसका एक लाभ यह तो हुआ है कि निर्विवाद रूप से सब दिगम्बर परम्परा की मूर्तियां मानी जाती हैं। इस बात को लेकर आज तक कहीं कोई विवाद या संदेह नहीं है।

पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्तियां, खासकर जिनकी हम यहां चर्चा करना चाहते हैं प्राय: एक जैसी संयोजना में निर्मित मिलती है। उनमें परस्पर में एकरूपता अधिक है, विविधता कम है। प्राय: सभी मूर्तियों में भगवान् को खिले हुए कमल पर खड़े दिखाया गया है। उनके दोनों ओर चरणों के पास उनके दाहिने धरणेन्द्र तथा बायें पद्मावती का अंकन है। मस्तक के पीछे सात या नौ फणों वाली फणावली है और उसके ऊपर छत्र अंकित है। ऐसी संरचना वाली मूर्तियां चौथी शताब्दी से लेकर बारहवीं-तेरहवीं

शताब्दी तक बहुतायत से मिलती हैं। पार्श्वनाथ पर कालसंबर कृत उपसर्ग और धरणेन्द्र-पदमावती द्वारा उसक निवारण निश्चित ही ऐसी बिरल घटनाएं थी जैसी कोई घटना अन्य किसी तीर्थंकर के जीवन में घटित नहीं हुई।

जीवन की इस रोमांचक घटना ने पार्श्वनाथ के भक्तों को उनके उपसर्ग-विजेता", "अडिग-तपस्वी" और "धीर-वीर महानायक" होने की स्मृति तो दी ही, शिल्पियों और कलाकारों को कल्पना के लिये एक नया आकाश भी दिया। इस घटना को रुपायित करते समय, अपनी कंवारी कल्पनाओं के द्वारा, कुछ तो अवश्य ऐसा चित्रित या अंकित किया जा सकता था, जैसा अन्य तीर्थंकरों के साथ सम्भव नहीं था। शायद इसी कारण देश के कोने-कोने में हमें भगवान् पार्श्वनाथ के तरह-तरह के बिम्ब प्राप्त होते रहे हैं। जैन कला का हर अध्येता यह मानने के लिये बाध्य है कि कलाकारों की हर पीढ़ी ने, किसी न किसी उपादान पर, किसी न किसी रूप में, इस अनोखे संदर्भ को अवश्य रेखांकित किया है। कलाभिव्यक्ति की कोई समर्थ विद्या इस कथानक से अछूती नहीं रह सकी। मूर्तिकला तो उससे सर्वाधिक प्रभावित रही है।

अतीत काल से ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ की इस छवि के अंकन के लिये साहित्य और शिल्प में एक अनवरत जुगलबन्दी चलती रही हैं। यह निर्णय करना आसान नहीं है कि मूर्तियों में उपसर्ग के दृश्य देखकर साहित्य में उनका वर्णन किया गया, या साहित्य के वर्णन को पढ़कर मूर्तियां गढ़ी गई। पाषाण पर प्रतिमा उत्खनन हो या अभिलेख का अंकन, ताड़पत्र पर शब्दों और चित्रों का अंकन हो या कागज पर, सर्वत्र सदा भगवान् पार्श्वनाथ का यह विश्व-वंद्य रूप हमें साकार विद्यमान मिलता है। उन अनेकानेक कला-कृतियों में से यहाँ हम कुछेक की ही चर्चा कर पायेंगे।

१. मथुरा संग्रहालय में क्र.जे. ११४ पर पार्श्व-प्रतिमा का शीर्ष रखा है। चौथी-पांचवीं शताब्दी की मूर्तिकला का यह एक जीवन्त उदाहरण है। भगवान् की स्मित मुख-मुद्रा, आत्म-लीनता और उनके अर्द्ध-निमीलित

नयन, इस मूर्ति में बहुत प्रभावक बन पड़े हैं। मस्तक पर तीसरे नयन का संकेत है जो उनके केवलज्ञान का प्रतीक माना जा सकता है। उन्हें मुण्डित सिर दिखाया गया है। फणावली खण्डित है परन्तु उसका सादा वितान देखने जैसा है। उसके विशाल आकार का अनुमान सहज ही हो जाता है।

२. गुप्तकाल की ही निर्मित एक और पदमासन प्रतिमा के समीप रामवन के तुलसी संग्रहालय में प्रदर्शित है। यह भी चौथी शताब्दी के अंत में, या पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गढ़ी गई प्रतीत होती है। सानुपातिक सुन्दर देहयष्ठि और निश्चल ध्यामुद्रा इस प्रतिमा की विशेषता है। फणा-मण्डल का विस्तार उसके लिये मण्डप या वितान शब्द को सार्थकता प्रदान करता है। नाग की कुण्डली ही भगवान् का आसन बन गई है और वही पृष्ठ भाग में सिंहासन का रूप धारण करती हुई ऊपर जाकर फणावली में स्थिर हो गई है। यहां भगवान् के सिर पर सुन्दर केश-गुच्छ बने हैं। आसन के दानों ओर चारधारी खड़े दिखाये गये हैं।

३. अब हम ऐलोरा की इन्द्रसभा नामक प्रसिद्ध जैन गुफा में से उस उपसर्ग - विजेता पार्श्व-प्रतिमा का अध्ययन करना चाहते हैं जो अपने ढंग की एक अद्वितीय कलाकृति है। नवमी शताब्दी की श्रेष्ठ जैन कलाकृतियों में इस मूर्ति की गणना कला समीक्षकों द्वारा की जाती है। खिले कमल की पांखुरियों पर भगवान् ध्यानस्थ खड़े हैं। उनके चरणों के पास ही नाग की पूंछ का हिस्सा दिखाई देता है जो कुण्डली के रूप में सिमटता हुआ उनके सिर पर फणावली बनकर, सात फणों सहित वितान का रूप ले लेता है। चरणों की बांयीं ओर नाग और नागिनी का मनोहर अंकन है जो धरणेन्द्र-पद्मावती की अनन्तर पूर्व पर्याय का द्योतक है। चरणों के दाहिनी ओर धरणेन्द्र और पदमावती अपने वर्तमान रूप में, विनम्र भाव से बैठे हैं। उनके सिर पर नागफण उनकी पहिचान कराते हैं। ऊपर भगवान् के सिर पर फणा-मण्डप

का वितान बनाते हुए धरणेन्द्र का और उस पर बज्रमय छत्र धारण करते हुए देवी पद्मावती का वैक्रियिक रूप अंकित किया गया है।

इस प्रतिमा में उपसर्ग की संयोजना समझने के लिए हम भगवान् के दाहिने कंधे के पास से प्रारम्भ करके "क्लाक-वाइज" अपनी दृष्टि दौड़ायेंगे। इस फलक पर या तो कालसंबर के विविध वैक्रियिक रूप अंकित हैं, या फिर उसकी सारी असुर सेना ही उस दुष्ट प्रयोजन की पूर्ति में संलग्न दिखाई गई है। सबसे पहले भगवान् के दाहिने कंधे के समान्तर महिष पर सवार एक असुर है जिसके हाथ में पाश जैसा कोई अस्त्र है। महिष की आक्रामक मुद्रा भयानक है। उसके ऊपर आकाश में उछलता हुआ दूसरा असुर है जो भगवान् के ऊपर एक विशाल चट्टान फेंकने की मुद्रा में है। उसके गले में अस्थियों की माला और चेहरे की क्रूरता उसके राक्षसी चरित्र का प्रतीक है। वहीं पीछे एक और असुर आक्रमण करता हुआ अंकित है।

अब भगवान् के सिर के ठीक ऊपर हमें दो असुर दिखाई देते हैं। पहला शंख जैसी वस्तु से भयानक नाद करता हुआ तथा दूसरा भगवान् पर तेज फलक वाली बरछी से आक्रमण करता अंकित किया गया है। उसके बगल में, पार्श्व प्रभु के बायें कंधे के ऊपर दो राक्षस आक्रामक मुद्रा में दिखाये गये हैं। दोनों की आकृति भयानक है और उनके हाथों में क्षेपण किये जाने वाले अस्त्र हैं। उनके नीचे सिंह पर सवार एक क्रूर आक्रमणकारी ऐसी प्रमुखता से अंकित है जिसे सहज ही कालसंबर के रूप में पहिचाना जा सकता है। दहाड़ता हुआ सिंह स्वयं आक्रामक मुद्रा में है। असुर के एक हाथ में वेधक अस्त्र तथा दूसरे में गंडासा है तथा उसका मुकुट मुण्डमाल से सजा हुआ है।

भगवान् के दाहिनी ओर देवी पद्मावती दोनों हाथों में छत्र का दण्ड सम्हाले खड़ी है। छत्र-दण्ड देवी की पीठ के पीछे से ऊपर फणावली तक गया है और छत्र को साधे हुए दिखाया गया है। इस प्रतिमा की जीवन्तता और गति दर्शनीय है। छत्र के भार से देवी की देह अपने आप त्रिभंग मुद्रा

में दिखाई देती है। छत्र-दण्ड को सम्हालने का उसका ढंग अत्यंत सुधड़ और सप्रयोजन लगता है। देवी भगवान् के बगल में कुछ अंतर से खड़ी है इसलिये दण्ड सीधा नहीं है। वह तिरछा होकर ही फणावली के ऊपर पहुंच पाया है। छत्र भी तिरछा है। वह बड़ी शीघ्रता में ऐसे शक्ति-पूर्वक धारण किया गया है कि ऊपरी पंक्ति के दो आक्रमणकारी असुर उस छत्र पर ही लटक गये हैं। उनकी स्थिति ही बताती है कि देवी के हाथों का छोटा सा स्पन्दन उन दोनों को हवा में उछाल देने के लिये पर्याप्त है।

कलाकार की साधना का सबसे बड़ा प्रमाणपत्र पार्श्वप्रभु की आत्मलीन मुद्रा के रूप में अंकित हुआ है। भवान्तर से विद्वेष पालने वाले कमठ के जीव की आक्रामक असुर सेना से घिरे, और परम चरणानुरागी भक्त धरणेन्द्र-पद्मावती के विघ्न-विनाशक उपायों से संरक्षित वे योगिराज, जैसे इस सबसे अनजान, परम उपेक्षा संयम की साधना में रत, शुद्धोपयोग की मग्नता में तल्लीन, केवल अपने आप में खोये से खड़े हैं। उपसर्गों की नानाविध संयोजना साकार करके इस कृति के कल्पनाशील कलाकार ने उसके बीच ध्यानमग्न पार्श्वनाथ की अडिगता को आकार देकर एक ऐसा दृश्य अंकित कर दिया है जैसे तीक्ष्ण कण्टक मालाओं के बीच एक हंसता-खिलता हुआ पाटल पुष्प ही हो। आश्चर्य की बात यह है कि यह अपने प्रकार की अकेली मूर्ति नहीं है। ऐसी अनेक आदमकद मूर्तियां ऐलोरा और बदामी की गुफाओं में अपने पूरे सौष्ठव-सोन्दर्य के साथ उकेरी गई है। अन्यत्र भी इस प्रकार के कुछ अंकन उपलब्ध हुए हैं।

४. हुमचा पद्मावती क्षेत्र पर पार्श्वनाथ जिनालय के मण्डप में दो विशाल पाषाण- फलक रखे हैं जिन पर उपसर्ग की घटना का बहुत सांगोपांग चित्रण है। ये फलक साढ़े पांच फुट ऊंचे हैं और इनका निर्माण काल ११वीं-१२वीं शताब्दी अनुमानित है। दोनों की संयोजना ऐलोरा के अंकन से मिलती हुई है। अंतर मात्र इतना है कि यहां कालसंबर को धनुष-वाण-बरछी से भगवान् पर आक्रमण करते दिखाया गया है तथा साथ में उसकी यक्षिणी को भी आयुध चलाकर उसकी सहायता करते दिखाया गया है। असुरों की सेना को यहां सीधे शार्दूल, गज,

महिष और सिंह रूप में ही भगवान् पर झपटते अंकित किया गया है। धरणेन्द्र-पद्मावती नीचे चरण-सान्निध्य में सौम्य भाव से बैठे भी अंकित हैं तथा फणावली और देवी के हाथ में छत्र की संयोजना भी यथावत है।

५. इसी प्रकार की संयोजना वाली, मध्यकाल की एक छोटी प्रतिमा मैंने कलकत्ते के इण्डियन म्यूजियम में भी क्र. जे. ८४२ पर देखी थी। उसकी विषय-संयोजना भी लगभग इसी प्रकार की है। यह मूर्ति मध्यप्रदेश में मिली थी। मध्यभारत में ऐसी कुछ अन्य प्रतिमाएं भी हो सकती हैं, पर इस दृष्टि से सर्वेक्षण करने का अवसर मुझे नहीं मिला है। सहज ही जो चित्र यह आलेख लिखते समय हाथ में आ गये उन्हीं का उल्लेख करके मैंने अपनी बात कह दी है। शोधक विद्वानों को ऐसी अन्य मूर्तियों की तलाश करके प्रकाशित करना चाहिये।

कुछ अन्य सुन्दर प्रतिमाएं

यह आलेख समाप्त करने के पूर्व कुछ अन्य सुन्दर, प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण मूर्तियां भी मेरे ध्यान में आ रही हैं जिनका उल्लेख मुझे आवश्यक लगता है। बीजापुर की सहस्रफण पार्श्व-प्रतिमा उन सब में प्रथम उल्लेखनीय है। पहले मेरी धारणा थी कि सौ से अधिक फण होंगे इसलिये उसे सहस्रदल कमल की तरह, सहस्रफणी पार्श्वनाथ कह दिया होगा। परन्तु जब मैंने उस प्रसिद्ध मूर्ति का दर्शन किया तो मैंने पाया कि उस पर सचमुच सहस्र फणों की फणावली कलाकार ने बड़े कौशल के साथ गढ़ी है। मैंने फण गिने भी। मध्य काल में निर्मित काले पाषाण की यह प्रतिमा अपनी फण-सज्जा के लिये अद्वितीय ही है। यहां नवीन जिनालय का निर्माण हो चुका है और क्षेत्र के विकास की दिशा में अन्य कार्य किये जा रहे हैं।

बीजापुर के पास ही बाबानगर में पार्श्वनाथ भगवान् की एक छोटी सी, अदभुत आकर्षण वाली मूर्ति का दर्शन मुझे मिला। कच्चे पन्ना की, जिसे मरकत मणि भी कहा जाता है, यह एक अति सुन्दर-सुघढ़-सुहानी

छोटी सी प्रतिमा है। इतने छोटे से भगवान् और उनमें इतना बड़ा आकर्षण मैंने पहली बार बाबानगर में ही देखा। एक से एक बढ़िया और मनोज्ञ धातु-प्रतिमाओं का समृद्ध समवशरण, और उसके मध्य इतनी मनोज्ञ पार्श्व-प्रतिमा, इस अनजाने छोटे से ग्राम में देखने को मिलेगी, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। आज भी उस छवि के दर्शन कई बार स्वप्न में कर रहा हूँ।

श्रवणबेलगोल के भट्टारक कर्मयोगी चारुकीर्ति स्वामीजी के साथ पिछले दिनों आचार्य कुन्दकुन्द देव की साधना स्थली पोन्नूर मलई की यात्रा करके हम लौट रहे थे। सहसा एक छोटे से गांव पेनकोंडा में स्वामीजी ने गाड़ी रुकवाकर जैन बस्ती में पदार्पण किया। सामान्य छोटा सा अप्रसिद्ध सा गांव, एक भी जैन श्रावक का घर नहीं। पर मन्दिर का दर्शन करके आंखें जुड़ा गईं। मन्दिर विशाल, सुन्दर और चकाचक साफ-सुथरा। मूल वेदी के सामने जाकर तो मैं निमष भर को आश्चर्य-चकित रह गया। मुझे लगा बाबानगर के पार्श्वनाथ भगवान् ही सामने विराजमान हैं। पर दस दिन में वे इतने बड़े कैसे हो गये? बस, आकार का ही अन्तर था। प्रकार वही था। वैसी ही मरकत-मणि में निर्मित सुन्दर, सानुपातिक, फणावली-मण्डित हरिताभ छवि। वही शान्त सस्मित मुख-मुद्रा और आनन पर वही मनोज्ञता। लगभग उतनी ही प्राचीन, प्राय: हजार वर्ष पूर्व की बनी हुई परन्तु ताजगी और नवीनता से भरी हुई एक दर्शनीय कलाकृति। मुझे आज भी लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी एक ही कलाकार ने दोनों प्रतिमाओं का निर्माण किया हो।

स्थापित परम्परा

इस प्रकार पांचवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक एक हजार वर्ष के अंतराल में उत्कीर्ण शतश: पार्श्व प्रतिमाओं के सूक्ष्म अवलोकन के पश्चात् मैं यह कह सकता हूं कि स्वामी समंतभद्राचार्य के स्तवन के अनुरूप, और गुणभद्राचार्य तथा आचार्य दामनन्दी के निरूपण के अनुरूप ही, धरणेन्द्र के नाग-फणामण्डल से मण्डित पार्श्वनाथ प्रतिमाएं बनाने की आर्ष-परम्परा

प्रचलित रही हैं। इसमें देवी पद्मावती को भगवान् के समीप खड़े दिखाया जाता था और उसके द्वारा धारण किया गया छत्र फणावली के भी ऊपर अंकित होता था।

उपसर्ग निवारण के लिये धरणेन्द्र ने, या देवी ने, भगवान् को सिर पर, या अपने फणाओं पर उठा लिया हो, ऐसी एक भी प्रतिमा, या पुराणों में ऐसा एक भी उल्लेख, पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व का कहीं मेरे देखने में नहीं आया। जैन प्रतिमा विज्ञान में यह प्राचीन-आर्ष-परम्परा आज भी वैसी ही चली आ रही है। मूर्ति बनना भी तो ऐसी ही चाहिये जिसमें भगवान् की वीतरागता सुरक्षित रहे और उनके महाव्रतों की औपचारिकता को भी कोई दोष लगता दिखाई न देता हो। जैन निर्माताओ की शास्त्रानुसारी परम्परा, और उस पर उनकी दृढ़ता का यह एक ज्वलंत प्रमाण है।

देवी पद्मावती के मस्तक पर विराजमान पार्श्व भगवान् का स्वरूप बहुत प्राचीन नहीं है। पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी के आस-पास, पंथ-व्यामोह के कारण ही ऐसी प्रतिमाएं बनना प्रारम्भ हुआ होगा। प्राचीन पुराणों में या कथा-ग्रंथों में ऐसा कोई आधार प्राप्त नहीं होता। ऊपर हम भट्टारक सकलकीर्ति के "पार्श्वनाथ-चरित" में धरणेन्द्र द्वारा भगवान् को अपनी फणाओं पर उठा लेने की बात पढ़ चुके हैं। सकलकीर्ति का काल १४७७ से १४९७ संवत के बीच माना जाता है। सागर जिले में पटनागंज रेहली के जिनालय में किसी यक्ष या यक्षिणी के मस्तक पर विराजमान एक तीर्थंकर मूर्ति मैंने देखी थी। श्वेत संगमरमर की यह मूर्ति विक्रम संवत १५४८, वैशाख सुदी ३ बुधवार के जीवराज पापरीवाल के लेख से अलंकृत थी। मेरी जानकारी में यक्ष-यक्षिणी के मस्तक पर विराजमान किसी तीर्थंकर भगवंत की वही प्राचीनतम प्रतिमा है। जीवराज पापरीवाल द्वारा संवत १५४८ में प्रतिष्ठित कई हजार मूर्तियों का दर्शन-अवलोकन करने का मुझे अवसर मिला है, पर उनके द्वारा प्रतिष्ठित वैसी प्रतिमा भी मैंने अब तक कहीं नहीं देखी।

पार्श्व प्रतिमाओं में फणावली के अंकन को लेकर अवश्य कुछ विविधताएं प्रचलित रही हैं। पांच-सात-नौ-ग्यारह-शत और सहस्र फणों तक की फणावली भगवान् के मस्तक पर बनाई जाती रही है। पांच फणों वाली कुछ मूर्तियां सुपार्श्वनाथ भगवान् की भी प्राप्त होती हैं, परन्तु सात या उससे अधिक फणों वाली फणावली तो प्राय: पार्श्वनाथ भगवान् के मस्तक पर ही बनाये जाने की हमारे कलाकारों की आदि परम्परा रही है।

भटक रहा है कमठ का जीव

पुराण-कथाओं के अनुसार कालसंबर भयभीत होकर भाग गया था। मोक्ष तो पार्श्वनाथ भगवान् का हुआ। कमठ का जीव तो आज भी संसार में अपना बैरभाव लेकर घूम रहा है। इसीलिये तो जहां-जहां पार्श्वनाथ के प्रसिद्ध तीर्थ हैं, वहां-वहां अवश्य आज भी उपद्रव और उपसर्ग होते रहते हैं। लगता है कमठ का परिवार बढ़ ही रहा है। एक बात निश्चित है कि इस कलिकाल में पार्श्वनाथ नहीं हैं, इसलिये उन उपद्रवों का सामना करने कोई धरणेन्द्र-पद्मावती भी नहीं आयेंगे। आवश्यकता पड़ने पर हम में ही किसी को धरणेन्द्र और किसी को पद्मावती बनना पड़ेगा। तभी हमारे धर्मायतनों पर आने वाले उन उपद्रवों का निवारण हो सकेगा। प्रत्येक जैन श्रावक-श्राविका को यह बात निरन्तर स्मरण रखनी होगी और अपने दायित्व के प्रति, अहर्निशि जागरूक बने रहना होगा। धर्मायतनों के प्रति अपने कर्तव्य के निर्वाह का अन्य कोई उपाय नहीं है।

भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियों का वैशिष्ट्य

*– डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन**

स सत्य-विद्या-तपसां प्रणायक : समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान।
मया सदा पार्श्व जिनः प्रणम्यते, विलीनमिथ्यापथ-दृष्टिविभ्रमः।।

जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ मूर्तिकारों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। यहाँ तक कि बिना भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति के जैन मन्दिरों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जो नाग संसारी प्राणियों के लिए विषमय है वही नाग मूर्ति शिल्पियों के लिए शिवमय प्रतीत हुआ क्योंकि अन्य मूर्तियों की अपेक्षा भगवान् बाहुबली स्वामी की मूर्ति को छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति-छवि ऐसी थी जो सर्प से युक्त थी। सप्तफण से लेकर सहस्त्र फण तक की संरचना उनके शिल्पवैभव को प्रस्फुटित कराने में समर्थ थी।

भगवान् पार्श्वनाथ हमारी अविच्छिन्न तीर्थंकर परम्परा के दिव्य आभावान योगी ऐतिहासिक पुरुष हैं। सर्वप्रथम डॉ. हर्मन याकोबी ने 'स्टडीज इन जैनिज्म' के माध्यम से उन्हें ऐतिहासिक पुरुष माना। उनका कथन है कि परम्परा की अवहेलना किये बिना हम महावीर को जैन-धर्म का संस्थापक नहीं कह सकते। उनके पूर्व के पार्श्व (अन्तिम से पूर्व के तीर्थंकर) को जैन धर्म का संस्थापक मानना अधिक युक्तियुक्त है। पार्श्व की परम्परा के शिष्यों का उल्लेख जैन आगम ग्रन्थों में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं।[२]

उनकी ऐतिहासिकता एवं चिन्तामणि, पारसमणि, पतितपावन छवि, नाम प्रताप के कारण मूर्तिकार उनकी ओर आकृष्ट हुए। कविवर

---

* *सनावद (खरगौन)*

बनारसीदास जी ने इस पद्य में भगवान् पार्श्वनाथ के इन गुणों का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है

जिन्ह के वचन उर धारत जुगल नाग,
भये धरनिंद पदमावति पलक मे ।
जाके नाम महिमासों कुधातु कनक करै,
पारस परवान नामी भयो है खलक में ।।
जिन की जनमपुरी नाम के प्रभाव हम,
अपनो स्वरूप लख्यो भान सो झलक में।
तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब,
दीजे मोहि साता दृगलीला की ललक में[1]।।

अर्थात जिनका उपदेश हृदय में धारण करने से नागदम्पति पल भर में धरणेन्द्र-पद्मावती हो गये, जिसके नाम की महिमा से कुधातु (लोहा) भी स्वर्ण हो जाती है, जो पारस पत्थर (पार्श्व मणि) के नाम से संसार में प्रसिद्ध है, जिनकी जन्म नगरी बनारस के नाम के प्रभाव से हम भी (बनारसीदास) अपने सही स्वरूप को देखने में समर्थ हो सके हैं और वह स्वरूप सूर्य की झलक के समान प्रकाशवान है। वे ही पार्श्व प्रभु महारस (आत्मानन्द) के दाता! अब मुझे भी साता (आत्म शान्ति) दें। मैं प्रभु के दर्शन की ललक में हूँ।

इस विषय में उनके प्रभाव को बनारसीदास जी ने स्वयं स्वीकार किया है। बनारसीदास जी के पिता का नाम खड़गसेन था। जब बालक छह-सात महीने का हुआ, खड़गसेन जी सकुटुम्ब श्री पार्श्वनाथ की यात्रा करने काशी गये। बड़े भक्ति भाव से पूजन किया और बालक को भगवच्चरणों में रख दिया - उसके दीर्घायु होने की प्रार्थना की

"चिरजीवि कीजै यह बाल, तुम्ह सरनागत के रखपाल।
इस बालक पर कीजै दया, अब यहु दास तुम्हारा भया।।"

इस विनीत प्रार्थना के समय मन्दिर का पुजारी भी खड़ा था। थोड़ी देर बनावटी ध्यान लगाकर बोल उठा - भगवान् पार्श्वनाथ के यक्ष ने मुझे

संकेत किया है कि यह बालक दीर्घायु होगा। इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और बालक का नाम

जो प्रभु पार्श्व जन्म को गाँव, सोदीजै बालक को नांव।
तो बालक चिरजीवी होय, यह कहि लोप भयो सुरसोय।।[४]

मायावी पुजारी की इस मायात्मक बात को खड़गसेन जी ने सत्य समझकर प्रसन्न भाव से पुत्र का नाम "बनारसी दास" रख दिया[५]।

और इस तरह विक्रमाजीत बनारसीदास हो गये जिन्होंने 'नाटक समयसार' लिखकर अपार ख्याति अर्जित की। आज भी अनेक ऐसे तीर्थ हैं जो भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियों के चमत्कारों के कारण ख्याति प्राप्त हैं यथा-

राजस्थान में नागेश्वर पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ चूलगिरि, बिजौलिया पार्श्वनाथ, चम्बलेश्वर पार्श्वनाथ, अणिन्दा पार्श्वनाथ, नागफणी पार्श्वनाथ, अंदेश्वर पार्श्वनाथ, उत्तरप्रदेश में अहिच्छत्रा (बरेली), ताजगंज आगरा, भेलुपुर वाराणसी, बड़ागाँव (मेरठ), सांवलिया पार्श्वनाथ करगुवां, बिहार में सम्मेद शिखर,राजगृही, कुलुहापहाड़, प. बंगाल में बेलगछिया कलकत्ता, मध्य प्रदेश में गोपांचल, चन्देरी, रेशन्दीगिरि-नैनागिर, मकशी पार्श्वनाथ, आहू पार्श्वनाथ, कर्नाटक में हुम्मच पद्मावती, हलेविड द्वार समुद्रम्, कमठान भूमिगत पार्श्वनाथ, महाराष्ट्र में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर, चिन्तामणि पार्श्वनाथ असे गाँव, चिन्तामणि पार्श्वनाथ कचनेर, संकटहरण पार्श्वनाथ जटवाड़ा, ऐलोरा पार्श्वनाथ, गुजरात में महुआ पार्श्वनाथ, अंकलेश्वर पार्श्वनाथ, अमीझरो पार्श्वनाथ, केरल में कल्लिन पार्श्वनाथ आदि ये सब ऐसे तीर्थ हैं जो भगवान् पार्श्वनाथ की महिमा, चमत्कार, संकटमोचन एवं अन्य मूर्ति वैशिष्ट्य के कारण चर्चित अर्चित हैं।

सम्पूर्ण भारत की प्रमुख मूर्तियों का परिचय एवं वैशिष्ट्य यहां बताया जा रहा है।

कुषाणकालीन भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति

कुषाणकाल की अनेक जिनमूर्तियां मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[७] इनमें भगवान् आदिनाथ एवं भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति क्रमशः जटाओं एवं नागफण के कारण पहचानी गयी हैं। भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थंकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है, जिसका सुन्दर संक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत 'स्वयम्भू स्त्रोत्र' में इस प्रकार मिलता है।

तमालनीलैः सधनुस्तद्रिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनि - वायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रतो महामना यो न चचाल योगतः।।१३१।।
बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं स्फूस्तडित्पिंगरुचोपसंर्गिणाम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्या तडिदम्बुदो यथा।।

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या में निश्चल भाव से ध्यानारूढ़ थे तब उनका पूर्वजन्म का वैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवों द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई, धनघोर वृष्टि की, मेघों से वज्रपात कराया, तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनकी ऐसी तपस्या सें प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फणामण्डल को उनके ऊंपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फण चिन्ह में पाते हैं।[८]

पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति (बी ६२) का सिर और उस पर नागफणा मात्र सुरक्षित मिला है। फणों के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीनयुगल, इन मंगल-द्रव्यों के चिन्ह बने हुये हैं। सिरपर घुंघराले बाल हैं। कान कुछ लम्बे, आँखों की भौंहें ऊर्णा से जुड़ी हुई व कपोल भरे हुए हैं।

पाषाण स्तम्भ (बी ६८) ३ फुट ३ इंच ऊँचा है, और उसके चारों ओर चार नग्न जिनमूर्तियां हैं। श्रीवत्स सभी के वक्षस्थल पर है और तीन मूर्तियों के साथ भामण्डल भी हैं व उनमें से एक के सिर की जटाएं कंधों

पर बिखरी हुई हैं चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफणी नाग की छाया है। इनमें से अंतिम दो स्पष्टत: आदिनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तियां हैं।[९]

गुप्तकालीन भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियां

यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। गुप्त सम्राट कुमार गुप्त प्रथम के काल में गुप्त सं. १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप उदयगिरि की गुफा में उत्कीर्ण पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यत: मूर्ति खण्डित हो चुकी है तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दांतो से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिए तत्पर दिखाई देता है। उत्तर प्रदेश के कहाऊँ नामक स्थान से प्राप्त गुप्त सं. १४१ के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरों की प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।[१०] कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में भ. पार्श्व की ४ फुट ऊँची प्रतिमा है। संभवत: यह गुप्तकालीन है। ५वी शती की है।

ग्वालियर नगर तेरहवीं शताब्दी में गोपाचल पर्वत के नाम से प्रसिद्ध था।[११] यह क्षेत्र जैन मूर्तिकला एवं स्थापत्य की दृष्टि से पाँचवी शताब्दी का प्रसिद्ध है। यहाँ पर भगवान् पार्श्वनाथ की ४२ फुट ऊँची तथा ३० फुट चौड़ी पद्मासन मुद्रा में विश्व की सबसे विशाल प्रतिमा है। संसार की यह दुर्लभ मनोज्ञ कलाकृति है।[१२]

यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ सम्पूर्ण भारतवासियों के प्रिय एवं प्रमुख आराध्य देवता हैं जिनके नाम से स्थान, व्यक्ति, रत्न एवं पत्थर तक जुड़कर गौरवान्वित हुए हैं फिर भी लेख की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए प्रदेशवार कुछ प्रमुख मूर्तियों का परिचय एवं वैशिष्ट्य बताया जा रहा है।

उत्तर प्रदेश

वाराणसी : भगवान् पार्श्वनाथ के लिए उत्तर प्रदेश सर्वाधिक प्रिय रहा है फलत: उनके गर्भ, जन्म, तप एवं ज्ञान कल्याणक, उपसर्ग एवं

समवशरण के प्रमुख केन्द्र उत्तर प्रदेश में हैं। भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी नामक नगरी में राजा अश्वसेन के यहाँ रानी वामादेवी के गर्भ से हुआ था।[१३] भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म जहाँ हुआ था, वह स्थान वर्तमान में भेलूपुर नामक मौहल्ला के रूप में वाराणसी में जाना जाता है। यहाँ दो मन्दिर बने हैं। मुख्य वेदी पर तीन प्रतिमायें विराजमान हैं उनमें तीसरी प्रतिमा भगवान् पार्श्वनाथ की है। सिर पर फण तथा पीठिका पर सर्प का लांछन तथा लेख अंकित है। लेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठा संवत् १५६८ में हुई थी। पीछे वाम आले में दो दिगम्बर प्रतिमायें हैं। मूर्तिलेख के अनुसार इनका प्रतिष्ठाकाल वि.सं ११५३ है। इसी के साथ दूसरी मूर्ति कृष्ण पाषाण की पद्मासन मुद्रा में भगवान पार्श्वनाथ की है जो कि अत्यन्त मनोज्ञ है।[१४]

अहिच्छत्र : यह बरेली जिले में अवस्थित प्रमुख अतिशय क्षेत्र है। जब पार्श्वप्रभु तपस्यारत थे तब पूर्वजन्मों के वैरी कमठ के जीव देव शम्बर ने उन पर भयंकर उपसर्ग किया तभी धरणेन्द्र ने पद्मावती सहित आकर सर्प का छत्र बनाकर उपसर्ग निवारण किया तभी से इस क्षेत्र का नाम अहिच्छत्र पड़ गया।

प्राकृत निर्वाणकाण्ड के अतिशय क्षेत्र काण्ड में भी "महुराए अहिछत्ते वीरं पासं तहेव वंदामि" पाठ द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ के साथ अहिच्छत्र का सम्बन्ध सूचित किया है।[१५]

अहिच्छत्र में वसुपाल राजा ने एक भव्य सहस्त्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराकर भगवान् पार्श्वनाथ की ९ हाथ ऊँची लेपदार प्रतिमा विराजमान की थी।[१६] यहां स्थित प्राचीन क्षेत्र पर बायीं ओर एक छोटे गर्भ ग्रह में वेदी है जिसमें तिरखान वाले बाबा (भगवान् पार्श्वनाथ) की प्रतिमा विराजमान है। प्रतिमा सौम्य एवं चित्ताकर्षक है। प्रतिमा का निर्माण काल १०-११ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है।[१७] यहाँ अन्य नवीन भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियां भी हैं। जो कमलासन पर विराजमान है।

बालाबेहट : ललितपुर से सागर मार्ग पर ३८ कि.मी. दूर बालाबेहट नामक अतिशय क्षेत्र सांवलिया पार्श्वनाथ के नाग से प्रसिद्ध १-१/४ फुट अवगाहन की सातिशय प्रतिमा है। यह मूर्ति सं. १५०० में किसी व्यक्ति को आये स्वप्न के आधार पर उत्खनन से प्राप्त हुई थी।

करगुवां : झांसी से ५ कि.मी. दूर सांवलिया पार्श्वनाथ नाम से प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र करगुवां है जिसमें भोंयरे में भूगर्भ से प्राप्त मूर्ति भगवान् पार्श्वनाथ की है जो मनोज्ञ एवं इष्ट फल देने वाली है। मूर्ति लगभग ७०० वर्ष प्राचीन है।

श्रीनगर (गढ़वाल) :यहां एक प्राचीन दि. जैन मन्दिर अलकनन्दा के तट पर स्थित है। इस मन्दिर में दो प्रतिमायें भ. पार्श्वनाथ की हैं जो लगभग पन्द्रह सौ वर्ष (१५००) प्राचीन हैं।[१८]

बड़ा गांव : मेरठ जनपद में स्थित इस तीर्थ पर भट्टारक जिनचन्द्र द्वारा संबत् १५४७ में स्थित भगवान् पार्श्वनाथ की चमत्कारी प्रतिमा है। यह मूर्ति जिस टीले से प्राप्त हुई थी वहां दूध चढाने से पशुओं एवं मनुष्यों की रोग मुक्ति होती है।

बड़ा गांव : ललितपुर जनपद की तहसील महरौनी के निकट यह एक अतिशय क्षेत्र है। वैशाख वदी ८ सं. १९७८ को यहाँ स्थित टीले की खुदाई कराई गई जिसमें १० दि. जैन प्रतिमायें निकलीं, जिनमें कुछ मूर्तियां बारहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी की हैं। भगवान् पार्श्वनाथ की श्वेत पाषाण की मूर्ति है। यह पद्मासन है, हाथ खण्डित है। इस पर कोई लेख नहीं है, पॉलिस कहीं-कहीं उतर गयी है। अन्य दो मूर्तियां भी भ. पार्श्वनाथ की पाषाण की हैं।[१९]

मथुरा : मथुरा में भगवान् पार्श्वनाथ की कुषाण युगीन प्रतिमा की जानकारी मैंने लेख के प्रारम्भ में दी है। यहाँ के दि. जैन मन्दिर में स्थित श्वेत पाषाण की भगवान् पार्श्वनाथ की पद्मासन प्रतिमा है जिसकी

अवगाहना १५ इंच है। मूर्ति लेख के अनुसार यह वि.सं. १६६४ की है। इसी वेदी में कृष्ण पाषाण की १८ इंच ऊँची पद्मासन प्रतिमा है, इस मूर्ति पर लेख नहीं हैं लेकिन इसके साथ जो सत्रह मूर्तियां हैं उन पर वि. सं. १५५५ अंकित है। इस वेदी के पीछे वाली वेदी पर भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा मथुरा वृन्दावन के बीच घिरौरा गाँव के समीपवर्ती अक्रूर-धार के पास दि. १६.८.१९६६ को भूगर्भ से प्राप्त हुई थी, इसके पीठासन पर सं. १८९ अंकित है। यह प्रतिमा कुषाणकाल की है। इसी प्रतिमा की दायीं ओर की वेदी में भगवान् पार्श्वनाथ की श्वेत पाषाण की प्रतिमा विराजमान है।[२०]

प्रयाग : प्रयाग के चाहचन्द मौहल्ला सरावगियान में पार्श्वनाथ पंचायती मंदिर है। इस मन्दिर का निर्माण नौवीं शताब्दी में हुआ था। इसमें स्लेटी वर्ण की भ. पार्श्वनाथ की मूलनायक प्रतिमा है।

पवा जी (पावागिरि) : ललितपुर जनपद में स्थित इस स्वर्णभद्र आदि ४ मुनियों की सिद्धभूमि के किनारे पावा पहाड़ी की तलहटी में भोंयरे में सं. १२९९ एवं १३४५ की श्यामवर्णी अतिशय मनोहर मूर्तियां भ. पार्श्वनाथ की विराजमान हैं। भ. पार्श्वनाथ की अतिशय युक्त मूर्ति के दर्शन से भक्तों की मनोकामनायें पूर्ण होती हैं।

महाराष्ट्र : महाराष्ट्र प्रान्त में भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति विशेष भक्ति भावना है। यहां की चमत्कारी मूर्तियां, उनके अतिशय, उनकी प्रभावना चतुर्दिक प्रशंसनीय हैं। भ. पार्श्वनाथ सम्बन्धी कुछ प्रमुख मूर्तियां एवं तीर्थ इस प्रकार हैं।

शिरपुर - अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ : अकोला जिला में स्थित यह तीर्थ अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ चोलवंशी नरेश श्रीपाल ने मंदिर का निर्माण कराया था जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ की भव्य मूर्ति है। किंवदन्ती है कि श्रीपाल का कुष्ठरोग यहीं दूर हुआ था। प्रतिमा अन्तरिक्ष में थी जिसके नीचे से एक घुड़सवार निकल जाता था।। मुगलकाल में मूर्ति

को भूगर्भ गृह में विराजमान कर दिया गया था। वर्तमान में इस प्रतिमा के नीचे से कागज या कपड़ा निकाला जा सकता है। यह मूर्ति पास के कुएं से निकाली गई थी।

अमीझरो पार्श्वनाथ–वाशिम : वाशिम में ७०० वर्ष प्राचीन भगवान् पार्श्वनाथ का विशाल मन्दिर है। कहते हैं कि इस मन्दिर पर अमृत बरसता है इसीलिए यह स्थान अमीझरो पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

असेगांव – चिन्तामणि पार्श्वनाथ : परभणी जिले में स्थित इस तीर्थ पर भ. पार्श्वनाथ की अतिशयकारी प्रतिमा है। यहाँ भक्त जन मनोकामना पूर्ति हेतु आते हैं।

उस्मानाबाद : उस्मानाबाद नगर से ५ कि.मी. दूर सुप्रसिद्ध ८ पर्वत गुफायें हैं। अनुश्रुति है कि भगवान् पार्श्वनाथ के संघ में चंपा के राजा करकुंड ने यहाँ पुरातन गुफा मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था। पुरातत्त्ववेत्ता इन गुहा मंदिरों के ५वी से ८वी शताब्दी में निर्मित मानते हैं। उत्तराभिमुख की कलात्मक गुफा में २ मीटर उत्तुंग भगवान् पार्श्वनाथ की अर्द्ध पद्मासन प्रतिमायें हैं। दक्षिणाभिमुख गुफाओं में भ. पार्श्वनाथ की केवल एक जीर्ण मूर्ति है।

विघ्नहर पार्श्वनाथ : आष्टा : उस्मानाबाद जिले में विघ्नहर पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र के रूप में विख्यात इस तीर्थ पर भगवान् पार्श्वनाथ की अतिशयकारी मूर्ति है जिसकी भक्ति से विघ्नों का नाश होता है। अत: भक्तजन इसे विघ्नहर पार्श्वनाथ कहते हैं। किंवदन्ती है कि लगभग ५०० वर्ष पूर्व मुस्लिम शासनकाल में जब मूर्तियों का निर्मम भंजन किया जा रहा था, इस मूर्ति की रक्षा हेतु इसे सन्दूक में बन्द करके ले जाया जा रहा था तब यहाँ से २ कि.मी. दूर दस्तापुर गाँव के बाहर बैलगाड़ी पहुँची तो वहाँ जा कर रुक गयी। उसी रात आष्टा गाँव की एक स्त्री को स्वप्न आया कि मूर्ति कहीं नहीं जायेगी अत: उसको वापिस लाया गया। इस प्रकार मूर्ति के चमत्कार को देख कर सभी ग्रामवासी इसके भक्त बन गये और इसे ग्रामदेवता मानने लगे।

कुण्डल-कलिकुण्ड पार्श्वनाथ : कुण्डल (सांगली जिले में स्थित) यह अतिशय क्षेत्र विख्यात है। यहाँ कलिकुण्ड पार्श्वनाथ जिनालय है। जिसमें मूलनायक भगवान् पार्श्वनाथ हैं। यहाँ के विषय में किंवदन्ती है कि इस नगर में सत्येश्वर नामक राजा राज्य करता था, जो बहुत बीमार रहता था उसका बहुत उपचार करने पर भी स्वास्थ्य में सुधार नहीं हुआ। यहाँ तक कि वह मरणासन्न दशा तक पहुँच गया तब उसकी रानी पदमश्री ने पत्थर जमा करके पार्श्वनाथ की मूर्ति तैयार करायी और बड़े भक्तिभाव से इसकी पूजा करने लगी। धीरे-धीरे राजा के स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और वह बिल्कुल ठीक हो गया। इससे राजा और प्रजा सभी इस चमत्कारी मूर्ति के भक्त बन गये। यह तभी से अतिशय सम्पन्न मूर्ति के रूप में प्रसिद्ध हुई।

यहाँ पंचामृताभिषेक की परम्परा है। कहते हैं कि इस मूर्ति के अभिषेक के लिये जिस गाँव से दूध आता था उसका नाम 'दुधारी' पड़ गया। जिस गाँव से कुम्भ (नारियल) आता था, उसका नाम 'कुम्भार' और जिस गाँव से फल आते थे उस गांव का नाम 'फलस' पड़ गया। ये गांव अब भी विद्यमान हैं और क्षेत्र के निकट ही हैं।

कुण्डल ग्राम से २ कि.मी. दूर पहाड़ी पर नैसर्गिक गुफा में भी भ. पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। इस क्षेत्र को झरी पार्श्वनाथ कहते हैं।

झरी पार्श्वनाथ से ४ कि.मी. पर्वत मार्ग पर आगे दूसरे पहाड़ गिरि पार्श्वनाथ पर सप्तफणी पार्श्वनाथ का मंदिर है।

गजपंथा (सिद्ध क्षेत्र) : नासिक से ६ कि.मी. दूर यह स्थान बलभद्र एवं ८ करोड़ मुनियों की निर्वाण भूमि है। यहां भ. पार्श्वनाथ की उत्खनन से प्राप्त अतिप्राचीन दस फुट चार इंच अवगाहनावाली ९ फणों से युक्त प्रतिमा है। एक अन्य हाथी पर सवार ६: फुट ऊँची पद्मावती के शीर्ष पर पार्श्वनाथ की मूर्ति है दूसरी ऐसी ही पद्मावती की मूर्ति सिंह पर आरूढ़ है। दूसरी गुफा में पार्श्वनाथ की तीन प्रतिमायें एक वेदी में विराजमान हैं। इन गुफाओं की लगभग ९०० वर्ष पूर्व मैसूर के महाराजा चामराज ने जीर्णोद्धार कराकर प्रतिष्ठा कराई थी।

ऐलोरा की गुफायें -औरंगाबाद से २९ कि.मी. दूर विश्व प्रसिद्ध ऐलोरा की गुफायें हैं जिनमें क्र. ३० से ३४ तक ५ गुफायें जैन गुफाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका निर्माण राष्टकूट और एलवंशी नरेशों ने (७वीं से १०वी शताब्दी तक) कराया था। इन गुफाओं में उत्कीर्ण भ. पार्श्वनाथ की भव्य मूर्तियों से उनकी प्राचीनता एवं जीवन का बोध होता है। ऐसी मूर्तियां एवं सम्बन्ध मूर्तियां जिन से उनकी विशेषतायें प्रकट होती हैं अन्य स्थानों पर दुर्लभ हैं। कुछ मूर्तियों का परिचय दृष्टव्य है।

३२ नं. गुफा में मुख्य मंदिर में मुख्य वेदी के बायीं ओर भ० पार्श्वनाथ की मूर्ति है जिसे पूरे सर्प ने पीछे चरणों से पांच वलय बनाये हैं, सात फण हैं, ऊपर दण्डयुक्त छत्र है। एक ओर यक्ष इन्द्रादि चँवर डुलाकर भक्ति कर रहे हैं दूसरी ओर धरणेन्द्र पद्मावती भक्ति कर रहे हैं। इसी गुफा में नीचे बायें पार्श्वनाथ की मूर्ति सप्त फण युक्त है। दोनों ओर ८ यक्ष हैं। देवगण *अर्चना करते ऊपर की ओर उत्कीर्ण हैं। कमल पर पार्श्वनाथ की मूर्ति है।*

३३ नं. गुफा में मुख्य वेदी के बायीं ओर पद्मासन युक्त भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति है फण सहित इस मूर्ति के पीछे भामण्डल एवं २४ तीलियों से युक्त चक्र है जो उनके धर्मचक्र एवं अतिशयता को मुखर कर रहा है। इसी गुफा के परिक्रमा भाग में सवा दो हाथ उतुंग ६ कुण्डलीयुक्त सर्प फणालंकृत पद्मासन युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति है। मुख्य दरवाजे के बायीं ओर यक्ष-यक्षिणी सहित पद्मासन मुद्रा में भ. पार्श्वनाथ विराजमान हैं। उसी के बायीं ओर २ हाथ उतुग खड़गासन पार्श्व प्रभु एवं बायीं ओर मुख्य दरवाजे पर खड़गासन पार्श्वनाथ विराजमान हैं।

३३ नं० गुफा के बायें भगवान् पार्श्वनाथ की पाँच हाथ उतुंग खड़गासन प्रतिमा है जो सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय है इस मूर्ति के पार्श्व में कमठ शंबर देव द्वारा उपसर्ग की भयावहता उत्कीर्ण की है। शेर पर सवार होकर त्रिशूल से प्रहार करते हुए चिंघाड़ते हुए रौद्र मुद्रा - दाँत दिखाते हुए शंबर देव मध्य में ध्यानस्थ पार्श्वप्रभु, सातफण से उपसर्ग निवारण, दण्डयुक्त त्रिछत्र का वैभव, ऊपर एक ओर अभय का प्रतीक हाथ, दूसरी

ओर हिंसा एवं विनाश का प्रतीक हाथ में घन (हथौड़ा) नीचे मूर्ति के बायीं ओर भक्ति की प्रसन्न मुद्रा में धरणेन्द्र और पद्मावती की मुद्रा उत्कीर्ण की गयी है। इस प्रकार की मूर्ति एवं चित्रण शिल्पियों के शिल्पज्ञान की पराकाष्ठा एवं जैनत्व विशेषकर भ. पार्श्व प्रभु के उपसर्ग एवं उपसर्ग निवारण के सम्यक् बोध का परिचायक है। इस दृश्य में धरणेन्द्र आगे एवं पद्मावती पीछे हैं, इससे जो लोग यह मानते हैं कि पद्मावती ने ही उपसर्ग दूर किया, इस तथाकथित धारणा का भी खण्डन हो जाता है।

३४ नं० की गुफा में बायीं ओर ३३ नं० की तरह ही मूर्ति भ. पार्श्व की अंकित हैं। नीचे से ऊपर सिर तक सर्प-फण, शेर का मुख सामने है। दोनों ओर से उपसर्ग होता दिखाई देता है जिसमें एक ओर भाले से एवं दूसरी ओर दण्ड से प्रहार किया जा रहा है। इस बीच भ. पार्श्व की दिव्य आभा युक्त मनोहारी मुद्रा परम शान्ति का उद्घोष करती हुई सी प्रतीत होती है।

इस प्रकार ऐलोरा की पार्श्व प्रतिमायें इतिहास बोध को कराने वाली, यथेष्ट छवि एवं संसार वैराग्य की छवियों को उत्कीर्ण करने वाली ऐतिहासिकता को उदघोषित करती हैं। पार्श्व प्रभु के प्रति ऐतिहासिक रुचि रखने वालों के लिए एक बार ऐलोरा की मूर्तिकला के अवश्य दर्शन करना चाहिए।

चिन्तामणि पार्श्वनाथ: कचनेर

औरंगाबाद नगर से ३५ कि.मी. दूर दक्षिण में महावीर जी के समान लोकप्रिय कचनेर तीर्थ है जहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति की अतिशयता अद्वितीय है। लगभग २५० वर्ष पूर्व भूगर्भ से प्राप्त यह मूर्ति एक बार धड़ से खंडित हो गयी थी किन्तु ७ दिन तक विशेष विधि से भूमि के अन्दर रखने के बाद निकालने पर जुड़ी हुई निकली। इस मूर्ति की विशेषता है कि किसी भी ओर से देखने पर देखने वाले की ओर हँसती हुई सी दिखाई देती है। मेले के समय यहाँ सैकड़ों लोग बम्बई, औरंगाबाद, इन्दौर, अकोला एवं आसपास के

स्थानों से पैदल चलते हुए आकर मान्यता मानते हैं। मूर्ति के चमत्कार से वे सब पूरी हो जाती हैं।

गुजरात

गुजरात प्रान्त में महुआ (जिला सूरत) में लगभग १००० वर्ष प्राचीन विघ्नहर पार्श्वनाथ की भव्य मूर्ति है जो भक्तों की मनोकामना पूर्ति करती है। सूरत और बड़ौदा रेलमार्ग पर स्थित अंकलेश्वर अतिशय क्षेत्र है जहाँ स्थित भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति चिन्ता मुक्ति दिलाती है। पावागढ़ सिद्ध क्षेत्र पर स्थित चिन्तामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा सं० १६६० में हुई थी।

अहमदाबाद से न्वड़ाली रेलवे स्टेशन के निकट भगवान पार्श्वनाथ की अतिशय प्रतिमा अभीझरों पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी मान्यता है कि पूजन के पश्चात् इस मूर्ति से अमृत झरता है।

राजस्थान

झालावाड़ जिले में डव्होल ग्राम स्थित नागेश्वर पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र है। यहाँ हरित वर्ण के ग्रेनाइट पाषाण की १४ फुट उतुग चमत्कारी नागेश्वर पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। ऐसी मान्यता है कि यह मूर्ति भगवान् पार्श्वनाथ के जीवनकाल में निर्मित एवं मरकतमणि से मण्डित थी और अहिच्छत्रनगरी के स्वर्ण मन्दिर में विराजमान थी। अतिराय क्षेत्र बिजौलिया (भीलवाड़ा) में भूगर्भ से प्राप्त भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा लोलार्क नामक श्रेष्टी द्वारा करायी गयी थी। एक मान्यता के अनुसार यहीं भ. पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ तथा केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। विद्वानों से विशेष अनुसन्धान की अपेक्षा है।भीलवाड़ा से ४५ कि.मी. दूर चूलेश्वर या चंवलेश्वर पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र है। पर्वत की चूल (चोटी) के गर्भ से प्राप्त भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा स्थानीय सेठ शाह श्याम ने संवत १००७ में करायी थी।

उदयपुर जिले में स्थित अणिन्दा पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र है यहाँ स्थित श्याम वर्ण युक्त यक्ष-यक्षिणी सहित पद्मासन प्रतिमा भगवान् पार्श्वनाथ की है जो संवत् १००० में निर्मित मानी जाती है।

ऋषभदेव से लगभग ६० कि.मी. दूर भौंदर नामक ग्राम की पहाड़ी पर नागफणी अतिशय क्षेत्र है। मंदिर में धरणेन्द्र पर विराजमान पार्श्वनाथ की लघुप्रतिमा है। भगवान् के शीर्ष पर सप्त फण हैं जिन में ३ खण्डित हैं। इस मूर्ति के चमत्कार से प्रार्थना करने पर गुमे हुए पशु भी मिल जाते हैं।

अन्देश्वर पार्श्वनाथ बांसवाड़ा जिले में स्थित अतिशय क्षेत्र है। भूगर्भ से प्राप्त, सप्तफणी यह मूर्ति एक शिलाफलक में है जिसके शीर्ष पर तीन छत्र एवं उसके ऊपर दुंदुभीवादक हैं। मन्दिर की प्रतिष्ठा १९९२ संवत में हुई थी।

जैसलमेर में सेठ जगधर द्वारा वि.सं. १२६३ में मूलनायक चिन्तामणि पार्श्वनाथ की प्रतिमा लोद्रवा से लाकर यहाँ प्रतिष्ठित की गई।

लोद्रवा पाटन अतिशय क्षेत्र जैसलमेर से १५ कि.मी. दूर है यहाँ सहस्त्रफणी पार्श्वनाथ की कसोटी पाषाण की भव्य चमत्कारी प्रतिमा के दर्शन से अपार शान्ति मिलती है।

श्वेताम्बर जैन तीर्थ नाकोड़ा पार्श्वनाथ में सं. १४२९ की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

बिहार

राजगृही में रत्नागिरि, उदयगिरि पर्वत पर भ. पार्श्वनाथ की प्राचीन प्रतिमायें हैं। गया से ६७ कि.मी. दूर कुलुहापहाड़ पर तालाब के निकट शिखरबंद जिनालय में भगवान् पार्श्वनाथ की ईसा की २ या ३ शताब्दी की प्रतिमा विराजमान है। यहाँ कोलेश्वरी देवी मंदिर के आगे प्राकृतिक गुफा में ९ फण वाली श्यामवर्ण की पार्श्वनाथ की मूर्ति है जो संभवतः १२वीं शताब्दी प्राचीन है। भागलपुर में भ. पार्श्वनाथ की बड़ी मनोज्ञ अतिशयकारी प्रतिमा है जो संभवतः १९२९ संवत के आसपास प्रतिष्ठित है। सम्मेद शिखर

भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण क्षेत्र है जहाँ भ. पार्श्वनाथ टोंक पर उनकी दिव्य मूर्ति प्रतिष्ठित है।

मध्य प्रदेश

गोपाचल (ग्वालियर) की विशाल पद्मासन पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति, खजुराहो में सं. १९१७ में प्रतिष्ठित भ. पार्श्वनाथ, बजरंगगढ़ (गुना) में श्री झीतू शाह द्वारा निर्मित मंदिर में भ. पार्श्वनाथ, चन्देरी में निर्मित चौबीसी में (जहाँ प्रत्येक तीर्थंकर की वर्ण के अनुसार मूर्ति है) लाला सवाई सिंह द्वारा संवत् १८९३ में सोनागिरि के भट्टारक हरिचंद के निर्देशन में प्रतिष्ठित भ. पार्श्वनाथ, रेशन्दीगिरी (नैनागिरी) जहाँ भ. पार्श्वनाथ का समवशरण आया था, यहाँ सं. २४७८ में प्रतिष्ठित भूरे पाषाण की १६ फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा विराजमान है। पिसनहारी की मढ़ियाजी में वर्णानुसार वि.सं. ९५९ में प्रतिष्ठित भ. पार्श्वनाथ, विदिशा से ३ कि.मी. दूर स्थित उदयगिरि अतिशय क्षेत्र पर प्राकृतिक गुफा नं. २० में सन् ४२६ ईसवी में गुप्तकाल में श्रेष्ठि शंकर द्वारा निर्मित करायी गयी भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति है। मक्सी क्षेत्र तो पार्श्वनाथ के कारण है। अत्यन्त श्रद्धा का केन्द्र बना है। पिछोर संग्रहालय में छठी शताब्दी ई. पू. में करन्दक नरेश द्वारा स्थापित दो पार्श्वनाथ की प्रतिमायें संग्रहीत हैं।

तमिलनाडु

तमिलनाडु में भी भ. पार्श्वनाथ के प्रति विशेष भक्ति रही है। कांचीपुरम्, तिरुनरं कोंड्रम अतिशय क्षेत्र में भ. पार्श्वनाथ की प्राचीन मूर्तियां हैं।

मेलसिरैमूर अतिशय क्षेत्र में पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति पीठ सहित चाँदी की है ऐसी मूर्ति विश्व में अन्यत्र नहीं है। नगरम् नेत्तपाक्म अतिशय क्षेत्र में धातु की विशाल प्रतिमा भ. पार्श्वनाथ की है। पुंडी, नरकोइल में अष्ट प्रतिहार्य और यक्ष-यक्षिणी सहित साक्षात् गन्धकुटी का स्मरण दिलाने वाली पार्श्व प्रभु की मूर्ति, तिरुनारं कोन्ड्रम अतिशय क्षेत्र पर गुफा द्वार के आगे

उन्नत चट्टान पर गंधकुटी में विराजमान सदृश पार्श्व प्रभु की मूर्ति तथा ढाई हजार वर्ष प्राचीन मंदिर में भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति नावल, वल्ले, वोलिय, मल्लूर में है।

केरल

कल्लिन-सुल्तान बेटरी में प्राकृतिक गुफा में भगवान् पर्श्वनाथ का बिम्ब है।

कर्नाटक

कर्नाटक जैन मूर्ति कला एवं जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र राज्य रहा है। यहाँ के हलेविड-द्वारसमुद्रम् में सन् ११३३ में महाराज विष्णु वर्द्धन के सेनापति बोध द्वारा निर्मित "विजय पार्श्वनाथ वसदि" में १४ फुट उत्तुंग भगवान् पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा प्रतिष्ठित है। धर्मस्थल में हेगड़े निवास के जिनालय के ऊपर की मंजिल में स्वर्ण निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा, मूडविद्री के गुरूवसदि में सन् ७१४ में प्रतिष्ठित भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा, जैनमठ वसदि में मूलनायक पार्श्व प्रतिमा, हुम्मच पद्मावती, कुंदाद्रि पर्वत, वरंग, कारकल, स्तवनिधिन्तावन्दी अतिशय क्षेत्र, बादामी, कमठान : भूमिगत पार्श्वनाथ आदि के मन्दिरों में भ. पार्श्वनाथ की उत्कृष्ट मूर्तियां हैं।

बीजापुर में सहस्त्र फणी पार्श्वनाथ (५ फुट ऊंची), अन्य दो प्रतिमायें भी पार्श्व की है। यहाँ की मूर्ति की विशेषता अद्वितीय है क्योंकि सातफणों वाली पार्श्वनाथ प्रतिमा के केश भी दिखाये गये हैं। यह प्रतिमायें १०वी से १४वी शताब्दी के मध्य की हैं।

पंजाब

अमृतसर में विश्वप्रसिद्ध स्वर्ण मन्दिर गुरूद्वारा के सामने स्थित जैन मंदिर में ३०५ वर्ष प्राचीन डेढ़ फुट ऊँची, मुंगई रंग की सहस्त्रफणी भ. पार्श्वनाथ की दिव्य प्रतिमा है। यह मूर्ति अत्यन्त चित्ताकर्षक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत वर्ष के कोने-कोने, मन्दिर-मन्दिर में भ. पार्श्वनाथ की मूर्तियों का वैभव बिखरा हुआ है उनका वैशिष्ट्य संक्षिप्त में इस प्रकार आँक सकते हैं।

१. भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियां सात फण से लेकर सहस्त्रफण से युक्त हैं।

२. सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में सर्वाधिक चमत्कारी, अतिशयकारी, मनोवांछित फल देने वाली मूर्तियों के रूप में ख्याति अकेले भ. पार्श्वनाथ की मूर्तियों की है जो उनके जन-जन, में लोकप्रियता का प्रमाण है।

३. भगवान् पार्श्वनाथ की उपलब्ध मूर्तियों में उनके जीवनकाल में बनी मूर्तियों से लेकर अद्यावधि निर्मित हो रही हैं।

४. भ. पार्श्वनाथ की अधिकांश मूर्तियां उनके अखण्ड ध्यान, उपसर्ग के प्रति परम धैर्य एवं अपार वात्सल्य की सूचक है।

५. भ. पार्श्वनाथ की प्रतिमायें इस बात की सूचक हैं कि सज्जनों की साधना दुर्जनों के कोप से बिनष्ट नहीं हो सकती बल्कि परम ध्येय को प्राप्त कराने में समर्थ होती हैं।

६. भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति के समक्ष चिन्हित अभयहस्त, चक्र, मण्डल आदि निर्भयता, प्रगति की सूचना देते हैं।

७. भ. पार्श्वनाथ की मूर्तियों पर दिखाये जाने वाला उपसर्ग उनकी प्रबल वीरता, धीरता एवं क्षमाशीलता का सूचक है। जो यह संदेश भी देती हैं-कि शत्रु को क्षमा के माध्यम से ही परास्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि क्षमा के प्रभाव से दुष्टों में भी अहिंसा, क्षमा एवं अपनत्व के संस्कार पड़ते हैं।

अन्त में मैं यही कहूंगा कि हम इस मूर्ति वैभव की धरोहर का संरक्षण करें ताकि आने वाली पीढ़ियां पार्श्वप्रभु के संस्कारों को शिरोधार्य एवं हृदयग्राह्य कर सकें।

श्री पार्श्वनाथाय नमः ।

संदर्भ

१. स्वयम्भू स्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र

२. डॉ. हर्मन याकोबी 'स्टडीज इन जैनिज्म' संख्या - १, पृ. ६

३. कविवर बनारसी दास : नाटक समयसार

४. कविवर बनारसी दास : अर्धकथा, ८९-९१

५. कविवर बनारसी दास : अर्धकथा.

६. डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन : कविवर बनारसी दास (जीवनी और कृतित्व), पृ. ८९

७. डॉ हीरा लाल जैन: भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ ३४२

८. वही, पृ. ३४४

९. वही, पृ. ३४५

१०. वही, पृ. ३४७

११. अजितकुमार जैन : जैनकलातीर्थ, गोपाचल (लेख) 'स्याद्वादज्ञानगंगा' मासिक पत्रिका (सोनागिर) जुलाई ८४, पेज-२७

१२. क. वही, पेज २६
ख. रामजीत जैन : ग्वालियर गौरव गोपाचल, पृ. २२,३९

१३. क. तिलोयपण्णत्ति : आ. यतिवृषभ ४/५४८
ख. आवश्यक निर्युक्ति, ३८८
ग. रइधू : पासणाहचरिउ १/१०, २/१
घ. उत्तरपुराण, ७३/७५

१४. डॉ. बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, प्रथम भाग,पृ. १२७

१५. डॉ. रमेश चन्द्र जैन : अहिच्छत्रा की पुरा सम्पदा, पृ. १७

१६. जैन डायरी - तीर्थदर्शन - विमलचन्द्र जैन, पृ. ६३

१७. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, प्रथम भाग, पृ. १०४

१८. वही, पृ. ९१

१९. वही, पृ. ३४

२०. वही, पृ. ५६

तीर्थंकर पार्श्वनाथ : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

– डॉ० प्रेमचन्द्र जैन*

श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों संस्कृतियों के स्रोत, उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम ऋग्वेद में सुलभ हो जाने के बावजूद भगवान् महावीर स्वामी को ही विविध पाठ्यक्रमों में आज भी जैन-धर्म का प्रवर्तक घोषित किए जाते रहना दुर्भाग्यपूर्ण है। जब कि विश्वसनीय जैनागमों के अनुसार सृष्टि के आदि नियामकों में ऋषभदेव/आदिनाथ जैनों के प्रथम तीर्थंकर थे। दरअसल हम और हमारे पूर्वजों द्वारा इतिहास की संरक्षा न कर पाने से वर्तमान स्थिति सामने आई है। परिस्थितियां जो भी रही हैं उनमें उलझना समय को नकारना होगा। हमें समस्त विवादों को पीछे छोड़कर अपनी ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत का संरक्षण करना अपेक्षित ही नहीं आवश्यक भी हो गया है। जहां एक ओर उपलब्ध साहित्यैतिहास की सुरक्षा का प्रबन्ध हो, वहीं अनुपलब्ध इतिहास की पूर्वापर कड़ियां जोड़ने का अपूर्व प्रयत्न जारी रहे तो संभव है कि श्रमणों के श्रम का इतिहास उजागर हो जाए। इस दिशा में समाज के कर्णधारों, शोधार्थियों एवं विद्वानों में जागृति का संचार और सामञ्जस्य स्थापित होना बहुत ही शुभ संकेत है।

जैन-सिद्धान्तानुसार प्रत्येक कल्प में २४ तीर्थंकर होते हैं[१]। यह अद्भुत संयोग और साम्य है कि बौद्ध धर्मानुयायी भी २४ बोधिसत्व तथा सनातन धर्मी २४ अवतार स्वीकार करते हैं। श्री पार्श्वनाथ जैनों के २३वें तीर्थंकर हैं और शिलापटों, प्राकृत, संस्कृत, पालि, हिन्दी आदि साहित्यिक कृतियों में उत्कीर्णित-अंकित प्रमाणों के आधार पर असंदिग्धरूप से ऐतिहासिक शलाका पुरुष हैं। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के ऐतिहासिकता की कड़ी भी

* रीडर, हिन्दी विभाग, साहू जैन कालेज, नजीबाबाद

इस श्रृंखला में प्रामाणिक बन चुकी है। यह नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे। इनके पिता द्वारिकाधीश महाराज समुद्रविजय थे[२]। उत्तराध्ययन, समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति में २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का जन्म स्थान शौरीपुर माना गया है[३]। इनके रथनेमि नामक अन्य भाई का उल्लेख भी मिलता है[४]। विदेशी विद्वान डॉ. फुहरर ने इन्हें ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार किया है।[५] नारायण कृष्ण महाभारत कालीन हैं, और नेमिनाथ या अरिष्टनेमि श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। महाभारत निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक ग्रन्थ है। अतएव जैनों के २२वें तीर्थंकर की ऐतिहासिकता में संदेह नहीं रह गया है। मेरे लेख का मूल विषय तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता पर विचार एवं प्रामाणिक आधार प्रस्तुत करना है। यद्यपि साहित्यिक रुचि वाले अध्येता को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के गणितीय हिसाब-किताब से जूझना दुष्कर कार्य है तथापि मैं पूर्व अभिलेखों, आगम ग्रन्थों, जैन साहित्य के इतिहासों, शोध-ग्रन्थों, चरित काव्यों आदि से तिथियों को संजोने की चेष्टा कर रहा हूं।

जैन अनुश्रुतियों के आधार पर इस कल्पकाल से पहले भी भोगभूमि थी। इस में जीवनयापन करने के लिए कर्म करने की आवश्कता नहीं थी। कल्पवृक्ष सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते थे। युगल उत्पन्न होते थे। वे सहचर के रूप में रहते थे। भोगभूमि में सन्तान युगल के उत्पन्न होते ही माता-पिता युगल मर जाते थे। कोई समस्या नहीं थी। कालगति आगे बढ़ी और भोगभूमि की व्यवस्था क्षीण हुई तो जीवन सम्बन्धी आवश्यकताऐं मुंह बाए सामने आ गई। अतएव भोगजीवन से कर्म जीवन का श्रीगणेश हुआ। यह भी अनुश्रुति है कि कर्मजीवन से सम्बन्धित समस्त शिक्षाओं, उपायों को बताने-सिखाने के लिए इसी काल में क्रमशः १४ मनु या कुलकर उत्पन्न होते हैं। यही लोक की समस्त व्यवस्थाएं जमाते हैं। अन्तिम कुलकर नाभिराय नामक राजन थे। इनकी युगल सहचरी का नाम मरुदेवी था। हमारे प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ, ऋषभदेव या वृषभदेव उक्त श्री नाभिराय के पुत्र थे। गांव-नगर आदि की बसावट इन्हीं के काल से हुई। इनकी एक पुत्री का नाम ब्राह्मी और दूसरी का सुन्दरी था

अक्षराभ्यास के लिए इन्होने लिपि बनाई जिसका पुत्री ब्राह्मी के नाम से नामकरण दिया। इसी ब्राह्मी लिपि से ही आज की नागरी लिपि का विकास हुआ है। इनके पुत्र का नाम भरत था जिनके नाम से हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में समाज व्यवस्था को सुदृढता प्रदान करने के लिए प्रजा का कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन करके त्रिवर्ण की स्थापना की। ऋषभदेव के मुनि हो जाने के बाद भरत चक्रवर्ती ने इन्हीं तीन वर्णों में से व्रत और चारित्र धारण करने वाले सुशील व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्ण बनाया। इसका आधार केवल व्रत-संस्कार था। इस प्रकार कर्मभूमि व्यवस्था का अग्र सूत्रधार ऋषभदेव ही ठहरते हैं। संभवत: इसीलिए इन्हें आदिब्रह्मा या आदिनाथ भी कहते हैं। समाज में शान्ति स्थापन के लिए इन्होंने 'धर्मतीर्थ' का भी प्रवर्तन किया। अन्तत: इन्होंने राजकाज से मुक्त हो साधनापंथ अंगीकार किया और निर्ग्रन्थ मार्ग के अनुसरणपूर्वक कैवल्य प्राप्त किया। अतएव जैनों के आदि धर्म-प्रवर्तक ऋषभदेव ही हैं[६]। जैनेतर कतिपय लोग भ्रमवश अथवा विद्वेषवश हमारे अंतिम २४वें तीर्थंकर महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक कहने लगे हैं, जो उचित नहीं है।

"संसार सागर को स्वयं पार करने वाले तथा दूसरों को पार कराने वाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। .... उनके गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञानोत्पत्ति व निर्वाण इन पांच अवसरों पर महान उत्सव होते हैं जिन्हें पंचकल्याणक कहते हैं। तीर्थंकर बनने के संस्कार षोडशकारणरूप अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे तीर्थंकर प्रकृति का बंधना कहते हैं। ऐसे परिणाम केवल मनुष्य भव में और वहां भी किसी तीर्थंकर या केवली के पादमूल में ही होने संभव हैं। ऐसे व्यक्ति प्राय: देवगति में ही जाते हैं। फिर भी यदि पहले से नरकायु का बंध हुआ हो और पीछे तीर्थंकर प्रकृति बंधे तो वह जीव केवल तीसरे नरक तक ही उत्पन्न होते हैं, उससे अनन्तर भव में अवश्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं"।[७]

"जिनके ऊपर चन्द्रमा के समान धवल चौंसठ चमर ढुरते हैं, ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामी को श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते है"।[८]

"संसार से पार होने के कारण को तीर्थ कहते हैं, उसके समान होने से आगम को तीर्थ कहते हैं उस आगम के कर्त्ता को तीर्थंकर कहते हैं[९]"। किंबहुना, विस्तृत, विशद और प्रामाणिक अध्ययन हेतु चिन्तक मनीषी विद्वान श्री जिनेन्द्र वर्णी के जैनेन्द्र कोश के भाग दो पृ. ३७३ को आधार बनाना उचित होगा।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। पूर्व में लिखा जा चुका है, प्रत्येक कल्प में २४ तीर्थंकर होते हैं। कालक्रम से श्री पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर हैं। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही जैन आम्नायों के अनुयायी पार्श्व प्रभु को विशेष महत्तां देते हैं। इनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामा देवी था। अश्वसेन वाराणसी के राजा थे। इन्हीं के गृह वामा देवी की कुक्षि से पार्श्व कुमार का जन्म हुआ था।[१०] महाकवि रइधु ने भी इन्हीं नामों का उल्लेख किया है।[११] कई अन्य ग्रन्थों में माता-पिता के नामों में अन्तर भी मिलता है। लेकिन उक्त वामा और अश्वसेन को ही मान्यता प्राप्त है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का विस्तार से उल्लेख मिलता है, "पार्श्वनाथ पूर्व के नवमें भव में विश्वमूर्ति ब्राह्मण के घर में मरुभूति नामक पुत्र थे।... फिर वज्रघोष नामक हाथी हुए। वहां से सहस्रार स्वर्ग में देव हुए। फिर पूर्व के छठवें भव में रश्मिवेग विद्याधर हुए तत्पश्चात् अच्युत स्वर्ग में देव हुए। वहां से च्युत हो वज्रनाभि नाम के चक्रवर्ती हुए। फिर पूर्व के तीसरे भव में मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए। फिर आनन्द नामक राजा हुए। वहां से प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हुए। तत्पश्चात् वहां से अच्युत होकर वर्तमान भव में २३वें तीर्थंकर हुए"।[१२]

इस तथ्य से विद्वान सहमत होंगे कि किसी भी महापुरुष की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए अभिलेखीय अथवा साहित्यिक प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में दोनो ही प्रकार के साक्ष्यों की कमी नहीं है। जैन साहित्य की पूर्व पीठिका (इतिहास) में पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता पर विचार करते हुए जैन साहित्येतिहास के मर्मज्ञ श्रद्धेय पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने डॉ. हर्मन जेकोबी एवं बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त तथ्यों का उद्घाटन करते हुए निष्कर्ष दिया है कि "त्रिपिटकों के उल्लेखों से यह प्रमाणित होता

है कि बुद्ध के बाल्यकाल में भी निर्ग्रन्थ श्रावक विद्यमान थे तथा बुद्ध पार्श्वनाथ के चातुर्याम से न केवल परिचित थे किन्तु उन्होंने उसे ही विकसित करके अपने अष्टांगिक मार्ग का निर्धारण किया था। और उनके समय में पार्श्वनाथ के अनुयायी निर्ग्रन्थ वर्तमान थे।"[१३] नागपुर विश्वविद्यालय में पालि एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर ने 'जैनिज़्म इन बुद्धिस्ट लिट्रेचर' शीर्षक अपने शोध-ग्रन्थ में निगंठनाथ पुत्र भगवान् महावीर से तीर्थंकर पार्श्वनाथ को २५० वर्ष पूर्व का स्वीकार किया है।[१४] इनका वंश उग्र और माता वामा तथा पिता अश्वसेन एवं उनके अन्य नामों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। अनेक पालि ग्रन्थों के साक्ष्यों को देकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता पर विस्तृत प्रकाश डाला है।[१५] श्री अहिच्छत्र-पार्श्वनाथ पुस्तिका के सम्पादक श्री जिनेन्द्र सेवक ने पार्श्वनाथ से सम्बन्धित कुछ तिथियों का उल्लेख इस प्रकार किया है।

१. लगभग ८७७ वर्ष ई.पू. वाराणसी नगरी में जन्म
२. लगभग ८४७-४८ वर्ष ई.पू. श्रमण मुनि दीक्षा, अहिच्छत्र आगमन, केवल-ज्ञान प्राप्ति, हस्तिनापुर में पावन विहार
३. लगभग ८४७ से ७७७ वर्ष ई.पू. भारत के विविध महाजनपदों में जैन धर्म का प्रचार
४. लगभग ७७७ वर्ष ई.पू. सम्मेद शिखर से मोक्ष प्राप्ति[१६]

२३वें तीर्थंकर की प्रसिद्धि एवं ऐतिहासिकता के साक्ष्य के रूप में प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में रचित चरित काव्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है।[१७] डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन ने 'पासणाहचरिउ : एक समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध सन् १९८८ ई. में प्रस्तुत किया था। महाकवि रइधु के उक्त चरित काव्य के कथानक को लेकर डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने उल्लेखनीय शोध कार्य किया है। उन्हों ने जैन शास्त्रों के प्रमाणानुरूप पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पूर्व बीत जाने पर महावीर का जन्म हुआ माना है। वीर-निर्वाण संवत् और ईसवी सन् में ५२७ वर्ष का अन्तर है। जैन शास्त्रानुसार अन्तिम तीर्थंकर महावीर की सम्पूर्ण आयु कुछ कम ७२ वर्ष की थी। इस प्रकार

५७७+७२=५९९ वर्ष ई.पू. में महावीर का जन्म सिद्ध होता है। भगवान् महावीर के जन्म के २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५९९+२५०=८४९ वर्ष ई.पू. श्री पार्श्वनाथ का निर्वाण समय है।[१८] भगवान् पार्श्वनाथ ने १०० वर्ष की आयु प्राप्त की थी। इनका कुमार काल ३० वर्ष का था। वास्तव में वर्तमान २४ तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों, माता-पिता, वंश, वर्ण, शरीर, काल, विहार आदि से सम्बन्धित विविध आगम ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों को मनीषी जिनेन्द्र वर्णी जी ने जैनेन्द्र कोश में एक स्थान पर गुम्फित करके किसी भी तीर्थंकर की ऐतिहासिक खोज को बहुत आसान बना दिया है। मैं उस चार्ट की छाया प्रति इस लेख के साथ नत्थी कर रहा हूँ।[१९] विद्वज्जन उसे अन्यथा नहीं लेंगे। मैंने यह देखा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जिन-जिन प्रामाणिक ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है उन सभी का क्रमशः एक स्थान पर संयोजन कर दिया गया है। उस से शोधार्थियों का काम बहुत आसान हो गया है। एक अन्य स्रोत से प्राप्त विवरण भी प्रस्तुत है।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी

१. गर्भ कल्याणक

नाम : श्री पार्श्वनाथ,पूर्व जन्म : अनन्त स्वर्ग (प्राणत स्वर्ग)

पिता का नाम : श्री अश्वसेन (विश्वसेन) महाराज, वंश - उग्र (उरग या इक्ष्वाकु) वंश, गोत्र : काश्यप, माता का नाम : महारानी वामा देवी (ब्राह्मी), जन्म नगरी : काशी (वाराणसी), देश : भारत खण्ड, काशी देश, गर्भ तिथि : वैशाख कृष्ण २, गर्भ नक्षत्र : विशाखा, गर्भ समय : पिछले पहर रात्रि।

२. जन्म - कल्याणक

जन्म तिथि : पौष कृष्ण ११, जन्म समय : अनिला योग, जन्म नक्षत्र: विशाखा, जन्म राशि : कुम्भ, जन्म : ईसा से ८७७ वर्ष पूर्व, रंग:इन्द्र नील प्रभा पञ्च (हरित वर्ण) छोटे धान के पौधे के समान, चिन्ह (लांछन)

: नाग (सर्प), कुमार काल : ३० वर्ष, राज भोग नहीं किया, कुमार श्रमण हुए और जन्म से मति, श्रुति, अवधि तीन ज्ञान के धारी थे।

३. तप कल्याणक

वैराग्य का निमित्त कारण : जाति स्मरण होना, दीक्षा तिथि : पौष कृष्ण ११, दीक्षा समय : पूर्वाहन्, दीक्षा नक्षत्र : विशाखा, दीक्षा पालकी: विमला, दीक्षा वृक्ष: धवल, दीक्षा नगर : वाराणसी, दीक्षा वन: अश्व वन, पारायण नगर : सेठपुर (गुलम खेट या द्वारावती), आहार देने वाले का नाम : धान्यसेन, आहार : दूध की खीर, कितने राजाओं के साथ दीक्षा ली: ३००, केवल ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व अहिछत्र मे तोले (३) का उपवास धारण किया।

४. ज्ञान कल्याणक

केवल ज्ञान की तिथि : चैत्र कृष्ण ४, समय : पूर्वाह्न, नक्षत्र: विशाखा, वन उद्यान : काशी, वृक्ष : शाल वृक्ष, केवल ज्ञान का स्थान : वर्तमान अहिछत्र, गणधरों की संख्या : १०, मुख्य गणधर :स्वयंभु, मुख्य अर्जिका का नाम : सुलोचना, मुख्य श्रोता का नाम : अजित, यक्ष का नाम: धर्णेन्द्र, यक्षिणि का नाम : पद्मावती, समवशरण विस्तार : सवा योजन (पांच कोस), मोक्ष प्राप्ति से एक माह पर्व विहार बन्द किया।

केवल अवस्था का काल प्रमाण : ६ माह कम ७० वर्ष।

५. मोक्ष कल्याणक

निर्वाण तिथि : श्रावण शुक्ल ७, निर्वाण समय : पूर्वाह्न, नक्षत्र : विशाखा, निर्वाण स्थान : श्री सम्मेद शिखर जी, निशिष्ट स्थान : स्वर्ण भद्रकूट, आसन निर्वाण : कायोत्सर्ग (खड़गासन), आयु : १०० वर्ष, मोक्ष प्राप्ति : ईसा से ७७७ वर्ष पूर्व, पदवी धारक : जन्म से मति, श्रुति, अवधि, तीन ज्ञान के धारी तथा बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर, काया की ऊंचाई: नौ हाथ, शेष मन : पर्यय ज्ञान एवं केवलज्ञान इस प्रकार पांचो ज्ञान के धारी

अर्हन्त, सर्वज्ञ, सिद्ध परमात्मा हुए। उनके साथ ही साथ ३० सिद्ध और भी गए।

भगवान् के समक्ष शिष्यों की संख्या

सामान्य केवलियों की संख्या १००० पूर्व धारियों की संख्या ३५०, शिक्षक संख्या १०९००, विपल मति पर्यय ज्ञानी ७५०, विक्रिया ऋद्धि धारी १००० अवधि ज्ञानियों की संख्या १४००, वादी संख्या ६००, आर्जिकाओं की संख्या ३८०००।

महा पुरुष

१. २२वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के बाद २३वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के अन्तराल काल में जैन परम्परा के १२वें चक्रवर्ती श्री ब्रह्मदत्त हुए हैं। श्री ब्रह्मदत्त की माता का नाम : चूला देवी तथा पिता का नाम : ब्रह्मरथ, जन्म पुरी : काम्पिल नगर (दक्षिणी पांचाल), आयु : ७०० वर्ष। कुछ पुराणों तथा विद्वानों के कथनानुसार श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के काल में श्री ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का शासन बतलाया जाता है।

२. भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल में २२वें कामदेव नाग कुमार हुए हैं जो कैलास पर्वत से सिद्ध हुये।

समस्त प्रमाणों के आधार पर यह तथ्य निकालना असंगत नहीं होगा कि जैनों के २३वें तीर्थंकर ऐतिहासिक हैं। उन्हों ने १०० वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त करने के बाद लगभग २८४५ वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार उनकी जन्म-तिथि २९४५ वर्ष पूर्व ठहरती है। जैसा कि मैंने पूर्व में इतिहास विषय में अल्पज्ञता स्वीकार की थी, अंत में भी वही स्थिति है। मैं नहीं जानता ग्रन्थों से सन्दर्भ जुटाने में कहां क्या चूक हुई है। विद्वानों से निवेदन है कि वे भूल सुधारने में मेरी सहायता कर मार्गदर्शन करेंगे।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता - वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

– डॉ. अशोक जैन*

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व अत्यंत विशाल एवं प्रभावक था। उनके सिद्धान्त सर्वथा व्यावहारिक थे। अपने उपदेशों में उन्होंने अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह पर अधिक बल दिया था। उन्होंने संपूर्ण भारत में अहिंसा का प्रचार-प्रसार किया। इतिहासकारों ने उनके धर्म के संबंध में लिखा है कि इतने प्राचीन काल में अहिंसा को सुव्यवस्थित रूप देने की कला भगवान् पार्श्वनाथ में थी।

ऐसा कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के जीवन पर तो भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम की ही गहरी छाप पड़ी। यह चातुर्याम थे - १. सर्व प्राणातिपात विरति (सव्वाओ पाणाइवायओ वे रमणं), २. सर्व मृषावाद विरति (सव्वाओ मुसावायओ वे रमणं), ३. सर्व अदत्तादान विरति (सव्वाओ अदत्ता दाणअ वे रमणं), ४. सर्व वहिरादान विरति (सव्वाओ वहिद्ददाणाओ वे रमणं) ये चार वृत थे (ठाणांग २०१ अ.)।

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पार्श्वनाथ उग्रवंश के थे। उत्तरपुराणकार उन्हें काश्यप गोत्री बताते हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने जिन चार वंशों की स्थापना की थी उनमें एक उग्रवंश भी था। काशी के महाराज अकंपन को यह वंश दिया गया था। मूलतः तो यह इक्ष्वाकु वंश ही था। ऋषभदेव स्वयं इक्ष्वाकुवंश के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि चारो वंश इक्ष्वाकु वंश के ही भेद थे।

---

* उपाचार्य, वानस्पतिकी अध्ययनशाला, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म. प्र.)

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता - वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

– डॉ. अशोक जैन*

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व अत्यंत विशाल एवं प्रभावक था। उनके सिद्धान्त सर्वथा व्यावहारिक थे। अपने उपदेशों में उन्होंने अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह पर अधिक बल दिया था। उन्होंने संपूर्ण भारत में अहिंसा का प्रचार-प्रसार किया। इतिहासकारों ने उनके धर्म के संबंध में लिखा है कि इतने प्राचीन काल में अहिंसा को सुव्यवस्थित रूप देने की कला भगवान् पार्श्वनाथ में थी।

ऐसा कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के जीवन पर तो भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम की ही गहरी छाप पड़ी। यह चातुर्याम थे - १. सर्व प्राणातिपात विरति (सव्वाओ पाणाइवायओ वे रमणं), २. सर्व मृषावाद विरति (सव्वाओ मुसावायओ वे रमणं), ३. सर्व अदत्तादान विरति (सव्वाओ अदत्ता दाणअ वे रमणं), ४. सर्व वहिरादान विरति (सव्वाओ वहिद्ददाणाओ वे रमणं) ये चार वृत थे (ठाणांग २०१ अ.)।

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पार्श्वनाथ उग्रवंश के थे। उत्तरपुराणकार उन्हें काश्यप गोत्री बताते हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने जिन चार वंशों की स्थापना की थी उनमें एक उग्रवंश भी था। काशी के महाराज अकंपन को यह वंश दिया गया था। मूलतः तो यह इक्ष्वाकु वंश ही था। ऋषभदेव स्वयं इक्ष्वाकुवंश के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि चारो वंश इक्ष्वाकु वंश के ही भेद थे।

---

* *उपाचार्य, वानस्पतिकी अध्ययनशाला, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म. प्र.)*

लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म बनारस (वाराणसी) नगरी में भ. महावीर के लगभग २५० वर्ष पूर्व हुआ था।

प्रस्तुत शोध पत्र में कुछ वनस्पतियों के आधार पर वैज्ञानिक तथ्यों को उद्धृत किया गया है। इन वृक्षों से भ. पार्श्वनाथ के जीवन का अटूट संबंध रहा है। कुछ प्रमाण उनसे संबंधित क्षेत्रों को लेकर भी प्रस्तुत किये गये हैं।

संवर देव का उपसर्ग

पुराणों में वर्णन आता है कि भगवान् को दीक्षा लिये हुये चार माह व्यतीत हो गये थे। जिन वन में दीक्षा ली थी उसी वन में वह देवेदारु वृक्ष के नीचे विराजमान हुये थे। 'देवदारु' के वृक्ष उत्तर-पश्चिम, उत्तर-पूर्व एवं मध्य हिमालय एवं उसके तलहटी के क्षेत्रों में बहुतायत से पाये जाते हैं। यदि लगभग ३००० वर्ष पूर्व की जलवायु पर दृष्टिपात करें एवं 'देवदारु' एवं अन्य नग्नबीजा वर्ग के वृक्षों के इतिहास को अवलोकित करें तो ज्ञात होता है कि यह वृक्ष उस समय उ.प्र. एवं बिहार के हिमालय से लगे हुये मैदानी भागों में भी उत्पन्न होते थे। अतः भगवान् ने तप हेतु हिमालय क्षेत्र से लगा हुआ ही ऐसा कोई स्थान चुना होगा जहां पर्वत श्रेणियां भी रही होंगी एवं देवदारु वृक्ष भी।

'देवदारु' के वृक्ष का लेटिन नाम 'Cedrus deodar' है। यह विशाल वृक्ष सैकडों फीट ऊंचे होते हैं। वृक्ष का आकार शंकु की तरह का होता है। इस वृक्ष की पत्तियां पतली, नुकीली एवं सींक के आकार की होती हैं। इस वृक्ष की लकड़ी अत्यंत मजबूत एवं फर्नीचर इत्यादि बनाने में प्रयुक्त होती है। इस वृक्ष से 'देवदारु' तेल' (Cedarwood Oil) भी प्राप्त किया जाता है जो कि अनेक प्रकार की सामग्री बनाने में प्रयुक्त होता है।

संवर देव द्वारा किये गये उपसर्ग में यह भी वर्णन आता है कि उसने प्रचन्ड वेग से पवन को प्रवाहित किया। इसका वेग इतना प्रबल था कि वृक्ष एवं पर्वत भी उड़ने लगे। अतः यहां भी प्रतीत होता है कि वह स्थान कोई पर्वतीय स्थल रहा होगा तभी पर्वत उड़ने की बात कही गई है। वैसे अगर

उ.प्र एवं बिहार के मैदानी भागों का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि वहां का अधिकांश भाग गंगा की बहाई हुई जलौढ़ मिट्टी का बना हुआ है, जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व का ही निर्मित हुआ भाग है। जहां तक संवर ने पत्थर बरसाने का उपसर्ग किया सो पर्वतीय क्षेत्रों में ही पत्थरों की बहुलता होती है। यह तथ्य अलग है कि चूंकि संवर एक देव था तो वह कहीं से भी पत्थर ला सकता था। परन्तु वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में तो यह किसी पर्वतीय क्षेत्र अथवा उसके आस-पास के क्षेत्र में ही संभव था।

चैत्य वृक्ष

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात भगवान् के समवसरण की रचना होती है। भ. पार्श्वनाथ की चैत्य वृक्ष अथवा अशोक वृक्ष के नीचे दिव्यध्वनि खिरी थी। यह चैत्य वृक्ष वास्तव में 'धव' वृक्ष था ऐसा वर्णन कुछ जगह मिलता है। जबकि कुछ इतिहासकार 'देवदारु' को भ पार्श्वनाथ का ही चैत्य वृक्ष मानते हैं।

धव

धव के कई पर्यायवाची नाम हैं

"धवः पिशचवृक्षश्व, शकटाख्यो धुरंधरः"

धव, पिशाचवृक्ष, शकटाख्य, धुरंधर ये सब धव वृक्ष के पर्यायवाची नाम हैं। वैसे हिन्दी में इसे धौ, धौरा, धों, बंगाली में धाउयागाछ, मराठी में धावज़, धवल,कन्नड़ में दिदंगु भी कहते हैं।

यह वृक्ष म.प्र., राजस्थान, उ.प्र., बिहार, गुजरात एवं दक्षिण भारत में सर्वत्र मिलता है। इसका वृक्ष बड़ा या मध्यम ऊंचाई का होता है। छाल मोटी, चिकनी एवं पत्ते चौड़े होते हैं। फरवरी में गहरे लाल रंग के पत्र गिरते हैं। पुष्प छोटे हरिताभ मुण्डक के रूप में सितम्बर से जनवरी तक आते हैं। फल चिपटे द्विपक्ष, चोंचदार एवं दिसम्बर से मार्च तक पकते हैं। इस वृक्ष की लकड़ी बहुत लचकदार एवं मजबूत होती है। गाड़ी की धूरी

उक्त तथ्यों से प्रतीत होता है कि 'देवदारु' एवं 'धव' दोनों ही वृक्षों का भ. पार्श्वनाथ के जीवन से संबंध रहा हो सकता है क्योंकि हिमालय के तराई वाले एवं निचली श्रेणी के पर्वतीय भागों में 'देवदारु' एवं 'धव' दोनों ही वृक्ष मिलते हैं। पुराणकारों ने भी भगवान् का बिहार अंग, वंग, कलिंग, मगध, काशी, कोशल, अवन्ति, कुरू, पुण्ड, मालवा, पांचाल, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, कच्छ, कश्मीर, शाक, पल्लव, आमीर आदि प्रदेशों में होना बताया है। उक्त प्रान्तों में से कुछ उत्तरी प्रान्तों में 'देवदारु' वृक्ष पैदा होते हैं। 'धव' वृक्ष उक्त लगभग सभी प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं। अतः वनस्पति शास्त्रियों के अनुसार भी हजारों वर्ष पूर्व उत्तरी पर्वतीय भागों में देवदारु के वृक्ष बहुतायत से मिलते थे। सम्मेद शिखर पर्वत की ऊँचाई अधिक होने से वहां भी संभव है कि शायद देवदारु वृक्ष उस काल में वहां भी पैदा होते होंगे।

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से अवलोकन किया जाये तो चौबीसों तीर्थंकरों के चैत्य वृक्षों का पर्यावरणीय महत्व है। यह सभी वृक्ष पारिस्थितिकी (Eco-system) को संतुलित बनाये रखने में सहायक हैं। चूंकि यह सभी प्रकार के पर्यावरणीय शोक (प्रदूषण) को हरने में सहायक होते हैं अतः इन्हें 'अशोक' वृक्ष भी कहा है। "देवदारु" एवं "धव" दोनों ही ऐसे वृक्ष हैं जिनके नीचे की मिट्टी में अनेकों प्रकार के सूक्ष्म जीव क्रियाशील रहते हैं एवं बिना किसी हानिकारक प्रभाव के वातावरण का संतुलन बनाये रखते हैं।

अतः किसी भी घटक का वैज्ञानिक आधार सुनिश्चित करने के लिये उस क्षेत्र एवं काल की प्राकृतिक संरचना एवं वनस्पतियों के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। तभी यह निरुपित किया जा सकता है कि अमुक महापुरुष उस क्षेत्र एवं काल में हुये थे। भगवान् श्री पार्श्वनाथ के संदर्भ में भी उक्त तथ्य सत्यता लिये हुये ही प्रतीत होते हैं कि उनका विहार, उपसर्ग एवं समवसरण की घटनायें उक्त वृक्षों के अनुसार निश्चित रूप से हुई थी।

उक्त तथ्यों से प्रतीत होता है कि 'देवदारु' एवं 'धव' दोनों ही वृक्षों का भ. पार्श्वनाथ के जीवन से संबंध रहा हो सकता है क्योंकि हिमालय के तराई वाले एवं निचली श्रेणी के पर्वतीय भागों में 'देवदारु' एवं 'धव' दोनों ही वृक्ष मिलते हैं। पुराणकारों ने भी भगवान् का बिहार अंग, वंग, कलिंग, मगध, काशी, कोशल, अवन्ति, कुरू, पुण्ड, मालवा, पांचाल, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, कच्छ, कश्मीर, शाक, पल्लव, आमीर आदि प्रदेशों में होना बताया है। उक्त प्रान्तों में से कुछ उत्तरी प्रान्तों में 'देवदारु' वृक्ष पैदा होते हैं। 'धव' वृक्ष उक्त लगभग सभी प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं। अत: वनस्पति शास्त्रियों के अनुसार भी हजारों वर्ष पूर्व उत्तरी पर्वतीय भागों में देवदारु के वृक्ष बहुतायत से मिलते थे। सम्मेद शिखर पर्वत की ऊँचाई अधिक होने से वहां भी संभव है कि शायद देवदारु वृक्ष उस काल में वहां भी पैदा होते होंगे।

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से अवलोकन किया जाये तो चौबीसों तीर्थंकरों के चैत्य वृक्षों का पर्यावरणीय महत्व है। यह सभी वृक्ष पारिस्थितिकी (Eco-system) को संतुलित बनाये रखने में सहायक हैं। चूंकि यह सभी प्रकार के पर्यावरणीय शोक (प्रदूषण) को हरने में सहायक होते हैं अत: इन्हें 'अशोक' वृक्ष भी कहा है। "देवदारु" एवं "धव" दोनों ही ऐसे वृक्ष हैं जिनके नीचे की मिट्टी में अनेकों प्रकार के सूक्ष्म जीव क्रियाशील रहते हैं एवं बिना किसी हानिकारक प्रभाव के वातावरण का संतुलन बनाये रखते हैं।

अत: किसी भी घटक का वैज्ञानिक आधार सुनिश्चित करने के लिये उस क्षेत्र एवं काल की प्राकृतिक संरचना एवं वनस्पतियों के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। तभी यह निरूपित किया जा सकता है कि अमुक महापुरुष उस क्षेत्र एवं काल में हुये थे। भगवान् श्री पार्श्वनाथ के संदर्भ में भी उक्त तथ्य सत्यता लिये हुये ही प्रतीत होते हैं कि उनका विहार, उपसर्ग एवं समवसरण की घटनायें उक्त वृक्षों के अनुसार निश्चित रूप से हुई थी।

प्रभु पार्श्व की कतिपय कलापूर्ण ऐतिहासिक प्रतिमायें

*– श्री कुन्दन लाल जैन**

एक युग था जब जैन धर्म बौद्ध धर्म ही कहलाता था क्योंकि दोनों ही धर्मों में बहुत सी समानताएं थीं। पर बारीक विविधताओं और विषमताओं की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया। पर यूरोपीय विद्वानों की शोधों और खोजों एवं उत्खनन प्रक्रियाओं के द्वारा एवं भारतीय मूर्धन्य विद्वानों के गहन अध्ययन और गंभीर अध्ययनों एवं विश्लेषणों द्वारा दोनों की विभिन्नताओं का गंभीर आलोडन आलोचन स्व प्रत्यालोचन जब हुआ तो जैन और बौद्ध धर्म की विभिन्नता का स्पष्ट रेखांकन हुआ। कुछ समय तक तो जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा मात्र मानते थे अभी भी कुछ अल्पशिक्षित जन बौद्ध और जैन धर्म की स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं समझ पाये हैं। इसका मूल कारण हम जैन धर्म के अनुयायी जन अपने साहित्य के प्रकाशन और प्रसारण में बड़े पीछे रहे। कुछ रूढ़िवादियों की अज्ञता और अविवेक से जैन धर्म का विकास सही रूप से न करके पुराने गजरथ, पूजा, प्रतिष्ठादि विधि धर्म काण्डीय विधानों की रूढ़िबद्धता में द्रव्य का प्रदर्शन कर पुण्य और स्वर्गादि वैभव को जुटाने में लग रहे। बौद्ध विद्वानों ने यूरोपीय विद्वानों की भांति अपने साहित्य की शोध खोज की और उसका प्रकाशन कर देश विदेशों में डटकर प्रसार किया। बौद्ध धर्म भारत से तो अपनी जड़ें खोखली कर ही चुका था पर चीन, लंका, तिब्बत, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि छोटे बड़े देशों में वर्चस्व जमा चुका था। एशियाटिक बौद्धस्तर सोसायटियों का जन्म बौद्ध धर्म के विकास का प्रकृष्ट साधन बनी। जैनों की हीन भावना ने अपने साहित्य को दूसरों को स्थापित भी

** दिल्ली*

न करने दिया, अध्ययन, शोध खोज, प्रकाशन प्रसारण से हम कोसों दूर रहे। आज भी जब हम २१वी सदी के कगार पर पहुंच रहे हैं पर कोई ऐसी संस्था दिखाई नहीं देती है जो जैन प्राचीन ग्रंथों के विश्लेषण और शोध को, खोज को प्रकाशन के लिए तैयार हो। मैंने दिल्ली के जैन भण्डारों में स्थित प्राचीन पाण्डुलिपियों की संदर्भ-सूची तैयार की और अपना समस्त स्वास्थ्य और आखों की ज्योति भी इसीसे मद्धिम कर ली है, पर कोई इसकी उपयोगिता को नहीं जांच पा रहा है। जब की पूजा प्रतिष्ठा,पंच कल्याणक आदि विधि विधानों की प्रतिस्पर्धा में जैनियों का पैसा बहुलता से खर्च हो रहा है। जिन वाणी स्वरूप प्राचीन साहित्य की लोगों को जानकारी तक ही नहीं है प्रकाशन की बात तो बहुत दूर रही। यहां पार्श्व प्रभु की कुछ कला पूर्ण ऐतिहासिक प्रतिमाओं का संग्रह प्रस्तुत कर रहे हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ, जो "पुरुसदानिय" की उपाधि से विख्यात रहे, २४ तीर्थंकरों में इनका जन्म ई.सं. ८७७ में वाराणसी के राजा पिता अश्वसेन तथा माता वामा देवी के घर हुआ था। वे प्रारम्भ से ही प्रखर बुद्धि और वैराग्यशील भावनाओं से ओत प्रोत थे। पुराणों में उनके पूर्व भवों का वर्णन करते लिखा है कि उनका और कमठ के जीव का भव भवान्तरों का वैर चला करता था और उसके द्वारा प्रदत्त दुखों का सहनशीलता पूर्वक भोगते आ रहे जब प्रभु का जीव पार्श्वनाथ और उनके विरोधी कमठ बने तो कमठ द्वारा यज्ञ में लक्कड़ को जलाते समय मना किया क्योंकि उसपमें नाग नागिन बैठे थे। प्रभु ने जब उस लकक्ड़ को फाड़ कर दिखाया तो दोनों जल चुके थे, मरणासन्न दोनों को प्रभु ने णमोकार मंत्र सुनाया जिस के प्रभाव से वे धरणेन्द्र और पद्मावती बनकर प्रभु के संरक्षक बने और उनको घोर उपसर्ग से बचाया। इस पौराणिक गाथा को साहित्यकारों एवं कलाकारों ने प्रस्तर धातु रत्नादि में फणावली का रूप दे दिया। यही फणावली ही पार्श्व प्रभु का लांछन (चिन्ह) बन गया जिससे कालान्तर में भ. पार्श्वनाथ की पहिचान फणावली से ही होने लगी। पूर्व प्राचीन काल में कहीं कहीं ध्वनि सामान्य के कारण सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की प्रतिमा पर भी फणावली अंकित हुई मिली है जिसे हम साधारण सी भूल समझते हैं।

बुद्ध की प्रतिमा पर भी फणावली बनती थी ऐसे चित्र हैं। लोगों की विज्ञता क्रमशः बढ़ने पर सुपार्श्वनाथ से फणावली गायब होने लगी।

जैन धर्म केवल उत्तर प्रदेश में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत में अत्यधिक प्रतिष्ठापूर्ण श्रेष्ठ धर्म माना जाता है। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक सूत्र ढूंढने के लिए जैन और बौद्ध साहित्य के साथ साथ चीनी साहित्य भी बड़ा सहायक सिद्ध होता है। यहाँ हम उत्तर प्रदेश तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रों से प्राप्त कुछ पार्श्व प्रभु की प्रतिमाओं का उल्लेख कर रहे हैं जो लकड़ी, पाषाण, धातु, रत्न आदि की निर्मित हैं। इनमें से बहुत सी लेख रहित, कुछ लेख सहित, कुछ पद्मासन, कुछ कायोत्सर्ग मुद्राओं में, कुछ सर्वतोभद्र तथा मानस्तम्भों में, विराजित प्राप्त हुई हैं। मथुरा के कंकाली टीले पर हुई खुदाई में जो बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई है, उससे जैन धर्म की प्राचीन ऐतिहासिकता का पता लगता है। ईसा के सदियों पूर्व निर्मित आयाग पट्ट, स्तूपों, प्रतिमाओं पर ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्णित महत्वपूर्ण सामग्री मिली है। जैन धर्म के माथुर संघ की प्रतिस्थापना यहीं से हुई। मथुरा भारत की प्राचीनतम नगरियों में से एक है। यह सरस्वती और लक्ष्मी (व्यापार) का बड़ा भारी समृद्ध नगर था। यहां शुंग, कुशाण, गुप्त कालीन संस्कृति का स्वर्ण स्थल था।

(१) सबसे प्राचीनतम पार्श्वप्रभु की प्रतिमा यहीं से मिली आयाग पट्ट यहां के पुरातत्व की पहली कड़ी है। और स्तूप भी यहां के बहुत महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं तथा सर्वतो भद्र प्रतिमाएं भी यहीं से प्राप्त होने लगीं थीं। आयागपट्ट (आर्यकपट्ट) चौराहों पर या मंदिर के भीतर पूजा के लिए चौकोर प्रस्तर पट्टों पर तीर्थंकर प्रतिमाएं उत्कीर्णित की जाती थीं। इन आयाग पट्टों पर तीर्थंकर प्रतिमा के साथ साथ कलापूर्ण ढंग से अष्टमंगल द्रव्य लता, पुष्प पत्रादि उत्कीर्णित किए जाते थे। ऐसे आयाग कौशाम्बी से भी प्राप्त हुए हैं। लखनऊ म्यूजियम में कंकाली टीले का एक ही आयाग पट्ट प्राप्त है जिसमें उल्लिखित पंक्तियां प्राचीनतम आयागपट्ट की निशानी हैं।

इस आयागपट्ट पर सप्तफणों वाली पार्श्वप्रभु की प्रतिमा अंकित है जो सबसे प्राचीनतम है, इसमें पार्श्वप्रभु के दांए बांए एक एक दिगम्बर मुनि नमस्कार मुद्रा में खड़े हैं, पट्ट के चारों ओर कमल तथा अंगूर की बेलियां (वल्लरियों) समलंकृत हैं। इसे ईहामृगों एवं श्री वत्सों से सजाया गया है। सप्त फणावली का छत्र लगा है तथा फणों के ऊपर एक स्तम्भ पर लगी पताका लहरा रही है।

(२) मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त एक चौकी पर प्रभु पार्श्व की नामांकित चौकोर प्रस्तर पट्टिका प्राप्त है। किसी कारण से प्रभु की प्रतिमा तो नष्ट हो गई है पर पट्टिका पर निम्न लेख पार्श्व प्रतिमा की उपस्थिति का संकेत देती है यथा :

"स्थानिकिये कुले गतिस्य उग्गहिनियशियो वाचको घोषको अर्हतो पार्श्वस्य प्रतिमा"। यद्यपि इसमें संवत्सरादि काल का उल्लेख न होने से उपर्युक्त आयाग पट्ट से भी प्राचीन प्रतीत होती है। संभवतः कुषाणकाल से भी प्राचीन है।

(३) लखनऊ म्यूजियम में ४४ ग ६५ से.मी. आकार की भूरे रंग के वलुआ पत्थर पर पार्श्व प्रभु का सिर विद्यमान है। सिर्फ फणावली से ही यह पार्श्व प्रतिमा ज्ञात होती है यह हुविष्क व वासुदेव के शासनकाल की निर्मित प्रतीत होती है।

यहां पार्श्व प्रभु के तीन सिर और हैं जो फणावली युक्त हैं। साथ ही कलापूर्ण अष्ट मांगलिक द्रव्य अंकित हैं। इनमें चक्र, नन्दीपाद, त्रिरत्न पुष्पगुच्छक, घट, श्रीवत्स, मीन युगल स्वस्तिक आदि सुन्दर ढंग से उकेरे गए हैं।

(४) हुविष्क सं. ५८ की एक पार्श्व प्रतिमा कंकाली टीले से प्राप्त है। पहले यह शीर्ष विहीन थी बाद में सिर तोड़ कर जोड़ दिया हैं। चरण चौकी पर अंकित है "हुविष्क संवत्सरे अष्टापन-----" यह संवत्सर अंकों में न होकर शब्दों में लिखित है। सर्पफण के भीतर हवा में उड़ता हुआ

देव बड़े कलापूर्ण ढंग से अंकित है तथा पीछे अशोक वृक्ष का अंकन कलात्मक है।

(५) कलिङ्ग जिन (पार्श्वनाथ) - इनका कोई साहित्यिक प्रमाण तो नहीं है पर पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर इसे पार्श्वनाथ की प्रतिमा सिद्ध करते हैं। खण्डगिरि उदयगिरि की गुफाओं के पास एक अनन्त नाम की गुहा खण्ड है जिससे दरवाजे के खम्भों पर तीन फण वाले सर्पयुगल अंकित है जिससे सिद्ध होता है कि कलिङ्ग में पार्श्वनाथ की पूजा होती थी। मगध का राजा नन्दराज आक्रमण के साथ साथ कलिङ्ग जिन को भी साथ ले गया था। जब सम्राट खारवेल ने नन्दराज से कलिंग जिन वापस लेने के लिए युद्ध किया तो तत्कालीन राजाओं को परास्तकर बहुमूल्य रत्न, मणियां, सोना आदि पुष्कल द्रव्य साथ लाया था और केतुमद्र निर्मित नीम के लक्कड निर्मित प्रतिमा का जुलूस निकलवाया था। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र ने त्रिषष्ठि शलाका चरित के ९वें पर्व के तीसरे सर्ग के ११ छन्द में कौशल देश का राजा प्रसेनजित नरवर्मन का पुत्र था। उसकी पुत्री प्रभावती अत्याधिक सुन्दर थी। वह पार्श्वप्रभु के गुण सुन कर उनके प्रति अनुरक्त हो गई और कौशलाधीश प्रसेनजित प्रभावती का पार्श्वनाथ के साथ विवाह के लिए तैयार हो गए। पर आस पास के राजाओं को यह स्वीकृत नहीं हुआ और कौशल पर आक्रमण कर दिया। तब प्रसेनजित ने पार्श्वप्रभु से सहायता मांगी तो उन्होंने विरोधियों को मार भगाया तथा प्रभावती से शादी करली। पर दिगम्बर आम्नाय में पार्श्वनाथ ब्रह्मचारी रहे। उन दिनों कलिंग के अधिपति यवन थे। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि सर्प पार्श्वनाथ का चिन्ह था अत: अनन्त गुम्फा और रानीगुम्फा के दरवाजों पर सर्प और यवन सैनिकों का उत्कीर्णित होना स्पष्ट द्योतित करता है कि कलिंग जिन पार्श्वनाथ ही थे। कोई जिज्ञासु अनुसंधित्सु विद्वान कलिंग जिन पर शोध करता है तो इतिहास की श्रृंखला में बहुमूल्य योगदान होगा। डॉ. शाह की निम्न पंक्तियां अन्वेषकों को अत्यावश्यक है।

"Each door way of Anant Gumpha is adorned with a pair of three hooded snakes on its arches. This is interesting because of the possible association of Parsvanath with Kalinga. Mr. Marsall says this cave belongs to a date not much earlier than the first century B.C. - **Sh. V.P. Shah**

(६) मथुरा (कंकाली टीले) के स्तूप सर्व प्रसिद्ध तो हैं पर बहुत प्राचीन भी हैं। बौद्धों का दावा है स्तूप निर्माण कला उन्होंने प्रारम्भ की पर मथुरा के देवनिर्मित स्तूप तो लगभग ८०० वर्ष ईसा पूर्व के निर्मित हैं। देवनिर्मित इसीलिए कहा जाता है कि ये हीरे, मोती, पन्नों आदि रत्न राशि से खचित थे। इसका कई बार जीर्णोद्धार और पुनर्निर्माण किया अलीगढ़ के टोडर साहू नें यहां ५१७ जिनस्तूपों का निर्माण कराया था। इस स्तूप के दांई ओर दो तीर्थंकर पृथ्वी पर बैठे हैं तथा बांई ओर भी दो तीर्थंकर बैठे हैं। बांयी ओर के अंतिम तीर्थंकर के पूर्व सप्तफणावली वाले पार्श्वप्रभु विराजमान हैं। इस पर ९९ का वर्ष अंकित है जो वासुदेव के राज्यकाल की ओर इंगित करता है।

(७) उदयगिरि (विदिशा) में गुप्त सं. १०६ (४२५-२६ ए.डी.) में कुमार गुप्त प्रथम के समय की पार्श्वप्रभु की विशाल प्रतिमा है। पास ही एक खण्डित पार्श्व की प्रतिमा भी है।

(८) ग्यारसपुर (विदिशा) जो माला देवी मंदिर से विख्यात है वहां की एक अतिसुन्दर पार्श्वप्रभु की प्रतिमा है। यह प्रतिमा अलवर्ट म्यूजियम लन्दन में है, यह मूर्ति धातकी वृक्ष के नीचे पद्मासन मुद्रा में विराजमान है जिस पर मेघकुमार को तूफानी उपसर्ग करते हुए दिखाया गया है। नागों के राजा सर्प की फणावली उनके सिर पर सुरक्षा हेतु उत्कीर्णित है। तथा सर्पिणी (पद्मावती) फणावली की सुरक्षा हेतु बड़ा विशाल छत्र लिए हुए अंकित है। प्रतिमा के अगल बगल पुष्पमाला लिए विद्याधर आकाश में उड़ते हुए अंकित हैं। सब से ऊपर ढोल बजाता हुआ हाथ दिखाई देता है नीचे दो द्वारपाल धर्मचक्र लिए हुए अंकित हैं। इस प्रतिमा का निर्माण काल सातवीं सदी के आसपास ही लगता है।

(९) पार्श्वप्रभु की सर्वतोभद्र (चतुर्मुखी) प्रतिमा विदिशा म्यूजियम में विद्यमान है जो नाग की कुण्डली पर ध्यान मुद्रा में विराजमान सप्तफणों वाली है। इसके नीचे दोनो ओर दो चंवर धारिणी की प्रतिमा के साथ साथ दो सिंह उत्कीर्णित हैं और बीच में धर्मचक्र बना है। फणावली के दोनों ओर पुष्पमाला लिए हवा में उड़ते हुए विद्याधर दिखाए गए हैं जो देवदुन्दुभि बजा रहे हैं। सुन्दरता के लिए छत्रधारी भी दिखाए गए हैं। यह भी सातवीं सदी की लगती है।

(१०) कारीतलाई (जबलपुर) की पार्श्वप्रभु की सर्वतोभद्रिका प्राप्त है जो महन्त घासीदास की स्मृति स्वरूप म्यूजियम में अवस्थित है। जो ध्यान मुद्रा में सप्त फणों से अलंकृत है, चौकी पर बीच में धर्मचक्र अंकित है। उसके दोनो ओर विपरीत मुद्रा में दो सिंह अंकित हैं तथा दोनों ओर दो चंवरधारिणियां अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से सुसज्जित है। वहीं पर सुन्दर गलीचा भी उकेरा गया है तथा चारों ओर बोर्डर पर नक्काशी की गई है। इसका एक भाग आसन से विकीर्ण हो गया है। सिर के ऊपर दो मालाधारी विद्याधर अंकित हैं। प्रतिमा नासाग्र दृष्टि में तथा बाल घुंघराली दशा में पीछे की तरफ मुड़े हैं। बैठने की मुद्रा तथा हाथ शरीर के साथ त्रिभुज सा बनाए हुए हैं। इसका रचनाकाल छठीं या सातवी सदी के आसपास का लगता है।

(११) नचनाकुठार (पन्ना) से प्राप्त सप्तफणी पार्श्वप्रभु ध्यान मुद्रा में सांप की कुण्डलियों पर विराजमान है जिस के आस पास इन्द्र और उपेन्द्र त्रिभंगी मुद्रा में अंकित है जिनके हाथों में चंवर भी है। प्रतिमा समचतुरस्थ मुद्रा में, नासाग्र दृष्टि धारण किए है। चेहरे से आध्यात्मिक आनन्द का भाव टपक सा रहा है। गुप्त कालीन कला आदर्श चेहरे पर झलक रही है। सतना जिले के रामवन स्थित तुलसी आश्रम संग्रहालय में यह श्रेष्ठ पार्श्वप्रभु प्रतिमा अभी विद्यमान है।

(१२) नचना कुठार(पन्ना) के पास ही एक शीर्ष पहाड़ी पर पार्श्व प्रभु कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित हैं जो चारों ओर से बड़े भारी सर्प की

कुण्डलियों से लिपटे हैं और ऊपर सप्त फण अंकित है। यह बिना किसी सहारे की खडी है। यह गुप्तकालीन प्रतिमा सातवी सदी के लगभग की प्रतीत होती है।

(१३) मध्य प्रदेश की एक अतिविस्मयकारी पार्श्व प्रभु की कायोत्सर्ग प्रतिमा कलकत्ता संग्रहालय में (नं० ए २५४१) विद्यमान है जिसपर कमठ उपसर्ग की पूर्ण जीवन्त गाथा उकेरी गई है, जिसमें सिंह, हाथी, बिच्छू, सर्प और भूतों बेतालों तथा अन्य दुष्टात्माओं को उपसर्ग और उपद्रव मचाते हुए कलापूर्ण ढंग से उकेरा गया हैं और प्रतिमा वटवृक्ष से अलंकृत है। इसके पीछे एक विशाल सर्प (धरणेन्द्र) प्रभु की रक्षा करते हुए पीछे से चलता हुआ, सप्त फणों को बड़ी ही कुशलता और कलाकारी ढंग से उकेरा गया है। पार्श्व प्रभु की दायीं ओर यक्षणि पद्मावती धरणेन्द्र के सहायक रूप में हाथ में क्षत्र धारण किए हुए सर्प के फणों पर खड़ी हुई उकेरी गई है। यह प्रतिमा छठी शताब्दी की अनुपम प्रतिमा है।

(१४) कहायूं (देवरिया) - गुप्त काल की पार्श्व प्रभु की प्रतिमाएं बहुत ही कम मिलती हैं। सन १८६१-६२ में भारतीय पुरातत्व के प्रथम पुरोधा श्री कनिंघम ने यहां जांच पड़ताल करवाई और एक लेख में वहां के शैल स्तम्भ की चर्चा की जिसपर निम्न शब्दावली अंकित है ..... मद्र ने आदिकजेनऋषभ, शान्ति, नेमि महावीर व पार्श्व" जिससे ज्ञात होता है यहां इस शैल पर आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ और महावीर की कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित है तथा पार्श्व प्रभु की प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में उत्कीर्णित है। ऐसा पांच मूर्तियों वाला स्तम्भ बड़ा ही अनूठा और विस्मयकारी है। तथा गुप्त काल की महत्वपूर्ण कृति है।

(१५) बलदेव (मथुरा) से प्राप्त पार्श्व प्रभु की चार बैठी प्रतिमाऐं मथुरा संग्रहालय में विद्यमान हैं। पहली प्रतिमा सप्त फणों के नीचे चौकी पर विराजमान है जिनका सिंहासन सिंहो द्वारा उठाया हुआ है। दूसरी

प्रतिमा की चौकी पर मध्य भाग में धर्मचक्र अंकित है। पार्श्व प्रभु सप्तफणों के नीचे ध्यानस्थ मुद्रा में विराजमान है। यह नंदी आनंदी बलदेव से लाई गई थी | यह प्रतिमा गुप्तकाल के पूर्वी मध्यकाल की है। तीसरी प्रतिमा गुप्तों के मध्यकाल की है। इसमें एक मालाधारी विद्याधर सुरक्षित बचा हुआ दिखाई देता है। इस प्रतिमा को कोसी कला (मथुरा) में लाया गया था। इनके अतिरिक्त एक पद्मस्थ पार्श्वप्रभु की प्रतिमा कगरूल (आगरा) से लाकर मथुरा संग्रहालय में सुसंग्रहीत है।

(१६) त्रितीर्थी पार्श्वप्रभु (सप्तफणी) - वाराणसी से प्राप्त लखनऊ संग्रहालय में एक अत्यधिक मोहक प्रतिमा सर्पफणी पार्श्व प्रभु की विराजमान है। बीच में एक फण त्रुटित है, यह सुरमाई रंग के पत्थर की त्रितीर्थी है चौकी के अगल बगल में एक-एक सिंह उत्कीर्णित है तथा मध्य में धर्मचक्र अंकित है, बायीं ओर वंदन मुद्रा में एक उपासिका बैठी है तथा दायीं ओर एक सर्पफण वेष्टित दो भुजा पद्मावती भी उत्कीर्णित है। इसके विपरीत दिशा में सर्पमण्डित धरणेन्द्र खड़े हैं। मूल प्रतिमा के दायीं बायीं ओर एक एक तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में बैठे हैं तथा सजावट के लिए सुन्दर कमल का अंकन है। सर्प को पैरों के पीछे से पृष्ठ भाग से चलकर सिर पर फणावली उत्कीर्णित है। दोनों ओर मालाधारी विद्याधर अंकित हैं, फणावली पर त्रिछत्र अंकित हैं, उसके ऊपर देव दुंदुभि वादक बैठा है।

(१७) मध्ययुगीन सर्वतोभद्र पार्श्व प्रभु - मथुरा संग्रहालय में पद्मासन मुद्रा में सप्तफणी पार्श्व प्रभु की प्रतिमा अंकित है। लखनऊ संग्रहालय में भी ऐसी तीन मूर्तियां हैं जो शौरीपुर वटेश्वर तथा आगरा से लाकर रखी गई है। एक और अति मनोहर भूरे पत्थर की पार्श्व प्रभु की प्रतिमा नवीं सदी की एटा जनपद के सरायअथत ग्राम से प्राप्त है। दूसरी प्रभु पार्श्व दुहरे कमल की गद्दी पर कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित है और नीचे चारों ओर चौमुखी के दो दो ग्रह सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि व राहु आदि अंकित हैं। तीसरी फैजाबाद से आई है। १०वीं

सदी के लगभग की लगती है इसके घुटने तथा फण टूटे हैं परन्तु चौमुखी से ऊपर कमल दल अतिकलापूर्ण ढंग से सुन्दर पूर्वक सजा हुआ सुरक्षित है।

(१८)मानस्तम्भ पर पार्श्वप्रभु – भूरे रंग के मानस्तम्भ पर पार्श्वप्रभु की प्रतिमा के साथ-साथ अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं अंकित हैं, इनमें से चार ऊपर कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा चार नीचे पद्मासन मुद्रा में बैठी हैं। दो खम्भों द्वारा निर्मित लघु मंदिर में प्रभुपार्श्व की प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में विराजमान है। यह मानस्तंभ इलाहाबाद से लखनऊ म्यूजियम में लाया गया था। इनके सिर पर सप्त फणों की छायात्मक फणावली है तथा नीचे चौकी पर सर्प की पूंछ सुस्पष्ट दिखाई देती है।

(१९)प्रभुपार्श्व का आवक्ष – श्रावस्ती से लाया यह आवक्ष मात्र भूरे रंग के सफेद पत्थर की कायोत्सर्ग प्रतिमा है। यह सप्त फणों की छत्रछाया में विद्यमान है। लगता है इस प्रतिमा को तोड़ दिया गया होगा इससे आवक्ष मात्र ही अवशिष्ट रहा, इसका पत्थर बहुत घिस गया है।

(२०)पंचतीर्थी प्रभुपार्श्व – लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है इसका आकार ५७ ग ४४ सें.मी. है यह भूरे रंग के रेतीले पत्थर से निर्मित है। सिंहासन के दायें बायें एक-एक सिंह तथा मध्य में धर्मचक्र अंकित है। प्रतिमा पद्मासन में पूर्णतया अलंकृत आसन ध्यानस्थ मुद्रा में विराजमान है, सिर पर सप्त फणावली छायात्मक दशा में अंकित है। सर्प की कुण्डलियां दोनों ओर सुस्पष्ट दिखती हैं। घुटनों के पास दोनों ओर एक-एक चंवरधारिणी बनी है तथा दोनों तीर्थंकर अंकित हैं। ऊपर विद्याधर युगल है जो बहुत अधिक घिस गए हैं। इस पर कोई लेख नहीं है। अनुमान है यह १०वीं सदी में निर्मित हो श्रावस्ती से लाई गई थी।

(२१)वृहत्काय पद्मासनस्थ पार्श्व प्रभु (श्वेताम्बर) – कंकाली टीले से प्राप्त यह वृहत्काय प्रतिमा लखनऊ म्यूजियम में है। यह गहरे काले पत्थर की है जो अति रोचक और मनोहर है। आकृति १७० ग १३३ ग ७० से.मी. है। ध्यानस्थ मुद्रा में दोनों ओर सर्पकुण्डली स्पष्ट दिखाई देती

है। आसन पांच फूलों से सजाया गया है। इसमें से तीन फूल तो सर्प पुच्छ की तरह उकेरे गये हैं बाकी दो फूल दायें बायें आधे-आधे हैं। सिर पर घुंघराले बाल तथा उष्णीष बनी है, गर्दन पर रेखाएं हैं, वक्षस्थल पर गोल चक्र जैसा श्रीवत्स उकेरा गया है, दोनों बगलों से सर्प की कुण्डली निकलती सी दिखाई गई है। प्रतिमा का अंकन अति मनोज्ञ एवं लावण्य पूर्ण है। इस पर अंकित लेख से इसे देव निर्मित कहा जाता है। मूल लेख इस प्रकार है "संवत १०३६ कार्तिक शुक्ल एकादस्मां श्रीश्वेताम्बर मूल संघेत पंचिमतुम्पी, कायां श्री देव निर्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता" ईस्वी सन ९७९ को कार्तिक सुदी एकादशी को श्वेताम्बर मूल संघ ने इस देव निर्मित प्रभु को स्थापित किया था।

यह ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर आम्नाय के प्राचीन ग्रथों में कमठ का उपसर्ग धरणेन्द्र, पद्मावती तथा फणावली सहित छत्रादि की कोई चर्चा नहीं है। यह तो बहुत काल बाद मध्य युग में प्रचलित हुई है। सर्प का पार्श्व से कोई संयोग नहीं हैं।

(२२)महोबा के पार्श्व प्रभु - यह प्रतिमा लखनऊ संग्रहालय में विराजमान है। यह अति भूरे पत्थर की रोचक और अत्यधिक रम्य जीवन्त प्रतिमा है। इसका आकार ४३ ग २५ से.मी. है - ये सिंहासन पर ध्यानस्थ है बांई ओर शासन देवी पद्मावती उकेरी गई है जिसपर तीन छत्र फणात्मक हैं और दाईं ओर चंवरधारी धरणेन्द्र खड़े हैं। उन पर भी तीन फणों वाला छत्र बना है, बीच में सप्त फणावली से युक्त पार्श्व प्रभु विराजमान हैं। सप्तफणावली के ऊपर त्रिछत्र उकेरे गये हैं जिसपर देव दुंदुभि वादक अपनी दुंदुभि बजा रहे हैं। मूर्ति के दाएं बाएं और हवा में उड़ते हुए मालाधारी विद्याधर उकेरे गए हैं, चौकी की बायीं तरफ पिच्छी लिए मुनि तथा दायीं ओर उपासक युगल उत्कीर्णित हैं। यह प्रतिमा ११-१२वीं सदी की चंदेल शासन कालीन लगती है यह महोबा से लखनऊ म्यूजियम लाई गई थी, निश्चित यह अति विशिष्ट प्रतिमा कलाकारी से परिपूर्ण अत्यधिक रोचक और दृष्टव्य है। महोबा

महोत्सवनगर के नाम से प्रसिद्ध एक समृद्ध और सम्पन्न व्यापारिक स्थल था।

(२३)बिना फणावली के पार्श्व प्रभु - यह बड़ी अद्‌भुत प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित है। इसकी महत्ता इससे ज्ञात होती है कि इस पर फणावली नहीं है, नासाग्र दृष्टि है तथा चौकी पर उत्कीर्णित कमल पर खड़े हैं, बायें-दायें ओर उपासक और उपासिका अंकित हैं, तथा दोनों ओर चंवरधारी अंकित हैं। सर्प को पार्श्व के पैरों से पीछे की ओर उकेरा गया है। कुण्डलियाँ दोनों तरफ स्पष्ट दिखाई देती हैं । आश्चर्य है कि फणावली क्यों नहीं बनाई गई? एक और विशेषता है कि हाथ की थोड़ी सी थपकी देते ही यह प्रतिमा झंकृत हो उठती है। इसका आकार ७८.३ ग २७ से.मी. है। लखनऊ म्यूजियम में अवस्थित है। प्रतिमा निर्माता प्रतिमा के लिए बड़े परिश्रम से उन पत्थरों को चुनते जिन पत्थरों में चिकनापन हो, सुगंधित हो, सुस्वर और कठोर हो। दक्षिण के मीनाक्षी मन्दिर के पत्थरों में भी ऐसी ही ध्वनि निकलती है। इस तरह उपर्युक्त दो तीन कारणों से ही यह प्रतिमा महनीय और दृष्टव्य है। यह महोबा हमीरपुर से लाकर लखनऊ म्यूजियम में सुरक्षित रखी गयी है।

(२४)चतुर्भुजी धरणेन्द्र और पद्मावती वाले पार्श्व प्रभु - शौरीपुर वटेश्वर (आगरा)से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में भूरे रंग की प्रतिमा अति विचित्र है। इसका आकार ६४ ग ३३ से.मी. है, चरण चौकी के दोनों ओर दो खम्भों का मंदिर सा बना है जहां सप्त फणों के छत्र के नीचे चौभुजी पद्मावती बैठी है। इसके ऊपर आधा इन्च चौड़ी पट्टी है जिस पर प्रभु पार्श्व की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। इसके फण और मुंह टूटा हुआ है, ऊपर त्रिछत्र के नीचे उपासक और उपासिका तथा चंवर धारी अंकित हैं। आगे बायीं ओर सर्पफणों के नीचे चतुर्भजी धरणेन्द्र और पद्मावती उकेरे गये हैं। इसके ऊपर ईहा मृग अंकित है। दो-दो बार यक्षयक्षियों का निर्माण किस हेतु किया गया है पता नहीं चलता।

(२५)यक्ष-यक्षी विहीन प्रभु पार्श्व - संवत् ११२० की निर्मित श्री पार्श्व प्रभु की प्रतिमा श्रावस्ती वहराइच से लाकर लखनऊ म्यूजियम में सुरक्षित रखी गयी है। भूरे रंग के पत्थर की बैठी हुई सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा है। चौकी के दोनों ओर एक एक सिंह बैठा है बीच में धर्म चक्र अंकित है। दायें बायें उपासक और उपासिकाएं निर्मित हैं आसन के ऊपर एक वस्त्र बिछा है जिसका एक कोना सामने लटक रहा है, इसके ऊपर ध्यानस्थ पार्श्व प्रभु विराजमान हैं। संयोग से यह मूर्ति पूर्णतया सर्वांग सुरक्षित है। पार्श्व के वक्षस्थल पर सकरपारे के आकार का श्री वत्स बाहर को उभरा हुआ है तथा कान बहुत लम्बे उकेरे गये हैं, घुंधराले बालों के ऊपर छोटा उष्णीष उकेरा गया है। जिससे आभास होता है कि कलाकार बौद्धत्व का असर छोड़ना चाहता है। पार्श्व प्रभु के अगल बगल में एक एक चंवरधारी अलंकृत हैं इनके ऊपर हवा में उड़ते हुए विद्याधर उकेरे गए हैं। दोनों के बायीं ओर कछ देवियां उकेरी गई हैं जो बांसुरी और वीणा बजा रही हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर एक एक ऐरावत हाथी भी उकेरे गए हैं। बायीं ओर के हाथी पर बैठा सवार पूर्णतया सुरक्षित बच गया है। दोनों हाथियों और सर्पफण के बीच एक त्रिछत्र तथा आमलक उकेरे गए हैं।

(२६) पद्मावती के सिर पर प्रभु पार्श्व - कलातीर्थ महोबा से प्राप्त लखनऊ म्यूजियम में अवस्थित एक अति मनोज्ञ पद्मावती की प्रतिमा है जिसके चारों ओर कमल पंखुड़ियां उकेरी गई हैं। इसका दाँया घुटना कुछ टूटा सा है, मूर्ति के दोनों ओर एक एक उपासक तथा चंवर धारिणी अलंकृत हैं, देवी का एक पैर कमल पर रखा है। देवी चतुर्भुजी है इसके ऊपर सप्तफणों का छत्र उकेरा गया है। इनमें से केवल दो फण अवशिष्ट हैं बाकी सब त्रुटित हैं। सर्प फणावली के ऊपर ध्यानस्थ प्रभु पार्श्व सुप्रतिष्ठित हैं। इनके दांये बायें चंवरधारी तथा मालाधारी विद्याधर उकेरे गए हैं।

(२७)शिरपुर अंतरिक्ष पार्श्वनाथ - यह स्थान महाराष्ट्र के अकोला जिले में वाशिम ताल्लुका स्थित छोटा सा ग्राम है। अंतरिक्ष पार्श्वनाथ

श्रीपुर के नाम से विख्यात है। यहां रेल और सड़क द्वारा पहुंचा जा सकता है। इसे गंग नरेश श्रीपुरुष (७७९ ई.) ने बसाया था जो यहां अंतरिक्ष में स्थित प्रभु पार्श्व की अतिशयपूर्ण महिमा देख कर प्रभावित हुए थे, इस प्रतिमा के महात्म्य से प्रभावित आचार्य विद्यानन्द जी ने (७७५-८४० ई.) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तवन नामक स्तोत्र की रचना की थी। यद्यपि रचना ३० श्लोक मात्र है पर उससे उनके पाण्डित्य एवं अन्य मत मतान्तरों के अगाध ज्ञान का पता चलता है। वे न्याय के यहां महावाचस्पति थे, राजा एल ने यहां बहुत से जिन बिम्ब बनवाए थे। इस प्रतिमा की विशेषता है कि यह अंक्षरिक्ष में विराजमान है जिसके नीचे से घोड़े पर बैठा सवार अथवा सिर पर घड़े धरे पनिहारिनें निकल जाती थीं। कालदोष से अब इतना भर रह गया है कि इसके नीचे से धागा, रुमाल या कागज़ निकल सकता है। मुनि श्री मदन कीर्ति (१२०५ ई.) ने अपनी "शासन चतुस्त्रिशतिका" में श्रीपुर की वंदना करते हुए निम्न श्लोक लिखा है :

पत्रंयत्र विहायसि प्रविपुलेस्थातुं क्षणं न क्षमं,
तत्राऽऽस्ते गुणरत्न रोहण गिरि यो देव देवो महान्!
चित्रं न ऽऽत्र करोति कस्य मनसो दृष्ट पुरे श्रीपुरे
स श्रीपार्श्व जिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां श्री शासनम्।

इस श्लोक का पद्यानुवाद आचार्य श्री विद्यासागर जी ने निम्न प्रकार किया है:

पत्रटिके न जहां अधर में गुणरानों का गिरिवर हो,
कितना विस्मय किसे नहीं हो चलो देखलो शिरपुर को
देवों के भी देव पार्श्व जिन अंतरिक्ष में शान्त रहे,
युगों युगों तक दिगम्बरों का जिन शासन जयवंत रहे।

(२८) अहिच्छेत्र प्रभु पार्श्व - अहिक्षेत्र बरेली जिले की आंवला तहसील के ग्राम में स्थित है। आजकल इसे रामनगर कहा जाता है। पुराना नाम संख्यावती नगरी था। यहां के मंदिर में हरितपन्ना की प्रभु पार्श्व की

प्रतिमा विराजमान है। इन्हें तिखाल वाले बाबा कहा जाता है। फणावली से युक्त ध्यानस्थ प्रभु के पाद पीठ पर सर्प का लांछन उत्कीर्णित है। यह अतिशय पूर्ण प्रतिमा है। इसमें कोई लेख न होने से काल निर्णय करना कठिन है। यहां ग्रामीण अंचल के लोग इन्हें "तिखाल वाले बाबा" की जय बोलकर अपनी मनौतियां पूर्ण करते हैं।

२९)मसार के प्रभु पार्श्व - सं १८७६ (१८१९ ई.) में मसाढ़ नगर (कासय देश) के जिन मंदिर में अरामनगर (आरा-शाहाबाद) के बाबू शंकरलाल तथा पुत्रों ने पार्श्व प्रभु की प्रतिमा समर्पित की थी। इसमें बड़ा लेख है जिसमें भट्टारकों तथा शंकरलाल के परिवारिक जनों का उल्लेख है। इस समय भ. महेन्द्र भूषध जी विराजमान थे

(३०)पभोसा के प्रभु पार्श्व - स. १८८१ - (१८२४ ई.) में काष्ठा संघ, माथुर गच्छ, पुष्कर गण लोहाचार्य की परम्परा में भ. ललितकीर्ति के उपदेश से प्रयाग नगर वासी गोयल गोत्रिय रामजी मल्ल की परम्परा में श्री हीरालाल पभोसी (कौशम्बी) में पार्श्व प्रभु की प्रतिष्ठा कराई थी।

(३१)तिजारा के प्रभु पार्श्व - अलवर जिले की तहसील तिजारा जो चन्द्र प्रभु की सातिशय प्रतिमा के कारण प्रसिद्ध स्थान बन गया है, वहीं ग्राम में पार्श्वनाथ का प्राचीन मंदिर है। यहां पार्श्वनाथ की सफेद पाषाण की पद्मासन मुद्रा में प्रतिमाएं विराजमान हैं। ये सं. १५०० के बाद की हैं। ताम्रयंत्र तथा रजत यंत्र भी हैं जिनमें भी जैन इतिहास के तथ्य छिपे पड़े हैं इनका पढ़ा जाना जरूरी है।

(३२)कासन : तिजारा जाते हुए मार्ग में गुडगांव जिला का एक छोटा सा ग्राम है। यहां जुलाई १९९७ में एक मकान मालिक सेप्टिक टैंक के गड्ढा खुदवा रहे थे तो ६: फुट की निचाई पर एक बढ़ा घड़ा मिला जिसमें १२ पीतल की तथा एक पाषाण की १३ प्रतिमाएं तथा ताम्र यंत्र प्राप्त हुए। यहां आजकल भक्तों की इतनी भीड़भाड़ है कि कुछ लिख पढ़ पाना बड़ा मुश्किल है। वैसे व्यवस्थापकों ने बताया कि ये सं.

१३०० से १५०० के बाद की हैं ताम्र यंत्र उत्कीर्णित है पर विवरण ज्ञात न हो सका। कला और इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं लगी।

(३३)मालादेवी के प्रभुपार्श्व : विदिशा जिले की ग्यारसपुर तहसील में माला देवी का मंदिर पुरातत्वीय इतिहास में अति महत्वपूर्ण है। यह कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। जब भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्व. राजेन्द्र बाबू लगभग १९५२-५३ में यहां कला एवं स्थापत्य को देखने आये थे तो उस समय की सारी रिपोर्टिंग मैंने बम्बई नवभारत टाइम्स के लिए भेजी थी। यहां पांच फुट ऊंची पाषाण की कायोत्सर्ग मुद्रा में एक पूरी चौबीसी उत्खनन में प्राप्त हुई थी, मूर्ति अतिरम्य और मनोज्ञ है, खजुराहो की शैली में निर्मित है, मूर्ति के सिर पर छत्र है। उसके ऊपर सप्तफणावली उत्कीर्णित है, प्रभु के अगल बगल में पुष्पमाला लिए देवियां खड़ीं हैं तथा चारों ओर २३ छोटी छोटी तीर्थंकरों की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं इसका निर्माण काल दसवी सदी प्रतीत होता है। इसे नवनिर्मित मंदिर में प्रतिष्ठित किया है।

इस तरह कुछ पार्श्व प्रभु की प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। इनके अतिरिक्त भी और बहुत सी पार्श्व प्रतिमाएं होंगी जिनका संकलन के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए। मुनिजनों से विनम्र प्रार्थना है कि ऐसे कार्यों के लिए समाज को प्रेरित करें जिसके लिए एक विशाल ध्रौव्य फंड की स्थापना हो। जिसके द्वारा पांडुलिपियों का केटलाग बने, पुराने मंदिरों में स्थित मूर्तियों का भी केटलाग तैयार कराया जाये, ताम्रयंत्र और रजतयंत्र भी इतिहास के पर्दे उघाड़ने के प्रबल स्त्रोत हैं। हम २१वीं सदी में जाने वाले हैं अतः हमें भी तदपुरुष बनने का प्रयत्न करना चाहिए। नार्थ अमेरिका में जैन एकेडेमिक फाउन्डेशन की स्थापना हो गई है जिसके अन्तर्गत इन्साइकिलोपीडिया आफ जैनिज्म के प्रकाशन की तैयारियां हो रही हैं। एक और संस्था जैनिज्म न्यू एजेज की तैयारी में है। यहां मेरा छोटा सा सुझाव है कि जब मंदिरों पाठशालाओं के अधिकारी मंत्री अध्यक्ष के चुनाव होते हैं तो बड़ा कांटे का संघर्ष होता है और येन केन प्रकारेण अधिकारी चुने जाते

हैं पर शायद ही किसी मंत्री या अध्यक्ष को इतना ज्ञान हो कि इनके मंदिर में कितनी प्रतिमाएं किस काल की हैं, प्रतिष्ठाचार्य कौन थे किस श्रावक ने प्रतिष्ठा कराई, आदि। इसी तरह पांडुलिपियों का हाल है। चुनाव के समय से सब बातें सामने आनी चाहिएं बाकायदे उनका रजिस्टर में उल्लेख हो। या केरल की भांति writer's guild जैसे कोआपरेटिव संस्थाएं बने और विद्वज्जन स्वयं अपने ही बल ऐसा प्रयोग करें।

अंत में उन सभी मनीषी विद्वानों एवं म्युजियम उत्तराधिकारियों का हृदय से कृतज्ञ एवं आभारी हूं जिनके ग्रंथों लेखों आदि से इतनी सामग्री संकलित कर सका हूं तथा चित्रावली ढूंढ सका हूं। अभी कुछ संकलन मेरे पास और भी हैं। इस लेख में चित्रावली के कुछ चित्रों का वर्णन है कुछ का नहीं।

प्राच्यश्रमण भारती द्वारा प्रकाशित एवं प्रचारित पुस्तकें

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारों भाग)
2. त्रिलोयपण्णति (तीनों भाग)
3. डा. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य स्मृति ग्रंथ
4. प्र० आ० शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रंथ
5. आराधना कथा प्रबन्ध
6. महावीर रास
7. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
8. मेरी जीवनगाथा (भाग दो)
9. जैनधर्म
10. जैनशासन
11. प्रमेय कमल मार्तण्ड परिशीलन
12. धर्मफल सिद्धान्त
13. मानवता की धुरी
14. मध्यकालीन जैन सटक नाटक
15. षड्खगंऽम लेखन-कथा
16. मुक्ति पथ की ओर
17. भा० वाङ्मय में पार्श्वनाथ विषयक साहित्य
18. सराक क्षेत्र
19. सराक सर्वेक्षण
20. सराकोत्थान प्रेरणा के स्वर
21. सराक ज्ञानांजलि
22. सराक प्रगति की राह पर
23. स्मारिका : सराक विद्वत्संगोष्ठी दिल्ली
24. स्मारिका : आ. कुन्द कुन्द राष्ट्रीय संगोष्ठी
25. स्मारिका : आचार्य समन्तभद्र संगोष्ठी मेरठ
26. जैन विज्ञान राष्ट्रीय संगोष्ठी सहारनपुर
27. जैन न्याय को आ० अकलंक देव का अवदान
28. पार्श्वनाथ संगोष्ठी
29. क्षुल्लक वर्धमान सागर जीवन परिचय
30. आ० शान्तिसागर (छाणी) जीवन परिचय
31. भव्य कल्याणक
32. खबरों के बीच
33. आशा के सुरः जीवन का संगीत
34. उगता सूरज
35. जिन खोजा तिन पाइयाँ
36. ज्वलत समस्याऐं शीतल समाधान
37. प्रवचन पढो तनाव भगाओ
38. शाकाहार एक जीवन पद्धति
39. शाकाहार एवम् विश्व शान्ति
40. विश्व शान्ति एवम् अहिंसा परीक्षण
41. शाकाहार विजय
42. शाकाहार या मांसाहार : फैसला आप स्वयं करें
43. मादक पदार्थ व धुम्रपान
44. गर्भपात उचित या अनुचित : फैसला आपका
45. धुम्रपान जहर ही जहर
46. Vegetarian Nutrition
47. ज्योति धर्रा
48. समाज निर्माण में महिलाओं का योगदान
49. भगवान राम्
50. नानी नानी कहो कहानी
51. बैठो - बैठो सुनो कहानी
52. सफर की हमसफर
53. जग जा मेरे लाल
54. डुबकी लगाओ मोती पाओ
55. बुराई की विदाई
56. लुडकन रपटन कम्पन का साथी
57. अभिवंदना पुष्प

प्राप्ति स्थान

प्राच्य श्रमण भारती

१२/ए, प्रेमपुरी, निकट जैन मन्दिर, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) – २५१००१

फोन – (०१३१) ४५०२२८, ४०८६०१